प्रयोजनमूलक हिन्दी
और काव्यांग

हिन्दी साहित्य का इतिहास

(आदिकाल, भक्तिकाल, रीतिकाल)

बी.ए.- III

हिन्दी (अनिवार्य)

Directorate of Distance Education
Maharshi Dayanand University, Rohtak

प्रयोजनमूलक हिंदी और काव्यांग

बी.ए. तृतीय वर्ष (हिंदी)

B.A. -III (Hindi)

दूरस्थ शिक्षा निदेशालय

महर्षि दयानन्द विश्वविद्यालय

रोहतक-124 001

Copyright © 2004, Maharshi Dayanand University, ROHTAK
All Rights Reserved. No part of this publication may be reproduced or stored in a retrieval system or transmitted in any form or by any means; electronic, mechanical, photocopying, recording or otherwise, without the written permission of the copyright-holder.

Maharshi Dayanand University
ROHTAK – 124 001

विषय-सूची

प्रयोजनमूलक हिंदी

1. **प्रयोजनमूलक हिंदी** 5
   - (क) प्रयोजनमूलक हिंदी का अभिप्राय
   - (ख) वर्तनीः मानकीकरण
   - (ग) देवनागरीः मानक स्वरूप
2. **कामकाजी हिंदी** 24
   - (क) संक्षेपण
   - (ख) पल्लवन
   - (ग) टिप्पण
3. **पत्रकारिता** 31
   - (क) पत्रकारिता का स्वरूप व भेद
   - (ख) फीचर लेखन
   - (ग) प्रूफ पठन और संशोधन
4. **भाषा कंप्यूटिंग** 42
   - (क) कंप्यूटरः परिचय एवं महत्व
   - (ख) कंप्यूटरः संरचनात्मक स्वरूप
   - (ग) आँकड़ा संसाधन

काव्यांग

1. **रस** 48
   - (क) परिभाषा–स्वरूप
   - (ख) वर्गीकरण

   1. शृंगार रस 2. हास्य रस 3. करुण रस
   4. रौद्र रस 5. वीर रस 6. भयानक रस
   7. वीभत्स रस 8. अद्‌भुत रस 9. शांत

   अन्य दो (नव) रस

   1. वात्सल्य
   2. भक्ति

2. **अलंकार** 79

   वर्गीकरण

   अलंकार परिचय

   1. अनुप्रास 2. श्लेष 3. यमक
   4. वीप्सा 5. पुनरुक्तिप्रकाश 6. उपमा
   7. रूपक 8. उत्प्रेक्षा 9. अतिशयोक्ति
   10. मानवीकरण

बी० ए० तृतीय वर्ष
हिंदी
प्रयोजनमूलक हिंदी और काव्यांग

पूर्णांक : 100
समय : 3 घण्टे

निर्देश:

1. हरियाणवी जनपदीय भाषा और साहित्य पर आधारित पुस्तक से व्याख्या के लिए चार अवतरण पूछे जाएँगे। परीक्षार्थियों को इनमें से दो की सप्रसंग व्याख्या करनी होगी। प्रत्येक व्याख्या 8 अंकों की होगी।
2. हरियाणवी जनपदीय भाषा और साहित्य पर आधारित पाठ्य पुस्तक में से किन्हीं दो रचनाकारों का साहित्यिक परिचय पूछा जाएगा। जिनमें से परीक्षार्थियों को एक का परिचय देना होगा। यह प्रश्न 10 अंकों का होगा।
3. पाठ्य पुस्तक की अनुशीलनी में निर्धारित प्रश्नों में से कोई दो प्रश्न पूछे जाएँगे, जिनमें से परीक्षार्थियों को एक का उत्तर देना होगा। यह प्रश्न 10 अंकों का होगा।
4. प्रयोजनमूलक हिंदी और हिंदी भाषा पर आधारित पाठ्य पुस्तक से चार प्रश्न पूछे जाएँगे, जिनमें से परीक्षार्थियों को दो प्रश्नों के उत्तर देने होंगे। प्रत्येक प्रश्न 10 अंकों का होगा।
5. हिंदी साहित्य का इतिहास (आदिकाल और मध्यकाल) से 4 प्रश्न पूछे जाएँगे जिनमें से परीक्षार्थियों को दो प्रश्नों के उत्तर देने होंगे। प्रत्येक प्रश्न 10 अंकों का होगा।
6. हिंदी साहित्य का इतिहास (आदिकाल–मध्यकाल) और प्रयोजनमूलक पाठ्य पुस्तक दोनों में से 5–5 अति लघूतरी प्रश्न पूछे जाएँगे जिनमें से परीक्षार्थियों को किन्हीं सात प्रश्नों के लगभग 50 शब्दों में उत्तर देने होंगे। प्रत्येक प्रश्न 2 अंकों का होगा और पूरा प्रश्न 14 अंकों का होगा।
7. काव्यांग से दो रसों के और दो अलंकारों के सोदाहरण लक्षण पूछे जाएँगे। परीक्षार्थियों को एक रस और एक अलंकार का लक्षण सोदाहरण लिखना होगा। यह प्रश्न 5 + 5 = 10 अंकों का होगा।

पाठ्य पुस्तक/पाठ्य विषय

1. हरियाणवी लोकधारा–प्रधान संपादक–डॉ० मीरा गौतम, प्रोफेसर, हिंदी विभाग, कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र।
2. प्रयोजनमूलक हिंदी और काव्यांग–डॉ० नरेश मिश्र, प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, हिंदी विभाग, महर्षि दयानंद विश्वविद्यालय; रोहतक।
3. हिंदी साहित्य का इतिहास (आदिकाल एवं मध्यकाल)।

प्रयोजनमूलक हिंदी

(क) प्रयोजनमूलक हिंदी का अभिप्राय

भाषा एक सामाजिक यथार्थ है। इसका विकास मानव के सामाजिक जीवन के विभिन्न प्रयोजनों के सप्रेषण के लिए हुआ है। यह सामान्य संप्रेषण नहीं होता, वरन् दैनिक जीवन के विभिन्न प्रयोजनों को साधने के लिए होता है। सामाजिक जीवन में इन विभिन्न सदर्भों, स्थितियों और कार्य–क्षेत्रों में भाषा का प्रयोग होने से उसके कई रूप उभरने लगते हैं। वस्तुतः भाषा अपने आप में समरूपी होती है, परंतु प्रयोग में आने से वह विषमरूपी बन जाती है। इन्हीं प्रयोगगत भेदों के कारण कई भाषा भेद दिखाई देते हैं। इसका कारण यह है कि मनुष्य का मस्तिष्क इतना सृजनशील होता है कि विभिन्न स्थितियों, संदर्भों और उद्देश्यों के अनुरूप वह भिन्न–भिन्न भाषा–शैलियों का प्रयोग करता है और ये शैलियाँ सामाजिक, सांस्कृतिक और प्रयोजनपरक संदर्भों में नियंत्रित होती हैं।

इसी संदर्भ में भाषा के मुख्य रूप से दो पक्ष हैं– एक का संबंध मानव की सौन्दर्यपरक अनुभूतियों के आलबन से होता है और दूसरा पक्ष भाषा के प्रयोजनपरक आयामों से जुड़ा रहता है। भाषा के सौन्दर्यपरक आयाम में भाषा सर्जनात्मक होती है, जिसका विकास साहित्य की भाषा के रूप में होता है। यह भाषा कविता, उपन्यास, नाटक, कहानी, आलोचना आदि विभिन्न साहित्यिक विधाओं में निखर कर आती है। इसके साथ–साथ यह भाषा देश–विशेष या क्षेत्र–विशेष के सामाजिक, सांस्कृतिक और धार्मिक मूल्यों को अपने भीतर समेटे होती है। भाषा के दूसरे पक्ष का संबंध हमारी सामाजिक आवश्यकताओं और जीवन की उस व्यवस्था से होता है जो व्यक्तिपरक होकर भी समाज–सापेक्ष होता है। यह भाषा का प्रकार्यात्मक आयाम है जिसका प्रयोग किसी प्रयोजन–विशेष या कार्य–विशेष के संदर्भ में होता है। यह भाषा प्रशासन व्यवस्था और तकनीकी क्षेत्रों में आविष्कारोन्मुख होकर देश–विशेष या क्षेत्र–विशेष के आर्थिक विकास में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती है।

प्रकार्य की दृष्टि में प्रयोजनमूलक भाषा तथा साहित्यिक भाषा एक ही है। लेकिन इनके स्वरूप में मूल अंतर यह है कि साहित्यिक भाषा में अर्थ व्यंजनाश्रित और लाक्षणिक होता है तथा प्रयोजनमूलक भाषा अभिधापरक और एकार्थी होती है ताकि कहने वाले या लिखने वाले व्यक्ति की बात का निश्चित और सही आशय समझा जा सके। वस्तुतः प्रयोजनमूलक भाषा में व्यंजनार्थ की कोई गुंजाइश नहीं होती और उसमें यह प्रयास रहता है कि वह स्वतः स्पष्ट और स्वतः पूर्ण हो तथा वक्ता या लेखक का मतव्य निश्चित और सटीक हो। उदाहरण के लिए; 'पानी' शब्द का प्रयोग साहित्य में तीन अर्थों में होता है – चमक, जल और इज्जत।

रहिमन पानी राखिए, बिन पानी सब सून।
पानी गए न उबरे, मोती मानस चून।

प्रयोजनमूलक भाषा में 'पानी' जल या तरल पदार्थ के अर्थ में होता है। प्रयोजनमूलक भाषा सीधी–सपाट भाषा होती है और इसका सामाजिक तथा सांस्कृतिक परंपराओं से कोई विशेष संबंध नहीं होता, लेकिन साहित्यिक भाषा लक्षणापरक होती है और उसका संबंध संस्कृति से पूर्णतया होता है। हिन्दी में कमल, जलज, पंकज जैसे एक ही अर्थ देने वाले शब्द अपने भीतर सामाजिक और सांस्कृतिक संदर्भ समेटे हुए हैं जबकि विज्ञान की भाषा में 'कमल' शब्द वनस्पति के रूप में एक विशेष फूल के अर्थ में होता है और इसका संबंध सामाजिक एवं सांस्कृतिक परंपरा से नहीं होती। इस प्रकार साहित्यिक भाषा का लक्ष्य सौन्दर्यानुभूति अथवा रसास्वादन होता है जबकि प्रयोजनमूलक भाषा का लक्ष्य सेवा–माध्यम होता है जो जीविकोपार्जन का साधन बनता है।

सामान्य भाषा और विशिष्ट भाषा

यह सही है कि भाषा का साहित्यिक और प्रयोजनमूलक रूप सामान्य बोलचाल की भाषा से काफी भिन्न होता है। सामान्य बोलचाल की भाषा में हम रोजमर्रा के जीवन में कई लोगों से बात करते रहते हैं। हमें अलग–अलग लोगों से अलग–अलग ढंग से बात करनी होती है। माता–पिता, भाई–बहन, मित्र, दुकानदार, अध्यापक आदि से बात करते समय भाषा का विभिन्न रूपों में प्रयोग किया जाता है। लेकिन भाषा के ये रूप भिन्न–भिन्न होते हुए भी इनके बोलने और समझने में कोई कठिनाई नहीं होती। यह सामान्य बोलचाल की भाषा है और यह जीवन में सामान्य प्रयोजनों के लिए प्रयुक्त होती है। इसका ज्ञान सामान्य जीवन के परिवेश से ही व्यक्ति प्राप्त कर लेता है और इसके लिए किसी औपचारिक शिक्षा या प्रयास की आवश्यकता नहीं होती।

विशिष्ट प्रयोजनों में विशिष्ट वर्ग द्वारा और विशिष्ट लक्ष्य की प्राप्ति के लिए उपयोग की जाने वाली भाषा विशिष्ट भाषा होती है। इसमें विषय का प्रतिपादन और निर्धारण होता है। इस का ज्ञान विशेष शिक्षा या विशेष अभ्यास से प्राप्त किया जाता है। इस विशिष्ट भाषा में अपने-अपने विषय की शब्दावली और अपनी संरचना होती है, जो इसे विशेष रूप प्रदान करती है। डाक्टरों की विशिष्ट भाषा में डाक्टरी की शब्दावली होती है; इंजीनियरी की भाषा में इंजीनियरी की, कार्यालय की भाषा में कार्यालय की और विज्ञान की अपनी वैज्ञानिक शब्दावली होती है। वास्तव में सामान्य भाषा और विशिष्ट भाषा एक होती है किन्तु शब्दावली और संरचना की दृष्टि से दोनों अलग-अलग हो जाती हैं। सामान्य भाषा की अभिव्यक्ति-शैली लाक्षणिक, व्यंजनापरक या अनेकार्थी या अलंकारपूर्ण भी हो सकती है जबकि विशिष्ट भाषा अभिधा-प्रधान, गंभीर, अलंकार-रहित, सीधी, स्पष्ट और एकार्थी होती है। लेकिन यह बात अवश्य है कि इसमें एक ओर सामान्य बोलचाल की भाषा की रवानी होती है तो दूसरी ओर उसका मानक रूप भी रहता है जो आमतौर पर सामान्य भाषा में नहीं होता। इस मानक रूप में एकरूपता, सुनिश्चितता और शब्द प्रयोग का औचित्य निहित रहता है। विशेष प्रयोजनों वाली ऐसी विशिष्ट भाषा को प्रयोजनमूलक भाषा भी कहा जाता है।

प्रयोजनमूलक भाषाः स्वरूप और क्षेत्र

प्रयोजनमूलक भाषा से अभिप्राय 'प्रयोजन' या 'निष्प्रयोजन' के विपरीतार्थ में नहीं, वरन् वह भाषा के व्यावहारिक पक्ष को उजागर करने के लिए प्रयुक्त भाषायी रूप है। यह भाषायी रूप सामाजिक आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए विशेष रूप से प्रयुक्त होता है और इसका प्रयोजनमूलक विशेषण इसके व्यावहारिक और कामकाजी पक्ष को अधिक स्पष्ट करता है। भाषा के प्रयोजनमूलक रूप को अंग्रेज़ी में 'फंक्शनल लेंग्वेज' (Functional Language) या 'लेंग्वेज फ़ार स्पेसिफ़िक पर्पज़' (Language for specific purpose) कहते हैं जिसमें विभिन्न प्रकार्यों या प्रयोजनों के लिए प्रयुक्त भाषा का अर्थ निहित है। हिन्दी के संदर्भ में कुछ विद्वानों ने 'प्रयोजनामूलक हिन्दी' की अपेक्षा 'व्यावहारिक हिन्दी' या 'कामकाजी हिन्दी' नाम अधिक उपयुक्त समझा है। 'व्यावहारिक हिन्दी' शब्द का प्रयोग इसलिए भी हो रहा है क्योंकि कुछ विद्वानों को प्रयोजनमूलक हिन्दी से यह लगता है कि कोई ऐसी हिन्दी भी है जिसे निष्प्रयोजनपरक कहा जा सकता है। इस संदर्भ में कुछ विद्वानों ने 'प्रयोजनमूलक' विशेषण को ही अर्थगर्भित और उचित बताया है। डॉ० नगेन्द्र (1987) का कथन है कि "वस्तुतः प्रयोजनमूलक हिन्दी के विपरीत अगर कोई हिन्दी है तो वह निष्प्रयोजनमूलक नहीं वरन् आनन्दमूलक हिन्दी है। आनन्द व्यक्ति-सापेक्ष है और प्रयोजन समाज-सापेक्ष। आनन्द स्वकेन्द्रित होता है और प्रयोजन समाज की ओर इशारा करता है। हम आनन्दमूलक हिन्दी के विरोधी नहीं है, इसलिए आनन्दमूलक साहित्य के हम भी हिमायती हैं। पर, सामाजिक आवश्यकताओं के संदर्भ में हम संप्रेषण के बुनियादी आधार को भी अपनी नज़र से ओझल नहीं करना चाहते।" प्रयोजनमूलक विशेषण में निहित संकेत को स्पष्ट करते हुए और निष्प्रयोजन हिन्दी की अवधारणा को अस्वीकार करते हुए डॉ० व्रजेश्वर वर्मा (1987) कहते हैं कि "निष्प्रयोजन हिन्दी कोई चीज नहीं है लेकिन प्रयोजनमूलक विशेषण उसके व्यावहारिक पक्ष को अधिक उजागर करने के लिए प्रयुक्त किया गया है।"

वास्तव में 'व्यावहारिक हिन्दी' नामकरण से यह भ्रम पैदा होता है कि व्यावहारिक हिन्दी से अभिप्राय ऐसी हिन्दी से है जिसमें भाषिक एवं सामाजिक संदर्भ की अपेक्षा भाषा के व्यावहारिक संदर्भ पर अधिक बल दिया जाता है। व्यावहारिक हिन्दी का अर्थ है दैनिक जीवन में कार्य साधन के लिए प्रयुक्त की जाने वाली हिन्दी। इस भाषा में व्याकरणिक संरचना पर ध्यान न देकर उसकी व्यावहारिक उपयोगिता पर बल दिया जाता है। इसके विपरीत प्रयोजनमूलक भाषा में संपर्क तथा संप्रेषण की आवश्यकता होती है जिसकी अभिव्यक्ति प्रशासन, विधि, विज्ञान, पत्रकारिता आदि विविध प्रयोजनों के रूप में होती है। विविध प्रयोजनों में प्रयुक्त होने वाली भाषा में शब्दावली, वाक्य-रचना और शैली के स्तर पर भेद होता है। यह भेद इस बात पर निर्भर करता है कि कौन, किस से, कब और किसलिए बात कर रहा है या संपर्क कर रहा है। उदाहरण के लिए; कक्षा में अध्यापक और छात्र के भाषिक संप्रेषण और न्यायालय में वकील तथा उसके मुवक्किल या वकील तथा न्यायाधीश के भाषिक संप्रेषण की शब्दावली, वाक्य रचना, पदबंध, शैली और लहज़ा में अंतर होगा। इसी प्रकार, गणित, विज्ञान, चिकित्साशास्त्र, अर्थशास्त्र, मनोविज्ञान, इतिहास, भाषाविज्ञान और साहित्य की भाषा के अंतर्गत शब्दावली, वाक्य-विन्यास और शैली में भेद दिखाई देता है। इस सारी स्थिति को ब्रिटिश स्कूल के हेलिडे, मेकिनतोश, स्ट्रिवेन्स जैसे सुप्रसिद्ध भाषाविदों ने (1964) इन शब्दों में व्यक्त किया है, "हम यह पता लगाना चाहते हैं कि लोग किस के लिए भाषा का प्रयोग करते हैं। जब हम भाषायी व्यापार को विभिन्न संदर्भों में देखते हैं तो हम भाषा-रूपों में अंतर पाते हैं जिनका चयन विभिन्न स्थितियों में उपयुक्त ढंग से किया जाता है।" इस विवेचन से यह सिद्ध होता है कि राष्ट्रीय विकास के लिए भाषा के साहित्यिक और साहित्येतर दोनों पक्षों की आवश्यकता होती है। कोई भी भाषा कितनी विकसित तथा

कितनी समर्थ क्यों न हो, इसका मूल्यांकन इस आधार पर किया जाता है कि उसके साहित्य में कितनी विविधता है तथा क्या उसमें सभी विषयों से संबंधित विचार और अभिव्यक्ति करने की क्षमता है? उस भाषा का प्रयोग किन--किन क्षेत्रों में, कितनी मात्रा में हो रहा है आदि। इसके साथ यह भी देखा जाता है कि क्या वह आधुनिक युग की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए सक्षम है और भविष्य में इसकी प्रगति के लिए क्या–क्या संभावनाएँ हैं।

विभिन्न व्यवसायों के और काम–धंधों के लिए सेवा माध्यम के रूप में इस्तेमाल होने पर प्रयोजनमूलक भाषा के कई रूप सामने आते हैं। जो इस प्रकार हैं:

1. **कार्यालयी भाषा (Officialese):** यह सरकारी कामकाज और प्रशासन में प्रयुक्त होने वाला भाषा–रूप है।
2. **तकनीकी भाषा (Technicalese):** यह इंजीनियरी, विज्ञान, शास्त्र या चिकित्सा आदि का भाषा--रूप है।
3. **वाणिज्यिक भाषा (Commercialese):** यह वाणिज्य, बैंक या मंडियों का भाषा–रूप है।
4. **जनसंचारी भाषा (Language of Mass Media):** यह पत्रकारिता, आकाशवाणी, दूरदर्शन और विज्ञापन में प्रयुक्त होने वाला भाषा–रूप है।
5. **समाजी भाषा (Socialese):** यह सामाजिक कार्यकर्त्ताओं और राजनीतिज्ञों की भाषा का एक रूप है।
6. **साहित्यिक भाषा (Language of Literature):** इसका प्रयोग काव्य, नाट्यशास्त्र, साहित्यशास्त्र आदि की भाषा के रूप में होता है।

प्रयोजनमूलक हिन्दी के प्रणेता मोटूरि सत्यनारायण (1987) ने इसी आधार पर प्रयोजनमूलक हिन्दी के छह मुख्य रूप बताए हैं– कार्यालयीन हिन्दी, तकनीकी हिन्दी, वाणिज्यिक हिन्दी, जनसंचारी हिन्दी, समाजी हिन्दी, साहित्यिक हिन्दी।

प्रयोजनमूलक भाषा और प्रयुक्ति

भाषा को उसके सामाजिक संदर्भ की दृष्टि से अलग एक और दृष्टि से भी विश्लेषित किया जा सकता है। यह दूसरी दृष्टि है शुद्ध भाषाविज्ञान की। भाषाविज्ञान भाषा को एक अमूर्त्त प्रतीकीकरण प्रक्रिया का परिणाम मानता है। इसके अनुसार भाषा समाज में प्रतिफलित होकर भी सामाजिक संदर्भों से मुक्त रहती है। इस वर्ग के विद्वान भाषा सिद्धांत की जब भी बात उठाते हैं वे अपनी दृष्टि केवल भाषा की संरचना तथा उसकी क्षमता तक ही सीमित कर लेते हैं। सामाजिक उपकरण और सांस्कृतिक संदर्भ के साथ जुड़कर यह अमूर्त्त प्रतीकीकरण का सिद्धांत किस प्रकार व्यवहारजन्य बनता है, किस प्रकार व्यावहारिक क्षमता, वाक्य विन्याय या पूरी भाषा को समझने में एक ठोस आधार देता है इस चर्चा को वह प्रायः नहीं उठाता। इसलिए उसके अनुसार भाषा समरूपी होती है और भाषा में दिखाई पड़ने वाले भेद–प्रभेद और कुछ नहीं बल्कि व्यावहारिक आवश्यकताओं से नियंत्रित तथा मनुष्य की मानसिक क्षमता की सीमा से बाधित आदर्श रूप के विकृत रूप होते हैं। दूसरी ओर, समाज भाषाविज्ञान भाषा को विषमरूपी मानता है और उसके अनुसार भाषा के विभिन्न रूपों का जीवन की आवश्यकताओं के अनुसार प्रादुर्भाव होता है। ये विभिन्न रूप भाषा के यथार्थ और वास्तविक रूप हैं। इन भाषा–रूपों का एक अलग व्याकरण बनता है। इस व्याकरण में विविध स्थितियों तथा विषयों में भाषा व्यवहार की एक निश्चित परिपाटी होती है जिसका पालन व्यक्ति जाने–अनजाने करता है। इसी के आधार पर जीवन के विविध क्षेत्रों में भाषा के विशिष्ट प्रयोग क्षेत्र या व्यवहार–क्षेत्र बनते हैं। इन्हीं प्रयोग–क्षेत्रों या व्यवहार–क्षेत्रें से प्रयुक्ति की संकल्पना आई है। वास्तव में भिन्न कार्य क्षेत्रों के लिए जिन भाषा रूपों का प्रयोग किया जाता है उन्हें प्रयुक्ति कहा जाता है। प्रयुक्ति के आधार भूमिका–भेदीकरण (Role Differentiations) और स्थितियों के संदर्भ (Context of Situations) माने जाते हैं। इस प्रकार विभिन्न संदर्भगत और भूमिकागत प्रयोगों में भाषा व्यवहार में जो भेद पाए जाते हैं वे प्रयुक्ति (Register) कहलाते हैं।

प्रत्येक व्यक्ति जब समाज में विभिन्न भूमिकाएँ निभाता है – कभी वह परिवार के मुखिया के रूप में व्यवहार करता है तो कभी व्यावसायिक के रूप में, कभी खिलाड़ी के रूप में, कभी वैज्ञानिक के रूप में या प्रोफेसर के रूप में, कभी वह बच्चों के पिता के रूप में, तो कभी वह पति के रूप में भाषा का व्यवहार करता है और इस प्रकार वह निश्चित रूप से विभिन्न भाषा–रूपों का निर्वाह करता है। इसका अर्थ हुआ कि बदली हुई सामाजिक भूमिका के सदर्भ में व्यक्ति की भाषा भी व्यक्ति, सदर्भ आ

भूमिका के अनुरूप बदलती रहती है। इसलिए कुछ विद्वानों ने इन भाषा–रूपों को भूमिका–सापेक्ष प्रयुक्ति (Role-Oriented Register) की संज्ञा दी है। स्थितियों के संदर्भ में भाषा के जो भेद उभर कर आते हैं उन्हें भी प्रयुक्ति कहा गया है। लेकिन इन प्रयुक्तियों के भेद के कारण व्यक्ति की सामाजिक भूमिका नहीं होती वरन् प्रयोग की विभिन्न क्षेत्रीय भूमिका होती है।

इस प्रकार विषय क्षेत्र से संबंधित जो भाषा–भेद दिखाई देते हैं उनका प्रयोग जीवन की विभिन्न आवश्यकताओं के लिए विभिन्न क्षेत्रों में किया जाता है। इस प्रकार के भाषा रूप का प्रयोग किसी विशेष प्रयोजन से किया जाता है, इसलिए इसे 'विशिष्ट प्रयोजन की भाषा' (Language for Specific Purpose) भी कहा गया है। इस विशेष प्रयोजन की भाषा के तीन आयाम माने गए हैं: 1. वार्ताक्षेत्र 2. वार्ता प्रकार और 3. वार्ता शैली।

वार्ताक्षेत्र: भाषा रूपों में विषय के तकनीकी या अतकनीकी होने के कारण जो प्रयोगगत भेद दिखाई देते हैं, उन्हीं के आधार पर प्रयुक्तियों का निर्धारण किया जाता है। इसलिए इसे 'विषय क्षेत्र' भी कहा गया है। उदाहरण के लिए; कार्यालय, पत्रकारिता, इंजीनियरी, वाणिज्य, विज्ञान आदि की भाषा में जो भेद दिखाई देता है वह 'विषय' पर ही आधारित है। वास्तव में विषय के आधार पर जिन प्रयुक्तियों का निर्माण होता है उनकी पारिभाषिक शब्दावली तथा भाषा संरचना एक–दूसरे से भिन्न होती है। विज्ञान, इंजीनियरी, चिकित्साशास्त्र, विधि आदि के भाषा–रूप तकनीकी प्रयुक्ति में आते हैं और कार्यालय, वाणिज्य, पत्रकारिता आदि के भाषा रूप अर्ध–तकनीकी प्रयुक्ति के अंतर्गत आते हैं।

वार्ता प्रकार: इसमें यह देखा जाता है कि भाषा का प्रयोग मौखिक रूप में किया जा रहा है या लिखित रूप में, क्योंकि मौखिक भाषा में प्रायः वाक्य रचना पूर्ण नहीं रहती या उसका सुव्यवस्थित रूप नहीं होता। कभी–कभी ध्वनियों तथा शब्दों का भी लोप हो जाता है। उच्चारण भेद, ध्वनियों के आरोहण–अवरोहण तथा वक्ता के मुख और अन्य अंगों द्वारा प्रदर्शित हाव–भाव से वाक्य का पूरा अर्थ समझा जाता है, जबकि लिखित भाषा में पूर्ण शब्दों की सही वर्तनी के साथ पूर्ण वाक्य लिखे जाते हैं। यह भाषा प्रायः व्यवस्थित और संपादित होती है। इस दृष्टि से तकनीकी भाषा प्रायः लिखित रूप में सामने आती है। कार्यालयी भाषा मुख्यतः लिखित होती है। इसके साथ आकाशवाणी या दूरदर्शन में प्रसारित समाचारों की भाषा लिखित भाषा का पठित या मौखिक रूप होता है।

वार्ता शैली: इसमें वक्ता–श्रोता या लेखक–पाठक संबंध अधिक महत्त्वपूर्ण है। अधिकारी और कर्मचारी के बीच या कर्मचारी–चपरासी के बीच या यजमान और अतिथि के बीच सामाजिक संबंध के साथ भाषा–शैली बदलती है। सामाजिक संदर्भों, स्तरों और संबंधों के परिप्रेक्ष्य में भाषा के मुख्य रूप से पाँच शैलियाँ स्वीकार की गई हैं– रूढ़िगत, औपचारिक, सामान्य, अनौपचारिक और अंतरंग। तकनीकी भाषा–रूप प्रायः रूढ़िगत, औपचारिक और सामान्य होते हैं, लेकिन अर्ध तकनीकी या गैर–तकनीकी रूप औपचारिक, सामान्य तथा अनौपचारिक आदि शैलियों में मिल जाते हैं। विज्ञान की भाषा प्रायः रूढ़िगत, औपचारिक या सामान्य तीनों शैलियों में मिलती है। इसी प्रकार आकाशवाणी और दूरदर्शन में विज्ञापन की भाषा प्रायः औपचारिक और अनौपचारिक दोनों शैलियों में मिलती है।

(ख) वर्तनी : मानकीकरण

वर्तनी शब्द का निर्माण संस्कृत की वृत धातु से हुआ है। वृत् में मनि प्रत्यय के योग से 'वर्त्मनि' शब्द की रचना हुई है। संस्कृत में वर्त्मनि और वर्त्मनी दोनों शब्दों का प्रयोग होता है। इस शब्द में से 'म्' के लोप से 'वर्तनी' शब्द की संरचना हुई है। वर्तनी का शाब्दिक अर्थ है–सरणि। शब्द को लेखन–सरणि को दृष्टिगत कर वर्तनी का सरल रूप में इस प्रकार परिभाषित कर सकते हैं– "भाषा के शब्दों के शुद्ध लेखन को वर्तनी कहते हैं।"

हिन्दी वर्तन के लिए अक्षर–विन्यास, अक्षरन्यास, अक्षरी और वर्णन्यास आदि शब्दों के प्रयोग किए जाते हैं, किन्तु वर्तनी का प्रयोग सर्वाधिक रूप में होता है। अंग्रेजी में वर्तनी के लिए spelling शब्द का प्रयोग होता है।

हिन्दी भारतवर्ष की राजभाषा, राष्ट्रभाषा और जनभाषा भी है। इसका प्रयोग भारतवर्ष के बहुल भू–भाग में बहुल लोगों द्वारा किया जाता है। विस्तृत क्षेत्र में प्रयुक्त होने के कारण भाषा में विविधता होना स्वाभाविक है। वर्तनी के द्वारा भाषा को मानकीकरण के आधार पर एकरूपता मिलती है।

वर्तनी की शुद्धता हेतु दो तथ्यों पर ध्यान देना अनिवार्य है–

1. शुद्ध लेखन में किन–किन लिपि–चिह्नों का प्रयोग करना है।
2. शब्द में प्रयुक्त विभिन्न लिपि–चिह्नों का शुरू क्रम में प्रयोग।

हिन्दी शब्दों की वर्तनी पर निम्नलिखित संदर्भों से विचार करना आवश्यक है–

1. **हलंत प्रयोगः** परंपरागत तत्सम शब्दों में से अनेक शब्द व्यंजनांत होते हैं; यथा–भगवान्, महान, श्रीमान, विद्वान आदि। हिन्दी में अनेक शब्दों का उच्चारण व्यंजनांत होता है; यथा–राम्, श्याम्, रात्, तन्, मन् आदि। लेकिन इन्हें स्वरांत राम, श्याम, रात, तन, मन रूप में लिखा जाता है। हिन्दी लेखन में एकरूपता लाने के लिए व्यंजनांत तत्सम शब्दों को भी स्वरांत अर्थात् हलंत रहित रूप में ही लिखना चाहिए। केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय द्वारा मानक हिन्दी वर्तनी में संकेत किया गया है, "संस्कृतमूलक तत्सम शब्दों की वर्तनी में सामान्यतः संस्कृत रूप ही रखा जाए, परन्तु जिन शब्दों के प्रयोग में हिन्दी में हल चिह्न लुप्त हो चुका है, उसमें उसको फिर से लगाने का यत्न न किया जाए; जैसे– महान्, विद्वान् आदि के 'न' में।"

   हिन्दी में ऐसे शब्दों की पर्याप्त संख्या है, जो दो शब्दों से बने हैं और उनमें पूर्व पद व्यंजनांत होता है; यथा– जगत + ईश = जगदीश, जगत + नाथ = जगन्नाथ, वाक् + जाल = वाग्जाल आदि। संधि–संदर्भ में मूल रूप ही स्वीकार करना होगा, अन्यथा संरचना असंभव हो जाएगी, किंतु शब्द के स्वतंत्र प्रयोग में सामान्य स्वरांत–जगत, विद्वान आदि ही प्रयोग करना उचित है।

2. **त्त्वः** हिंदी की सरलीकरण प्रक्रिया में कुछ विद्वानों का मत है कि 'त्त्व' के स्थान पर 'त्व' का ही प्रयोग करना चाहिए। (तत्व, सत्व, महत्व)। ऐसे विद्वानों का मत है कि ध्वन्यात्मक नियम के अनुसार अन्तस्थ वर्ण के प्रयुक्त अर्थ व्यंजन लिखा एक किंतु उच्चारण दो आधे रूप होने से उच्चारण में कोई भेद नहीं होगा। नियम निर्धारिक समिति भी इसी पक्ष में है।

   इसे स्वीकार कर लेने से शब्द की सही व्युत्पत्ति का ज्ञान जटिल हो जाएगा। इसके साथ ही सता और सत्ता, महता और महत्ता का भेद भी अस्पष्ट हो जाएगा। अतः परंपरागत तत्सम शब्द तत्त्व, सत्त्व और महत्त्व को ही शुरू मानना चाहिए।

3. **शब्द-संरचनाः** शब्द संरचना को दृष्टिगत कर शुरू रूप अपनाना चाहिए। यदि शब्द के उच्चारण में भिन्नता हो तो उसकी भी उपेक्षा करनी चाहिए। यथा–

   सम् + न्यासी = संन्यासी

   उत् + ज्वल = उज्ज्वल

   साहित्य + इक = साहित्यक (साहित्त्कि–उच्चारण)

4. **परंपरागत वर्तनीः** उच्चारण और लेखन के नियम भिन्न होते हैं। उच्चारण का नियम अपेक्षाकृत शिथिल होता है, जबकि लिखित भाषा का नियम अपेक्षाकृत सुदृढ़ होता है इसलिए परंपरागत रूप ही लेखन में अपनाया जाता है; यथा–

उच्चारण	लेखन (शुद्ध)
राम्	राम
काम्	काम
मन्	मन
चल्ता	चलता
खिल्ता	खिलता

5. **महाप्राणीकरणः** भाषा की महाप्राण ध्वनि अपने से पूर्व प्रयुक्त अल्प प्राण ध्वनि को उच्चारण में प्रभावित कर महाप्राण बना देती है, किंतु वर्तनी में मूल रूप ही होना चाहिए; यथा–

उच्चारण	लेखन (शुद्ध)
अछ्छा	अच्छा
पथ्थर	पत्थर
मथ्था	मत्था

6. **अनुस्वारः** हिन्दी में अनुस्वार के लिए (ं) का प्रयोग किया जाता है। अनुस्वार का प्रयोग मुख्यतः पाँचों वर्गों– कवर्ग, चवर्ग, टवर्ग, तवर्ग और पवर्ग के अंतिम व्यंजन नासिक्य ङ, ञ, ण्, न्, म् के लिए किया जाता है। संस्कृत में अर्धनासिक्य व्यंजनों के लिए मुख्यतः अनुस्वार का प्रयोग न कर मूल रूप को ही लिपिबद्ध किया जाता है; यथा– अङ्क, मञ्जुल, कण्टक, तन्तु, शम्भु आदि। भारत सरकार द्वारा संस्थापित हिंदी–नियम निर्धारक संस्था, केंद्रीय हिंदी निदेशालय द्वारा कंठ्य, तालव्य, मूर्द्धन्य, दंत्य और ओष्ठ्य पाँचों वर्गों की अर्ध नासिक्य ध्वनियों के लिए अनुस्वार चिह्न के प्रयोग की बात कही गई है। हिंदी की सरलीकरण प्रक्रिया में इसे अपनाना उचित है। इसके प्रयोग से उच्चारण और नियम आधार पर नासिक्य व्यंजन को पहचानने में कोई कठिनाई नहीं होती है। अनुस्वार के बाद आने वाले व्यंजन के संबंधित वर्ग के पाँचवें व्यंजन अर्थात् नासिक्य व्यंजन को अर्ध रूप ही अनुस्वार का मूल रूप होता है; यथा–

अंक (क–कवर्ग, → ङ्)	अङ्क
अंग (ग–कवर्ग, → ङ्)	अङ्क
अंजन (ज–चवर्ग, → ञ्	अञ्जन
मंजन (ज–चवर्ग, → ञ्	मञ्जन
कंटक (ट–टवर्ग, → ण्)	कण्टक
टंडन (ड–टवर्ग, → ण्)	टण्डन
पंत (त–तवर्ग, → न्)	पन्त
मंथन (थ–तवर्ग, → न्)	मन्थन
पंप (प–पवर्ग, → म्)	पम्प
शंभु (भ – पवर्ग, → म्)	शम्भु

इस प्रकार हमें अनुस्वार का प्रयोग करना चाहिए। नियम–आधार पर विभिन्न नासिक्य ध्वनियों की पहचान सरल है। अतः भाषा और लिपि की वैज्ञानिकता भी स्पष्ट होती है।

अनुस्वार के विषय में यह ध्यान रखना आवश्यक है कि यदि अर्ध नासिक्य व्यंजन के बाद अन्य कोई अर्ध व्यंजन प्रयुक्त हो, तो अर्ध नासिक्य के स्थान पर अनुस्वार का ही प्रयोग होना चाहिए; यथा–

अशुद्ध	शुद्ध
कम्प्यूटर	कंप्यूटर
अन्त्य	अंत्य
कम्प्योत्तर	कंप्योत्तर

अनुस्वार के बाद यदि अंतस्थ (य, र, ल, व) अथवा ऊष्म (श, ष, स, ह) में से कोई वर्ण आए, तो प्रायः अनुस्वार का ही प्रयोग होगा। इसके स्थान पर अर्ध नासिक्य का प्रयोग प्रायः नहीं होता है; जैसे–
संयत, संवत, अंश, कंस, हंस, संहार आदि।
जब कोई अर्ध नासिक्य व्यंजन उसी नासिक्य व्यंजन के पूर्ण रूप के पूर्व प्रयुक्त हो तो उसे अनुस्वार से नहीं लिखा जाना चाहिए। ऐसे शब्द में नासिक्य व्यंजन के अर्ध और पूर्ण रूपों का क्रमशः प्रयोग करना चाहिए; यथा–
अन्न, पन्नग, सम्मति, सम्मिलित, सम्मेलन आदि।

7. **अनुनासिकता:** जिस ध्वनि के उच्चारण में निःविश्वास की वायु मुख मार्ग के साथ नासिका से भी बाहर आए उसे अनुनासिक ध्वनि कहते हैं। इसके लिए (—) चिह् का प्रयोग किया जाता है। हिन्दी के सरलीकरण में इसे अनुस्वार के समान (—) चिह्न से अभिव्यक्ति किया जाता है। स्पष्टता तथा वैज्ञानिकता की दृष्टि से अनुनासिक को (—) चन्द्र बिन्दु से ही व्यक्त करना चाहिए यथा– चाँद, साँप, माँग आदि।

अनुस्वार तथा अनुनासिक चिह्नों को एक कर देने से उभरी अस्पष्टता भावाभिव्यक्ति में बाधक बन जाती है; जैसे– हंस (पक्षी विशेष) और हँस (हँसना) को अनुस्वार चिह्न (—) से ही लिखें, तो अस्पष्ट अर्थ बोध में बाधक बनती है। इसी प्रकार अंधेरा और अंध का उच्चारण संदिग्ध बन सकता है, किंतु 'अँधेरा' और 'अंध' लेखन से भेद स्पष्ट है।

शिरोरेखा के नीचे लिखे गए अक्षरों पर अनुनासिक चिह्न का प्रयोग मूल रूप में किया जाता है, यथा–

आँख, चाँद, रँगना, हँसना, पूँछ, मूँछ आदि।

जब किसी अक्षर की रचना या मात्रा शिरोरेखा के ऊपर तक होती है, तब अनुनासिक चिह्न को अनुस्वार के रूप में प्रयोग करते हैं; यथा–

उच्चारण	लेखन (शुद्ध)
नहीँ	नहीं
मेँ	में
मैँ	मैं
क्योँ	क्यों

हिन्दी उच्चारण में संसर्ग से अनुनासिकता उभर आती है। अनुनासिकता का यह रूप विशेष संगति के कारण होता है। यह सच है, "जैसी संगति बैठिए तैसे ही गुण होत।" यदि शब्द में नासिक्य व्यंजन का प्रयोग हो, तो यह नासिक्य ध्वनि अपने से पूर्व–ध्वनि को अनुनासिक बना देती है। इसे उच्चारण में स्पष्ट रूप से अनुभव कर सकते हैं। वर्तनी की शुद्धता के लिए लेखन में इस अनुनासिकता की उपेक्षा की जाती है; यथा–

उच्चारण	लेखन (शुद्ध)
रँण	रण
तँन	तन
दाँन	दान
दँम	दम
राँम	राम

हिन्दी की विभिन्न बोलियों की अकारण अनुनासिकता का प्रभाव यत्र–तत्र उभर आता है। वर्तनी की शुद्धता के लिए उससे बचना ही होगा; यथा–

अकारण अनुनासिकता	शुद्ध
गाँय	गाय
घाँस	घास
पूँछना	पूछना
हाँथ	हाथ

8. **र प्रयोग:** नागरी वर्ण माला में 'र' के लिए एक मात्र चिह्न स्वीकृत है, किंतु प्रयोग में इसके चार रूप हैं–

र	–	रमा, राम, रौड
◌्र	–	क्रम, द्रुत, विप्र

^	–	ट्रक, ट्राम, ड्रम
'	–	कर्म, धर्म, चर्म

इन चार चिह्नों में से प्रथम तीन चिह्न पूर्ण हैं और इसके प्रयोग में प्रायः कठिनाई नहीं आती हैं, किंतु चतुर्थ रूप जो 'र' का अर्ध रूप है और शिरोरेखा के ऊपर प्रयुक्त होता है। इसके प्रयोग में मूल संभावित होती है। जिस प्रकार मनुष्य गतिशील रहने के लिए आगे वाले का सहारा लेता है उसी प्रकार इस ' ' ध्वनि का जहाँ उच्चारण हो उसके आगे वाले अक्षर या पूर्ण वर्ण पर प्रयोग करते हैं–

अशुद्ध	शुद्ध
आर्शीवाद	आशीर्वाद
चार्तुय	चातुर्य
सौंर्दय	सौंदर्य

ध्यातव्य है कि यदि शब्द में उच्चरित रेफ ' ' के बाद के अर्ध व्यंजन का प्रयोग हो तो रेफ उससे आगे वाले पूर्ण वर्ण अर्थात् अक्षर पर ही लगाया जाएगा। यदि रेफ ' ' के बाद दो अर्ध वर्ण हों, तो उन दोनों को छोड़कर उससे आगे वाले अक्षर पर प्रयुक्त होगा; यथा–

अशुद्ध	शुद्ध
वर्क्स	वर्क्स
वर्त्स्य	वर्त्स्य

अन्तर्राष्ट्रीय शब्द का प्रयोग भ्रमवश अन्तरराष्ट्रीय शब्द के स्थान पर किया जाता है। अतः + राष्ट्रीय के योग से अन्तर्राष्ट्रीय शब्द की रचना हुई है, जिसका अर्थ है– राष्ट्र के अन्दर या राष्ट्र में। हिन्दी के चर्चित वैयाकरण आचार्य किशोरी दास वाजपेयी ने हिंदी शब्दानुशासन में स्पष्ट रूप से लिखा है कि दो या दो से अधिक राष्ट्रों का भाव प्रकट करने वाले International शब्द के समानार्थक रूप में अन्तरराष्ट्रीय शब्द का प्रयोग करना चाहिए। यदि डाक व्यवस्था का अन्तर्देशीय पत्र (Inland Letter Card) मात्र अपने देश की सीमा में प्रयुक्त होता है, तो अन्तर्राष्ट्रीय या अन्तर्जातीय शब्द से दो या दो से अधिक राष्ट्रों या जातियों की सीमा का बोध कैसे होगा? इस अर्थ में अन्तरराष्ट्रीय और अन्तरजातीय आदि शब्दों का प्रयोग करना चाहिए।

9. **उत्क्षिप्त ध्वनि:** हिंदी के मूर्द्धन्य ध्वनि वर्ग में दो उत्क्षिप्त 'ड' और 'ढ़' ध्वनियों का विकास हुआ। इन दोनों ध्वनियों के लिए चिह्न निर्धारित कर दिए गए हैं। ड–ड तथा ढ–ढ़ के भेद की स्पष्ट पहचान से ही वर्तनी का शुरू रूप अपनाया जा सकता है; यथा–

ड	–	रोड, सोडा, रेडियो
ड	–	सड़क, पहाड़, घोड़ा
ढ	–	ढक्कन, ढाल, ढोल
ढ़	–	कढ़ाई, चढ़ाई, पढ़ाई

10. **आगत ध्वनि–ॉ:** अँग्रेजी भाषा के प्रचार के साथ अंग्रेजी के अनेक शब्दों को हिंदी में स्थान मिल गया है। इन शब्दों के साथ एक विशेष-ध्वनि ' ॉ ' को भी स्थान मिल गया है। शुद्ध लेखन के लिए इस चिह्न का प्रयोग करना चाहिए; यथा– कॉलेज, डॉक्टर, बॉल आदि। कुछ समय पूर्व तक इन ध्वनियों को सरलीकृत कालेज डाक्टर, बाल आदि रूप में प्रयोग किया जाता रहा है। इस प्रकार लेखन से अभिव्यक्ति स्पष्ट हो जाती है; यथा–बाल (Ball) और बाल (Hair) शब्द अस्पष्ट ही रहेंगे। इन्हें बॉल–बाल लिखने से स्पष्ट अभिव्यक्ति होती है।

11. **पुनरूक्तिः** जब किसी शब्द का एक साथ दो बार प्रयोग कर भाव को गंभीर बनाने का प्रयत्न किया जाता है, तो कभी–कभी शब्द के दो बार लिखने के स्थान पर योजक चिह्न के साथ अंक दो (–2) लिख दिया जाता है, यथा– 'बार–2', 'चलते–2' आदि। यह पद्धति वैज्ञानिक नहीं है, क्योंकि इसे 'बार–दो', 'चलते–दो' पढा जा सकता है, जो अशुद्ध है। इसलिए शब्द को दो बार 'बार–बार', 'चलते–चलते' लिखना ही शुद्ध है।

12. **क्षेत्रीय प्रभाव से मुक्तिः** भाषा के मानकीकरण एवं वर्तनी की शुद्धता के लिए क्षेत्रीय भाषा या बोली के विविध प्रभावों से बचाना अनिवार्य है; यथा–

आगम	अशुद्ध	शुद्ध
	सटूल/इस्टूल	स्टूल
	सकूल/इस्कूल	स्कूल
	सुरेन्दर	सुरेन्द्र
लोप	कृप्या	कृपया
	मिन्ट	मिनट
	तिल्क	तिलक

13. **विदेशी भाषा-प्रभाव से मुक्तिः** हिंदी पर अंग्रेजी भाषा का विदेश प्रभाव पड़ा है। हिंदी शब्दों की वर्तनी को शुद्ध रूप से स्थिर रखने हेतु इस पर भी व्यावहारिक दृष्टि अपेक्षित है।

अशुद्ध (अंग्रेजी प्रभाव)	शुद्ध
अशोका	अशोक
बुद्धा	बुद्ध
रामा	राम
गुप्ता	गुप्त
गोयला	गोयल
मिश्रा	मिश्र

14. **अंतस्थ वर्ण के पूर्व अर्ध व्यंजन प्रयोगः** हिंदी शब्द में अंतस्थ (य र ल व) वर्ण के पूर्व यदि कोई अर्ध व्यंजन लिखा जाए, तो नियमानुसार उसका शुद्ध उच्चारण दो समान अर्ध व्यंजन होगा। इसके विपरीत लेखन के अनुसार एक अर्ध व्यंजन का उच्चारण या युद्ध उच्चारणानुसार दो अर्ध व्यंजन का लिखना गलत होगा। वर्तनी के शुद्ध रूप के साथ शुद्ध उच्चारण द्रष्टव्य है

उच्चारण (शुद्ध)	लेखन (शुद्ध)
अन्नय	अन्य
उपन्न्यास	उपन्यास
अन्नवय	अन्वय
समन्न्वित	समन्वित

15. **य-श्रुतिः** नागरी स्वर प्रधान लिपि है। स्वर तो बिना अन्य ध्वनि के सहयोग से अबाध गति से जितनी देर चाहें उच्चरित किए जा सकते हैं। इनका अपना स्वतंत्र अस्तित्व है, साथ ही स्वर के सहयोग बिना व्यंजन का उच्चारण सम्भव नहीं है। केंद्रीय हिंदी निदेशालय के निर्देशानुसार जिन ध्वनियों में य–श्रुति के क्षीण होने से स्वरात्मक रूप हो, उन्हें स्वर रूप में ही लिखना चाहिए; यथा–

अशुद्ध	शुद्ध
नयी	नई
नये	नए
लिये	लिए
मिठायी	मिठाई

य–श्रुति की समस्या भी वर्तनी से संबंधित है। इससे संज्ञा, क्रिया और विशेषण आदि शब्दों पर विचार करना आवश्यक है।

क्रिया शब्दावली के संभाव्य भविष्यत् काल का प्रत्यय 'ए' है। यदि हिंदी की आ, जा, खा आदि धातुओं में 'ए' प्रत्यय जोड़ दें तो आए, जाए और खाए आदि संभाव्य भविष्यत् रूप बन जाते हैं सामान्य भविष्यत् में भी यही रूप शुद्ध है। अतः वर्तनी का रूप इस प्रकार होगा।

	अशुद्ध	शुद्ध
संभाव्य भविष्यत्	आये	आए
	खाये	खाए
	जाये	जाए
	आयेगा	आएगा
सामान्य भविष्यत्	खायेगा	खाएगा
	जायेगा	जाएगा

आदरसूचक संदर्भ में य–श्रुति का प्रभाव दिखाई देता है। भारत सरकार की समिति के निर्णयानुसार य–श्रुति रहित रूप अपनाना चाहिए–

अशुद्ध	शुद्ध
आइये	आइए
खाइये	खाइए
जाइये	जाइए

सामान्य भूतकाल के अ–इतर स्वरांत धातुओं के स्त्रीलिंग और पुल्लिंग बहुवचन में य–श्रुति समस्या है। आचार्य देवेन्द्र नाथ शर्मा – आया, आयी, आये; खाया, खायी, खाये के पक्ष में हैं, किंतु नियम–निर्धारक केंद्रीय समिति द्वारा य–श्रुति की क्षीणता पर स्वर रूप अपनाने का संकेत दिया गया है। इस प्रकार वर्तनी का शुद्ध रूप इस प्रकार मानना चाहिए–

अशुद्ध	शुद्ध
आयी	आई
खायी	खाई
आये	आए
खाये	खाए
गये	गए

संज्ञा शब्दावली के बहुवचन बनाने में य–श्रुति की समस्या आती है। उच्चारण में स्वरात्मक रूप होने या य–श्रुति क्षीण होने से वर्तनी रूप इस प्रकार अपनाना चाहिए–

अशुद्ध	शुद्ध
बाधा–बाधायें	बाधाएँ
लता–लतायें	लताएँ
समस्या–समस्यायें	समस्याएँ

विशेषण यकरांत शब्दावली में य–श्रुति की समस्या–समाधान हेतु स्वर प्रधानता को ध्यान देकर इस प्रकार निर्णय करना चाहिए– नई, पराई, नए, पराए।

कुछ विशेषण– अन्यायी, अस्थायी, आततायी, उत्तरदायी, धराशायी, न्यायी, मितव्ययी और स्थायी आदि शुद्ध हैं, क्योंकि इनमें य–श्रुति परिवर्तित न होकर शब्द के मूल अंश हैं।

16. हिंदी में व–श्रुति लगभग लुप्त हो चुकी है, अतः स्वर प्रधान रूप ही प्रयोग करना चाहिए–

अशुद्ध	शुद्ध
हुवा	हुआ
समस्यावों	समस्याओं
साधुवों	साधुओं

17. **अन्य संदर्भः** हिंदी के कुछ अन्य वर्णों और मात्राओं के प्रयोग में होने वाली भिन्नता से बचकर मानकीकृत रूप अपनाना चाहिए यथा– क्षेत्रीय उच्चारण से प्रभावित होकर 'व' के स्थान पर 'ब' का प्रयोग होता है–

अशुद्ध	शुद्ध
छबि/छबी	छवि
बचन	वचन
बन	वन

'श' के स्थान पर 'स' का प्रयोग होता है–

अशुद्ध	शुद्ध
संकर (शिव)	शंकर
साम	शाम
सताब्दी	शताब्दी

ह्रस्व के स्थान पर दीर्घ और दीर्घ स्थान ह्रस्व के का भ्रामक प्रयोग मिलता है–

	अशुद्ध	शुद्ध
ि + ी	रुची	रुचि
ु > ू	द्ववी	द्वि
	गुरू	गुरु
	रूपया	रुपया
ु > ू .	रुप	रूप
	स्वरुप	स्वरूप

'ए' के स्थान पर 'ऐ' का प्रयोग भी वर्तनी की अशुद्धि का कारण बन जाता है--

अशुद्ध	शुद्ध
बुलाऐं	बुलाएँ
विधाऐं	विधाएँ

शिरोरेखा के ऊपर लगने वाले अनुनासिक चिह्न के न लगाने या प्रतिकूल स्थान पर होने से शब्द अशुद्ध हो जाता है–

अशुद्ध	शुद्ध
वर्गो	वर्गों
आखो	आखों
रखेगें	रखेंगे
चलेगें	चलेंगे

वर्तनी की शुद्धि से भाषा में एकरूपता विकसित होती है और उसकी मानकीकरण प्रक्रिया का सबल आधार मिलता है। वर्तनी का ज्ञान भाषा–अध्ययन की दृष्टि से ही नहीं भाषा के सामान्य प्रयोग के लिए भी उपयोगी है।

(ग) देवनागरी : मानक स्वरूप

भारत वर्ष की राजभाषा और राष्ट्र भाषा हिन्दी की लिपि भी नागरी है। वर्तमान समय में दो या दो से अधिक भाषा--भाषियों के भाव आदान–प्रदान के लिए नागरी लिपि का प्रयोग सम्पर्क लिपि के रूप में किया जाता है। देवनागरी के बढ़ते प्रयोग संदर्भ को दृष्टिगत कर इसमें अपेक्षित सुधार किए गए हैं। सुधार प्रक्रिया के आधार पर यह लिपि पर्याप्त वैज्ञानिक हो गई है।

वर्तमान समय की देवनागरी का स्वरूप पर्याप्त अनुकूल और वैज्ञानिक हो गया है। जिसमें भाषा विदों और संस्थाओं के साथ केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय की विशेष भूमिका रही है।

वर्णमाला

स्वर	–	अ आ इ ई उ ऊ ऋ ए ऐ ओ औ
स्वर–मात्रा	–	ा ि ी ु ू ृ े ै ो ौ
आगत स्तर	–	ऑ (ॅ)
अयोगवाह	–	अनुस्वार (ं)
	–	विसर्ग (:)
अनुनासिकता	–	(ँ)
व्यंजन	कंठ्य	क ख ग घ ङ
	तालव्य	च छ ज झ ञ
	मूर्द्धन्य	ट ठ ड ढ ण ड़ ढ़
	दन्त्य	त थ द घ न
	ओष्ठ्य	प फ ब भ म
	अन्तस्थ	य र ल व ळ
	ऊष्म	श ष स ह

अंकमाला

देवनागरी (मूल) अंक ० १ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८ ९

'अन्तरराष्ट्रीय स्वरूप' अंक 0 1 2 3 4 5 6 7 8 9

वर्तमान समय की आवश्यकता के आधार पर संशोधित की गई यह मानक वर्णमाला है। नागरी वर्णमाला को मुख्यतः स्वर और व्यंजन दो वर्गों में विभक्त कर सकते हैं। नागरी लिपि के चिह्नों को इन उपवर्गों में रखकर विवेचन कर सकते हैं।

1. **स्वरः** नागरी में कुछ समय पूर्व तक दस स्वरों को ही मान्यता दी गई थी। वर्तमान समय में 'ऋ' की अनिवार्यता को दृष्टिगत कर इसे पुनः अपना लिया गया है। कुछ समय पूर्व तक वर्णमाला में स्थान न देने का मुख्य कारण था कि 'ऋ' का प्रयोग लेखन में चलता रहा, किन्तु उच्चारण में इसका स्वरूप व्यंजन 'रि' के बहुत कुछ समान हो जाना रहा है। लिपि का सम्बन्ध लेखन से और 'ऋ' के प्रयोग से ही शुद्धता सम्भव है। इसलिए इसे अपनाकर स्वरों की संख्या ग्यारह की गई है। स्वरों को क्रमशः इस प्रकार लिख सकते हैं–

   अ आ इ ई उ ऊ ऋ ए ऐ ओ औ

   स्वरों के स्वरूप को दो वर्गों में व्यवस्थित कर सकते हैं। प्रथम में उनका मूल रूप; यथा– अ, आ ..... औ और द्वितीय में उनकी मात्राओं का समूह। अ स्वर की मात्रा नहीं होती क्योंकि इसके आधार पर ही सभी व्यंजन वर्णों की रचना सम्भव होती है जैसे– क = क् + अ, ख = ख् + अ आदि–अ से इतर अन्य प्रत्येक स्वर की स्पष्ट और एक मात्रा की व्यवस्था है।

   अ – ा इ – ि ई – ी

   उ – ु ऊ – ू ऋ – ृ

   ए – े ऐ – ै ओ – ो

   औ – ौ

2. **आगत स्वरः** वर्तमान समय की नागरी लिपि में अंग्रेजी का स्वर 'ऑ' अपना लिया गया है। अभी इसे नागरी की सामान्य वर्णमाला में स्थान नहीं मिल पाया है। किन्तु व्यावहारिक रूप में प्रयोग होने लगा है; यथा–

   डॉक्टर (Doctor) बॉल (Ball)

   यहाँ पर यह द्रष्टव्य है कि इस स्वर का प्रयोग मात्र आगत अंग्रेजी के शब्दों में होता है।

3. **व्यंजनः** नागरी के सामान्य व्यंजन–चिह्नों की संख्या 33 है। पहले नागरी वर्णमाला के अन्तिम अंश में क्ष, त्र और ज्ञ तीन संयुक्त वर्णों को भी स्थान प्राप्त था, किन्तु अब इन्हें वर्णमाला से निकाल दिया गया है। इनकी अनावश्यकता ही इनके निकालने का मुख्य कारण है। संयुक्त वर्णों को स्वतंत्र वर्ण–चिह्नों के आधार से लिखा जा सकता है; यथा – क्ष > क्ष त्र > त्र, ज्ञ > ज् ञ

   संस्कृत में मूर्द्धन्य ड़ और ढ़ ध्वनियाँ नहीं हैं, किन्तु हिन्दी में इनका पर्याप्त प्रयोग होता है। इस प्रकार नागरी में इन ध्वनियों के लिए लिपि–चिह्नों की व्यवस्था की गई है, किन्तु इन्हें वर्णमाला में स्थान न देकर प्रयोग हेतु अस्तित्व स्वीकार किया गया है। इस रचना प्रक्रिया में नागरी वर्णमाला के ड़ और ढ़ बना लेते हैं। इन चिह्नों का प्रयोग भी खूब होता है; यथा– सड़क, सड़ना; गढ़, गढ़ना।

   नागरी को सर्वगुण आगारी बनाने के प्रयत्न में देखा गया है कि 'ळ' ध्वनि का वैदिक भाषा, मराठी और हिन्दी की कुछ बोलियों में प्रयोग मिलता है। इसलिए इस ध्वनि को वर्तमान नागरी वर्णमाला में स्थान दिया गया है।

   नागरी में कंठ्य, तालव्य, मूर्द्धन्य, दन्त्य और ओष्ठ्य वर्ग की पाँच–पाँच ध्वनियों के लिपि–चिह्न निर्धारित किए हैं इन वर्गों का अन्तिम लिपि–चिह्न नासिक्य ध्वनि के प्रतिनिधि हैं। अन्त में अन्तस्थ और ऊष्म वर्ग की चार–चार ध्वनियों के लिए लिपि–चिह्नों की व्यवस्था है।

4. **नागरी अंक:** किसी भी लिपि के मुख्यतः दो भाग किए जा सकते हैं। प्रथम–वर्ण और द्वितीय–अंक। इन दोनों के समुचित प्रयोग में लिपि का आदर्श–प्रयोग मान सकते हैं। दुर्भाग्य है कि नागरी के सुन्दर, आकर्षक और परम्परागत अंक–चिह्नों के होते हुए उनका प्रयोग न के बराबर हो गया है। नागरी के अंक चिह्नों ० १ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८ ९ के स्थान पर प्रायः देव नागरी अन्तरराष्ट्रीय अंक चिह्नों 0 1 2 3 4 5 6 7 8 9 का प्रयोग किया जाता है। सरकार की भाषायी नीति का परिणाम है कि नागरी के मूल अंक–चिह्नों के प्रयोग–संदर्भ में उपेक्षा हो रही है। इस विषय में पुनर्चिन्तन की आवश्यकता है।

   नागरी के मूल अंकों के प्रयोग का भविष्य उज्जवल हो गया है, क्योंकि वर्तमान कंप्यूटर युग में हिन्दी के साथ, कंप्यूटर परम्परागत अंक चिह्न 1 2 3 4 5 6 आदि को भी अपना चुका है।

मात्राएँ : वर्तमान स्वरूप और महत्त्व

देवनागरी स्वर प्रधान लिपि है। स्वरात्मक आधार पर नागरी लिपि की अक्षरात्मक स्थिति पूर्ण स्पष्ट है। नागरी लिपि की वर्णमाला में स्वरों को पूर्वांश में एक ही साथ स्थान दिया जाता है। स्वरों का प्रारम्भिक स्थान उनकी महत्ता का प्रथम आधार है। नागरी के स्वर तो अपनी स्वरात्मक स्थिति में सदा सामने आते हैं। इसके साथ व्यंजन वर्णों में स्वर का कोई न कोई रूप विद्यमान अवश्य होता है; यथा–

क = क् + अ ग = ग् + अ प = प् + अ

य = य् + अ श = श् + अ ह = ह् + अ

अ– नागरी लिपि का 'अ' स्वर–चिह्न सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि इसके आधार पर व्यंजन वर्णों का मूल उच्चारण संभव होता है।

'अ' एक मात्र ऐसा स्वर है जिसकी स्थिति ह्रस्व मात्रा के अनुकूल उच्चरित होता है, किन्तु अन्य स्वरों के समान इसकी कोई मात्रा नहीं है। इसकी मात्रा की आवश्यकता भी नहीं है, क्योंकि विभिन्न व्यंजनों में इसका स्वरूप स्वतः निहित और सहयोगी रूप में विद्यमान रहता है।

नागरी लिपि के व्यंजनों की आक्षरिकता से इनकी वैज्ञानिकता का तथ्य उभरकर सामने आता है, क्योंकि इससे समय, स्थान और शक्ति के अपेक्षाकृत कम प्रयोग से भी पूर्ण स्पष्ट भाव की अभिव्यक्ति संभव होती है।

अक्षरात्मक रूप	ध्वन्यात्मक रूप
नयन	न् अ य् अ न् अ
करतल	क् अ र् अ त् अ ल् अ

संयुक्त स्वरों में भी 'अ' की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। 'अ' स्वर अन्य मूल स्वरों से संयुक्त होकर संयुक्त स्वरों का स्वरूप प्रस्तुत करता है; यथा–

अ + इ = ए अ + उ = ओ

नागरी लिपि के सभी स्वरों की मात्राएँ अपने मूल रूप का स्पष्ट और अनुकूल प्रतिनिधित्व करती है। उनसे मूल रूप की स्पष्ट झलक प्रकट होती है, जो वैज्ञानिकता का प्रबल प्रमाण है।

आ (ा)

यह नागरी लिपि का पश्च, वृत्ताकार, विवृत एवं प्रथम दीर्घ स्वर है। इसके मात्रा रूप में 'ा' का प्रयोग किया जाता है। इसका स्वरूप पूर्ण स्पष्ट और वैज्ञानिक है, क्योंकि यह मात्रा अपने मूल स्वर 'आ' में स्पष्ट रूप से दृश्य भी है। यदि 'आ' में से 'ा' निकाल दिया जाए, तो यह शेष अंश ह्रस्व 'अ' होता है। इस प्रकार यह मात्रा चिह्न अनुकूल, स्पष्ट और वैज्ञानिक है। दूसरे शब्दों में यह कह सकते हैं कि जब 'अ' कृस्व में 'ा' मात्रा का प्रयोग होता है तो उसका ह्रस्व रूप दीर्घता में बदल जाता है। इस प्रयोग में पूर्णतः एकरूपता है। यह मात्रा वर्णों में सदा दाहिनी ओर शिरोरेखा के नीचे लगती है; यथा–

म > मा, मामा, परमात्मा

न > नाना, अपनाना

यह ह्रस्व, अग्र, अवृत्ताकार, संवृत्त स्वर है। इसके लिए 'ि' मात्रा का प्रयोग किया जाता है। इस मात्रा में मूल स्वर से निकट और विचारणीय, पर्याप्त समानता होती है। यह मात्रा 'इ' का सरलीकृत रूप है। ऊपर के अंश को पूर्ववत् दाहिनी ओर झुकाकर ही रखा गया है, किन्तु नीचे के भाग को सरल कर सीधा किया गया है। दाहिनी ओर झुका हुआ भाग शिरोरेखा के ऊपर कर दिया जाता है। इस प्रकार 'ि' रूप निर्धारण किया गया है। इस मात्रा के लेखिम और स्वनिम से संबंधित दोनों स्वरूप समन्वित दृष्टि से पर्याप्त विवादास्पद रहे हैं। नागरी लिपि के सुधारों में कभी तो इसके पाई अंश का आधा लुप्त किया गया है, तो कभी प्रयोग जनसामान्य द्वारा अस्वीकृत करने से असफल रहे हैं। अब तक इस मात्रा स्वरूप को ही स्वीकृति मिली है, क्योंकि इसमें परंपरागत रूप, सरलता और प्रचलन के गुण हैं।

इस मात्रा का प्रयोग वर्ण के पूर्ण किया जाता है। इसकी मुख्य मात्रा तो ऊपर का अंश है, किन्तु 'ई' की ह्रस्वता को प्रकट करने के लिए 'ा' को साथ किन्तु वर्ण के पूर्व लगाकर इसे 'ि' के रूप में व्यवस्थित किया गया है। यह भी ध्यातव्य है कि पाई जब वर्ण के बाद में आती है तो वर्ण की दीर्घता सूचित होती है, इसलिए इसे वर्ण से पूर्व व्यवस्था दी गई है; यथा–

क > कि – किन, किस	त > ति – तिन, तिल
न > नि – निशा, निधि	म > मि – मित्र, मिल

लेखिम और स्वनिम समन्वय के लिए संस्कृत का ही ध्वन्यात्मक स्वीकृत रहा है कि जब भी 'इ' की मात्रा के पूर्व कोई अर्ध वर्ण आएगा, तो उच्चारण अपने स्थान पर किया जाएगा, किन्तु लेखन में उसे 'ि' के बाद प्रयोग किया जाएगा; यथा–

ध्वन्यात्मकता	लेखिम
सम्मिलित	सम्मिलित
कम्पित	कम्पित
अन्विति	अन्विति

ई (ी)

यह अग्र, अवृत्ताकार, संवृत, दीर्घ स्वर है। इस मात्रा के स्वरूप निर्धारण में 'इ' के ही लगभग समान प्रक्रिया अपनाई गई है। 'ई' की शिरोरेखा के नीचे के भाग को सरलीकृत कर सरल रेखा के रूप में 'ा' बना दिया गया है। और ऊपर के भाग को झुका हुआ ही रखा गया है। इस झुकाव में संवैधानिक अनुकूलता लाई गई है। मात्रा का झुकाव आधारित वर्ण की ओर होना चाहिए। इस आधार पर झुकाव बाईं ओर कर दिया गया है। दाहिनी ओर 'ा' रूप के अस्तित्व से इसकी दीर्घता का स्पष्ट आभास इसकी वैज्ञानिकता है यह मात्रा सदा वर्ण के दाहिनी ओर प्रयुक्त होती है; यथा–

त > ती – तीस, तीन	म > मी – मीत, मीठा
र > री – रीति, रीता	ली > ल – लीला, लीक
ख > खी – रखी, खीर	ली > ल – लीला, लीक

उ (ु)

यह पश्च, वृत्ताकार, संवृत, ह्रस्व स्वर है। इस मूल स्वर के स्वरूप को ध्यान से देखने पर दो अर्ध वृत्तों का स्वरूप दिखाई देता है। मात्र निर्धारण के लिए उसके मूल रूप से समानता अनिवार्य होती है यह 'उ' के नीचे का अर्ध वृत्त भाग मात्रा के रूप में स्वीकार करने की बात आई होगी, तब यह 'ु' मात्रा निर्धारित की गई होगी। यह रूप 'उ' स्वर के नीचे के अंश पर आधारित है। इसलिए इसे वर्ण के नीचे ही लगाने की व्यवस्था दी गई। ऐसे लेखिम में मूलरूप अधिक स्पष्ट रहता है; यथा–

प > पु – पुष्प, पुत्र	क > कु – कुछ, कुल
ट > टु – टुन, टुन	म > मु – मुख, मुखर

इसके स्वरूप को अपेक्षाकृत अधिक स्पष्ट और सुन्दर बनाने के लिए ऊपर के भाग को घुंडीदार बना दिया गया है। यह घुंडी 'उ' के मूल रूप से लेकर ही व्यवस्थित की गई है। इस मात्रा के प्रयोग को व्यवस्थित करने के लिए तीन आधारों को अपनाया गया है–

(अ) यदि वर्ण में पूर्ण पाई का प्रयोग है, तो यह मात्रा पाई के नीचे ही लगेगी।

(i) यह पाई वर्ण के मध्य में हो सकती है; यथा–

क > कु	–	कुछ, कुशल
फ > फु	–	फुट, फुटकर

(ii) यह पाई वर्ण के दाहिने अंश में हो सकती है; यथा–

ख > खु	–	खुद, खुदाई
प > पु	–	पुष्प, पुकार
म > मु	–	मुख, मुखर

(आ) जब वर्ण में पूर्ण पाई का प्रयोग न हो, तो यह मात्रा उसके टेढ़े–मेढ़े रूप के मध्य भाग के सर्वाधिक विस्तृत नीचे के भाग में लगाई जाती है, यथा–

छ > छु	–	छुपी
ट > टु	–	टुन–टुन
ड > डु	–	डुगडुगी
ह > हु	–	हुए

(ई) इस मात्रा के 'र' वर्ण के साथ का प्रयोग दोनों सिद्धांतों से पूर्णतः भिन्न है। जिस प्रकार 'ऊ' के मध्य में नीचे को झुका हुआ भाग लगाया जाता है, उसी प्रकार 'र' में प्रयुक्त कर इसकी रचना प्रक्रिया पूरी की जाती है; यथा र > रू – रूकना, गुरु कुछ विद्वानों ने इस प्रयोग में सुधार का संकेत किया है कि 'र' वर्ण के मध्य भाग में प्रयोग उचित नहीं है। इसके स्थान पर 'र' के नीचे 'रु' लगाने का सुझाव दिया जा रहा है।

जहाँ तक एकरूपता लाने की बात है इसे 'र' में नीचे लगाकर रु बनाना उचित सिद्ध हो सकता है। भाषा नियम सदा ही लचीले होते हैं। वैसे जब तक जनसामान्य द्वारा सहज प्रयुक्ति नहीं होगी, तब तक इसे सैद्धान्तिक मान्यता भी नहीं मिल पाएगी।

ऊ (ू)

पश्च, वृत्ताकार, संवृत, दीर्घ स्वर है। इसके लिए ' ू ' मात्रा का प्रयोग किया जाता है। यह मात्रा 'ऊ' के मूल रूप से ली गई है। जिस प्रकार आ में से 'ा' निकाल देने पर उसका ह्रस्व रूप 'अ' बचता है, उसी प्रकार 'ऊ' में से ' ू ' निकाल देने पर 'उ' ह्रस्व रूप मिलता है। दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि जिस प्रकार ह्रस्व 'अ' में 'ा' लगा देने पर उसका दीर्घ रूप मिल जाता है, उसी प्रकार ह्रस्व 'उ' में ' ू ' मात्रा लगा देने पर 'ऊ' दीर्घ रूप बन जाता है। यह ही उस मात्रा की वैज्ञानिकता है।

इसका प्रयोग पूर्णतः 'उ' की मात्रा के ही सामान्य विभिन्न वर्णों में होता है जिसे निम्नलिखित वर्णों में विभक्त कर सकते हैं–

(अ) यदि वर्ण में पूर्ण पाई का प्रयोग हो, तो यह मात्रा पाई के नीचे लगाई होती है।

(i) यह पूर्ण पाई वर्ण के मध्य में हो सकती है; यथा–

क > कू	–	कूद, कूप
फ > फू	–	फूट, फूल

(ii) यह पाई वर्ण के दाहिने अंश में भी हो सकती है; यथा–

ख > खू	–	खूब, खून
प > पू	–	पूस, पूत
म > मू	–	मूल, मूँग

(आ) जब वर्ण में पूर्ण पाई का प्रयोग न हो, तो यह मात्रा उसके टेढ़े–मेढ़े रूप के मध्य भाग के सर्वाधिक विस्तृत, नीचे के भाग में लगाई जाती है, यथा–

छ > छू – छूट, छूना

ट > टू – टूट, टूक

द > दू – दूना, दूर

(इ) इस मात्रा का 'र' के साथ प्रयोग पूर्णतः 'उ' की मात्रा के समान होता है; यथा– र > रू, स्वरूप। 'र' वर्ण में 'ऊ' की मात्रा प्रयुक्त करते समय यह ध्यान रखना आवश्यक होता है कि इस मात्रा के ऊपरी शिरे पर घुंडी अवश्य बनाएँ; यथा– र > रू – रूप, स्वरूप। यदि 'र' वर्ण में घुंडीविहीन मात्रा लगाई जाएगी तो ह्रस्व 'उ' की मात्रा का स्वरूप होगा; यथा– र > रु – गुरु, रुपया।

कुछ विद्वानों का विचार है कि इस मात्रा को वर्ण में नीचे लगाने से ही एकरूपता हो पाएगी। 'र' में इस प्रकार मात्रा प्रयोग किया जा सकता है; यथा – र > रू – रूप, स्वरूप।

यह प्रयोग जब तक जन सामान्य द्वारा स्वीकृति नहीं पा लेगा, तब तक व्यावहारिक धरातल नहीं पा सकेगा।

ए (े)

यह अग्र, अवृत्ताकार संयुक्त स्वर है। इसके लिए ' े ' मात्रा का निर्धारिण किया गया है। यह स्वरूप संभवतः 'ए' स्वर वर्ण के नीचे के अंश से लिया गया है। वर्ण के नीचे का अंश होने से व्यंजन में नीचे लगाने के प्रावधान पर विचार किया गया होगा किन्तु 'उ' और 'ऊ' की मात्राओं के नीचे प्रयोग होने के कारण इसे व्यंजनों के ऊपर अर्थात् शिरोरेखा पर लगाने का निर्धारण किया गया होगा।

इस मात्रा के प्रयोग संदर्भ में दो विधान किए गए हैं–

(अ) दाहिनी ओर पूर्ण पाई वाले वर्णों पर 'ए' की मात्रा पाई के शीर्ष पर लगाई जाती है; यथा–

ख > खे – खेल, खेत

म > मे – मेल, मेष

त > ते – तेल, तेरा

श > शे – शेर, शेख

(आ) यदि वर्ण के दाहिने आधी पाई हो और मध्य से पूर्ण हो तो यह मात्रा उस पूर्ण पाई पर ही लगती है, यथा–

क > के – केला, केवल

फ > फे – फेन, फेर

(इ) यदि वर्ण टेढ़ी या तिरछी रेखा से निर्मित हो तो यह मात्रा वर्ण की शिरोरेखा के मिलन बिंदु पर लगाई जाती है, यथा–

छ > छे – छेद, छेना

ट > टे – टेक, टेरना

ह > हे – हेतु, हेरना

ऐ (ै)

यह अवृत्ताकार अग्र, संयुक्त स्वर है, इसकी मात्रा (ै) के रूप में होती है। इसका प्रयोग 'ए' की मात्रा के ही समान वर्ग के ऊपर होता है। इसी प्रकार इसके भी तीन प्रावधान हैं।

इस मात्रा के निर्धारण में 'ए' की भाँति नीचे के अंश शिरोरेखा के ऊपर लगाया गया और 'ऐ' के शिरोरेखा के ऊपर के भाग को लेकर ' ै ' बना लिया गया है। यह मात्रा वैज्ञानिक है।

1. जिन वर्णों में पाई दाहिने अंश में होती है, उन वर्णों में इस मात्रा का प्रयोग उसके ही शीर्ष पर किया जाता है–

च > चै	–	चैन, चैत्र
प > पै	–	पैसा, पैना
म > मै	–	मैना, मैदा
स > सै	–	सैर, सैकड़ा

2. जिन वर्णों में पूर्ण पाई मध्य में होती है, उसमें यह मात्रा उसी पाई के शीर्ष पर लगनी है; यथा–

क > कै	–	कैसा, कैवल्य
फ > फै	–	फैला, फैलना

3. जिन वर्णों की रचना टेढ़ी–मेढ़ी रेखाओं से होती है, उन वर्णों में यह मात्रा वर्ण की शिरोरेखा और वर्ण के मिलन बिंदु पर लगाते हैं; यथा–

छ > छै	–	छैला, छैटिक
ड > डै	–	डैना
र > रै	–	रैणा, रैवत
ह > है	–	है, हैं

ओ (ो)

यह वृत्ताकार अग्र, संयुक्त स्वर है। इसकी मात्रा पर्याप्त स्पष्ट और पूर्ण वैज्ञानिक है, 'ओ' के साथ इसकी मात्रा ' ो ' का स्वरूप दृश्य रूप में विद्यमान रहता है। यह मात्रा मूल स्वर में शिरोरेखा के नीचे दाहिने ओर साथ ही शिरोरेखा के ऊपर तक रहती है। यह मात्रा इसी रूप में इसी स्थिति में व्यंजनों के साथ प्रयुक्त होती है, अर्थात् यह मात्रा व्यंजन के साथ सदा दाहिने शिरोरेखा के नीचे और ऊपर प्रयुक्त होती है; यथा–

क > को	–	कोना, कोर
त > तो	–	तोल, तोप
म > मो	–	मोर, मोल
श > शो	–	शोर, शोला

यहाँ यह द्रष्टव्य है कि यह मात्रा जिस प्रकार पाई वाले व्यंजनों के दाहिने लगती है, उसी प्रकार टेढ़ी–मेढ़ी रेखाओं से बने व्यंजनों के भी दाहिने लगाई जाती है; यथा–

ड > डोर	–	डोर, डोलना
छ > छो	–	छोर, छोड़ना
ह > हो	–	होली, होड़

संयुक्त वर्णों में भी यह मात्रा इसी पद्धति से दाहिनी ओर लगाई जाती है।

क्ष > क्षो	–	क्षोभ, क्षोम
द्य > द्यो	–	द्योतक, द्योतन
त्र > त्रो	–	त्रोटक, त्रोत्र

औ (ौ)

यह वृत्ताकार, पश्च संयुक्त स्वर है। इसकी मात्रा भी अपने मूल स्वरों में स्पष्ट दिखाई देती है। जिस प्रकार ओ से ' ो ' मात्रा निर्धारित की गई है, उसी प्रकार औ से ' ौ ' की मात्रा निर्धारित की गई है। 'अ' के आधार पर विकसित औ में से 'अ' दृश्य रूप निकाल दें तो ' ौ ' बचता है।

यह मात्रा भी 'ओ' की मात्रा के समान व्यंजनों में सदा ही दाहिनी ओर लगाई जाती है। इस मात्रा का पाई वाला अंश नीचे और शेष भाग इसके शीर्ष पर शिरोरेखा के ऊपर होता है; यथा–

ग > गौ	–	गौर, गौतम
च > चौ	–	चौर्य, चौराहा
म > मौ	–	मौत, मौर्य

टेढ़ी–मेढ़ी रेखाओं से बने व्यंजनों में भी यह मात्रा इसी प्रकार लगाई जाती है; यथा–

द > दौर्जन्य, दौहित्र
ढ > ढौक, ढौकन
र > रौताई, रौद्र

संयुक्त वर्णों के साथ इसका प्रयोग सदा दाहिनी और ही होता है; यथा–

प्र > प्रौ	–	प्रौढ़, प्रौढ़ा
क्ष > क्षौ	–	क्षौर, क्षौरिक

देवनागरी की विभिन्न स्वर–मात्राओं के स्वरूप–चिंतन और विश्लेषण से यह तथ्य स्पष्ट होता है कि इनका स्वरूप निर्धारण पूर्ण वैज्ञानिक है। इनके वर्तमान स्वरूप में उनका मूल रूप भी स्पष्ट दिखाई देता है। समय, स्थान और शक्ति के सीमित प्रयोग से ही पूर्ण और स्पष्ट अभिव्यक्ति मात्रा को परम विशेषता और महत्ता है।

मात्रा के साथ अनुनासिकता-प्रयोग

1. जब मात्रा का स्वरूप शिरोरेखा के नीचे तक ही सीमित रहता है और उसे अनुनासिक रूप में लिपिबद्ध करना होता है तो अनुनासिक चिह् के मूल रूप को शीर्ष पर शिरोरेखा के ऊपर प्रयुक्त होता है; यथा–

   आँख, चाँद, फाँद

2. जब मात्रा का प्रयोग वर्ण में प्रयुक्त दाहिनी ओर की पूर्ण पाई के नीचे होता है, तो अनुनासिक चिह् उक्त पूर्ण पाई और शिरोरेखा के मिलन स्थल के ऊपर मूल रूप में होता है; यथा–

   मुँह, घूँट, पूँछ

3. जब वर्ण के दाहिनी ओर अर्द्ध पाई हो और वर्ण–मध्य में पूर्ण पाई हो, तो 'उ' तथा 'ऊ' की मात्रा मध्य की पूर्ण पाई में नीचे लगाते हैं। ऐसे में इसी पूर्ण पाई के ऊपर अनुनासिक चिह्न मूल रूप से लगाया जाता है; यथा–

   कुआँ, कूँडी
   फुँकनी, फूँकना

4. जब मात्रा का प्रयोग शिरोरेखा के ऊपर हो और अनुनासिक चिह्न लगाना हो, तो यह चिह्न बदलकर अनुस्वार के समान बिन्दु रूप में लगाया जाता है; यथा–

उच्चारण	लेखन
मेँ	में
रहँगे	रहेंगे
हैँ	हैं

5. जब मात्रा वर्ण–शिरोरेखा के नीचे से ऊपर तक लगे, तो अनुनासिक चिह् बिन्दु के रूप में लगाया जाता है; यथा–

उच्चारण	लेखन
नहीँ	नहीं
चलीँ	चलीं
घटनाओँ	घटनाओं
हौँस	हौंस

नागरी लिपि में मात्रा व्यवस्था से एक ओर समय, शक्ति और स्थान की बचत हुई है, तो दूसरी ओर अभिव्यक्ति में स्पष्टता आई है।

2. कामकाजी हिंदी

(क) संक्षेपण

किसी भाव–विचार, समाचार–संदेश और लेख–आलेख को कम से कम शब्दों में पूर्णता और स्पष्टता के साथ व्यक्त करना संक्षेपण है। इसके लिए संक्षिप्तीकरण और संक्षेपीकरण नाम भी दिए जाते हैं।

संक्षेपण की व्युत्पत्ति संक्षिप् + ल्युट् + अन्न के रूप में की जा सकती है। इसमें काट–छांट कर संक्षिप्त करने की क्रिया होती है। वर्तमान वैज्ञानिक युग में भाव को संक्षिप्त और सारगर्भित बनाकर प्रस्तुत करना ही श्रेष्ठता है। वास्तव में यह भी एक कला है, जो सतत अभ्यास से विकसित होती है। आज के कंप्यूटर युग में संक्षिप्तता, स्पष्टता और त्वरा का महत्व बहुत बढ़ गया है। इंटरनेट के आगमन और उस पर हिंदी के कुशल प्रयोग से संक्षेपण का महत्व और बढ़ गया है।

वर्तमान समय में परीक्षाओं के स्वरूप में पर्याप्त परिवर्तन आ चुका है। प्रश्न का शब्द–सीमा में उत्तर देना होता है। प्रतियोगी परीक्षाओं में इस कला को विशेष महत्व दिया गया है। सीमित शब्दों में स्पष्ट अभिव्यक्ति को अधिमान दिया जाता है। वर्तमान मीडिया अर्थात् आकाशवाणी, दूरदर्शन पर तो समय की सीमा को बहुत गंभीरता से लिया जाता है। परिसंवाद वार्ता आदि सभी की अवधि नियति होती है। दूरदर्शन पर तो एक मिनट में कई समाचार प्रस्तुत किए जाने लगे हैं। निर्धारित अवधि का अनुपालन करते हुए प्रस्तुति ही सफलता का आधार है। इस प्रकार वर्तमान जीवन के ही समान लेखन में संक्षेपण का महत्व बहुत बढ़ गया है।

संक्षेपण की परंपरा बहुत पुरानी है। इसी कला के विकास से सूत्रात्मक भाषा सामने आई है। वेद के एक–एक सूत्र में अत्यंत विस्तृत विचार का स्वरूप देख सकते हैं। ऐसे सूत्रों के कंठाग्र करने और उनकी व्याख्या करते रहने की समृद्ध परंपरा रही है। वर्तमान वैज्ञानिक युग में सारगर्भित, संक्षिप्त व्याख्यान और आलेख को विशेष महत्व दिया जाता है। कार्यालय में विभिन्न विवरणों, पत्रों और विचारणीय विषयों पर सफल टिप्पणी करने के लिए संक्षेपण की कला विशेष उपयोगी सिद्ध होती है।

इस प्रकार संक्षेपण के द्वारा कम समय और कम शक्ति में अपेक्षित अभिव्यक्ति संभव होती है। इस प्रकार इसकी उपयोगिता स्वयं सिद्ध है।

संक्षेपण–प्रक्रिया

संक्षेपण–प्रक्रिया हेतु संबंधित भाषा पर अधिकार होना अनिवार्य होता है। भाषा–शक्ति के द्वारा ही समग्र भाव को ग्रहण कर सीमित शब्दों में अभिव्यक्ति प्रदान की जाती है। इस प्रक्रिया में निम्नलिखित तत्वों पर ध्यान रखना होता है–

1. **वाचनः** मूल पाठ या संदर्भ को एकाग्रता, गंभीरता से पढ़ कर मूल भाव ग्रहण करना चाहिए। इसके साथ ही महत्वपूर्ण अंशों को हृदयगंम करना चाहिए। एक बार के त्वरित पाठ पर यदि भाव ग्रहण में स्पष्टता न हो, तो दो या तीन बार पढ़ कर समग्र भाव का ग्रहण करना अनिवार्य होता है।

2. **महत्वपूर्ण अंश रेखांकनः** मूल पाठ के केन्द्रीय भाव ग्रहण के पश्चात् उससे जुड़े महत्वपूर्ण शब्दों पदों या वाक्यों को रेखांकित कर लेना चाहिए। इससे उत्तम कोटि का संक्षेपण होता है, जिससे सभी मुख्य बातें आ जाती हैं।

3. **अनुच्छेद योजनाः** मूल पाठ से मुख्य तथ्यों या अंशों के ग्रहण करते हुए भावाभिव्यक्ति के लिए अपने वाक्यों की रचना की जाती है इससे संक्षेपण में मौलिकता आ जाती है। संक्षेपण में चमत्कारिक या मुहावरेदार–अलंकृत भाषा का प्रयोग होना चाहिए। सरल वाक्यों की रचना संक्षेपण के लिए उपयोगी होती है। वर्णनात्मक वाक्यों को सूत्रात्मक वाक्य में परिवर्तन कर लेना चाहिए। संवाद शैली पर आधारित पाठों के संक्षेपण में सामान्य वाक्य–रचना उपयोगी होती है।

   संक्षेपण प्रायः मूल पाठ का एक–तिहाई भाग होता है। इस प्रकार मूल पाठ के तीन वाक्यों के स्थान पर एक वाक्य की योजना उपयोगी होती है।

4. **स्पष्टताः** संक्षेपण में जहाँ मूलपाठ के केन्द्रीय भाव के साथ अन्य महत्वपूर्ण तथ्यों का होना आवश्यक है, वहीं उनको संक्षिप्त प्रस्तुति में स्पष्ट अभिव्यक्ति होनी चाहिए। इसके लिए मूलपाठ के संक्षिप्तीकरण में अपनी ओर से कुछ नहीं

जोड़ना चाहिए। इसके साथ ही किसी संदर्भ को दूसरी बार नहीं लाना चाहिए। स्पष्टता के लिए भाषा पर अधिकार होना चाहिए। ऐसा होने पर गागर में सागर भर कर उत्तम संक्षेपण लेखन संभव होता है।

5. **शीर्षक:** मूल पाठ का शीर्षक केन्द्रीय भाव पर आधारित होता है। शीर्षक की ऐसी भाषा होनी चाहिए जिसे पढ़ते ही पाठ का मूल पाठ प्रथम दृष्टि में ही सामने आ जाए। शीर्षक का संक्षिप्त रूप ही उपयोगी माना जाता है। शीर्षक चयन मूल पाठ से दो–तीन शब्दों को आधार बनाकर किया जा सकता है। नए और सटीक शब्द या दो–तीन शब्दों का चयन अलग से भी किया जा सकता है।

6. **पुनरावलोकन:** संक्षेपण लिख लेने के पश्चात् एक बार गंभीरता से पढ़ लेना चाहिए कि पूरा भाव आ गया है या नहीं? संक्षेपण में अनुकूल स्पष्टता है? भाषा भी अपेक्षित रूप में है? ऐसा होने पर सुधार कर अनुकूल रूप प्रदान करना चाहिए।

आदर्श संक्षेपण स्वरूप

आदर्श संक्षेपण अपने में पूर्ण मौलिक रचना होती है, जो मूल पाठ या विषय की एक–तिहाई में होती है। इसमें केन्द्रीय भाव अपेक्षाकृत अधिक स्पष्ट होता है। इसकी रेखांकन योग्य कुछ विशेषताएं इस प्रकार होती है–

1. **पूर्णता:** संक्षेपण में मूलपाठ का लगभग एक तिहाई ही विस्तार होता है। इसमें केन्द्रीय भाव के साथ समग्र भाव स्वरूप विद्यमान होता है। इसमें कोई अनावश्यक या असंबद्ध तथ्य नहीं होता है। विभिन्न भाव–बिन्दुओं को क्रमशः प्रस्तुत कर भाव–पूर्णता बनाए रखना अनिवार्य होता है।

2. **संक्षिप्तता:** संक्षेपण नाम से ही स्पष्ट है कि मूलपाठ को संक्षिप्त रूप में प्रस्तुत किया जाता है। संक्षेपीकरण में ध्यान रखना होता है कि मूलपाठ का कोई महत्वपूर्ण अंश छूटने न पावे। इस प्रक्रिया में मूलपाठ का लगभग एक–तिहाई रूप अपनाना वैज्ञानिक होता है।

3. **मौलिकता:** संक्षेपण में मूलपाठ के कुछ वाक्यों को पूर्ववत् अपनाना उचित नहीं है। छोटे मूलपाठ को पूरा पढ़कर अपनी भाषा में संक्षेपण करना चाहिए। यदि मूलपाठ विस्तृत हो, तो कुछ अंश पढ़कर उसका संक्षेपण अपनी भाषा में करके फिर शेष भाग को इसी क्रम से अपनी भाषा में प्रस्तुत करना चाहिए। मौलिकता ही संक्षेपण को प्रभावी रूप प्रदान करती है।

4. **स्पष्टता:** संक्षेपण में भाषा का सरल और भाव का प्रवाहमय तरल रूप होना अनिवार्य होता है। प्रत्येक वाक्य की रचना पूर्ण सुस्पष्ट होनी चाहिए। जब मूलपाठ के भावक्रम को सरल रूप में और यथाक्रम में प्रस्तुत किया जाता है, तो उसमें स्पष्टता होना स्वाभाविक है। स्पष्टता संक्षेपण को अपनी प्रमुख विशेषता है।

5. **शीर्षक:** पुस्तक का नामकरण जिन गुणों से सम्पन्न होता है, मूलपाठ का शीर्षक भी उन्हीं गुणों से सम्पन्न होना चाहिए। शीर्षक पढ़ते ही मूलपाठ के केन्द्रीय भाव के ज्ञान के साथ समग्र भाव का स्पष्ट आभास हो जाना चाहिए। शीर्षक सीमित शब्दों का होना विशेष उपयोगी होता है। शीर्षक होने से पाठक प्रथम दृष्टि में ही मूलपाठ के भाव को ग्रहण कर लेता है। यह ही शीर्षक की सफलता का परिचायक है।

उदाहरण 1: विश्वविद्यालय अनुदान आयोग द्वारा देश के सभी विश्वविद्यालयों में समान पाठ्यक्रम लागू करने के लिए एक समिति का गठन किया गया। समिति ने राष्ट्रीय स्तर पर लागू करने के लिए एक पाठ्यचर्चा भेजी गई है। सभी विश्वविद्यालय इसे लागू करने पर विचार कर रहे हैं।

संक्षेपण: विश्वविद्यालय अनुदान आयोग द्वारा राष्ट्रीय स्तर पर समान पाठ्यक्रम लागू करने हेतु तैयार पाठ्यचर्चा पर सभी विश्वविद्यालय विचार कर रहे हैं।

उदाहरण 2: पहले दिन मैं विद्यार्थियों के एक होटल में ठहरा था–एक छात्रावास में जो कि ग्रीष्मावकाश में विद्यार्थियों द्वारा होटल के रूप मे चलाया रहा था। किन्तु दूसरे दिन मेरे लिए दूसरी जगह व्यवस्था कर दी गई। यह दूसरा होटल प्राइवेट होटल था। कुल आठ कमरे और पहाड़ी ढाल पर बनी हुई पांच मंजिलों की इमारत में पांचवीं मंजिल पर था। यह होटल 'लेखकों का होटल' के नाम से प्रसिद्ध था। कुछ ऐसी परंपरा थी कि स्टामहोम आने वाले विदेशी लेखक यहीं ठहरते या ठहराए जाते थे। होटल का खाता देखने पर अनेक प्रसिद्ध नाम मुझे मिले, यह भी ज्ञात हुआ कि स्ट्रिंडबर्ग भी कभी वहां रहे थे।

संक्षेपण: स्टाकहोम के इस 'लेखकों के होटल' में प्रायः हर आने वाले लेखक को ठहराया जाता था।

(ख) पल्लवन

पल्लवन प्रक्रिया संक्षेपण प्रक्रिया के ठीक विपरीत है। संक्षेपण में मूलपाठ का सार प्रस्तुत किया जाता है, जबकि पल्लवन में मूल कथन को विस्तृत करते हुए प्रस्तुत किया जाता है। विस्तार करने की प्रक्रिया को देखते हुए इसे विशदीकरण और भाव–विस्तार भी नाम दिया जाता है। इस प्रकार किसी गंभीर संक्षिप्त भाव या विचार को स्पष्ट करने के लिए किया जाने वाला विस्तारीकरण पल्लवन है।

प्राचीनकाल से सूत्रात्मक भाषा के प्रयोग की परंपरा चली आ रही है। साहित्यकारों, विचारकों, दार्शनिकों और मनीषियों के द्वारा आदर्श वाक्य, सूक्तियों का प्रयोग किया जाता रहा है। ऐसे सूत्रात्मक अभिव्यक्ति को स्पष्ट करने के विस्तार दिया जाना अनिवार्य होता है। ऐसी प्रक्रिया में सूक्ति या नीति वाक्य विस्तार पाकर लघु निबन्ध का रूप धारण कर लेता है। इसमें पल्लवनकर्ता अपने तर्क का भी उपयोग करता है। भाषा अभिव्यक्ति का आधार है। इसलिए पल्लवन में श्रेष्ठ भाषाविद् की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। मूलपाठ के शब्दों, पदों और वाक्यों के अर्थ और भाव को विस्तार देते हुए उसे सरल भाषा में प्रस्तुत करना होता है।

जिस प्रकार साहित्य, दर्शन और व्याकरण आदि में पल्लवन का महत्व है, उसी प्रकार प्रयोजनमूलक हिंदी में इसका महत्त्व है। हिंदी सलाहकार के द्वारा अधिकारियों, मंत्रियों के समक्ष आए सूत्रात्मक वाक्यों को बोधगम्य बनाने के लिए पल्लवन करना होता है।

पल्लवन प्रक्रिया

1. सर्वप्रथम मूलपाठ को पढ़कर उसके मूलभाव को हृदयगंम करना चाहिए। इसके साथ ही पूरे पाठ का समग्रभाव से सुपरिचित हो जाना चाहिए।
2. अवतरण आए विशेष शब्दों, सूक्तियों आदि को ध्यान से पढ़कर उसका स्पष्ट भाव समझ लेना चाहिए।
3. पल्लवन में केन्द्रीय भाव की मूल तथा गौण दिशाओं पर विचार करने के पश्चात् उनमें से उपयोगी अंश अपनाया जा सकता है।
4. मूलभाव को स्पष्ट करने के लिए समतुल्य उदाहरणों का उपयोग किया जा सकता है। इससे भावात्मक स्थिति पर्याप्त स्पष्ट हो जाती है।
5. मूलभाव को केन्द्र में रखते हुए अनुच्छेद के विभिन्न भावों को पूर्वक्रमानुसार रखना ही उपयोगी होता है।
6. पल्लवन में ध्यान रखना चाहिए कि अनावश्यक उदाहरण या अनावश्यक चर्चा से विस्तार नहीं होना चाहिए।
7. पल्लवन में व्याख्यात्मक रूप अपनाकर भाव या भाषा सौन्दर्य की चर्चा नहीं होनी चाहिए।
8. किसी उक्ति या कथन को असहमत होने पर भी उस पक्ष की ही चर्चा करनी होगी, किन्तु उसका खण्डन नहीं करना चाहिए।
9. पल्लवन की भाषा सरल, सहज तथा बोधगम्य होनी चाहिए। अनावश्यक चमत्कारिक या अलंकारिक भाषा के प्रयोग से बचना चाहिए।
10. पल्लवन में अन्य पुरुष का उपयोग होना चाहिए।
11. पल्लवन में अति विस्तार से भी बचना चाहिए।

उदाहरण 1: "लघुता से प्रभुता मिले प्रभुता से प्रभु दूर।"

विनम्रता मनुष्य की सफलता का विशेष आधार है। विनम्र व्यक्ति गुणों का ग्राहक बनकर धीरे– धीरे शिक्षित और गुणी बन जाता है। विनम्रता में पल्लवित होने वाली श्रद्धा भावना उसे श्रेष्ठ व्यक्तियों का सानिध्य प्रदान करती है। सज्जनों की संगति से उसे प्रभुता मिल जाती है, क्योंकि कहा भी गया है, "जैसी संगति बैठिए तैसे ही गुण होत।"

संसार गुणों और विशेषताओं से भरा हुआ है। आवश्यकता है उसको अपनाने के लिए सुपात्र बनने की। यदि हम किसी के उठे हुए हाथ के नीचे अपना हाथ रखकर कुछ पाना चाहेंगे, तो अवश्य मिलेगा, किन्तु यदि उस हाथ से ऊपर रखकर उसमें से पाने

की आशा रखेंगे, तो असफल ही होंगे। इसी प्रकार यदि मनुष्य में अहं का भाव भर जाएगा, तो विनम्रता होगी, न गुण–ग्राह्यता आएगी और न ही भक्ति का आदर्श भाव विकसित हो सकेगा। इस प्रकार विनम्रता ही मनुष्य को गुणसम्पन्न कर ईश्वर–प्रदान कराती है।

उदाहरण 2: ''परिश्रम सफलता की कुंजी है।''

मनुष्य को जीवन का वास्तविक आनन्द अपने श्रम से प्राप्त होता है। जो सुबह से शाम तक अपना खून–पसीना एक करते हुए कर्मक्षेत्र में लगा रहता है, चिंता उससे दूर–दूर बहुत दूर भाग जाती है। ऐसे व्यक्ति के मन में व्यर्थ की बातों को सोचने का अवसर ही नहीं मिलता है। परिश्रमी व्यक्ति के लिए कोई भी लक्ष्य दूर नहीं, कोई भी सस्ता दुर्गम नहीं। वह संघर्ष में मुस्कुराता हुआ आगे बढ़ता रहता है। उसे अपने चिंतन और शक्ति पर पूरा विश्वास होता है। वह किसी के सहारे नहीं रहता। वह आत्मबल पर विश्वास और आत्म–सम्मान का अभिलाषी होता है। वह जानता है कि उसके पास दो हाथ और इन्हीं हाथों के बल पर सफलता का वरण करता है। वह अपनी भाग्य का स्वयं निर्माता है। उसमें कठिनता को सरलता में बदलने की अपूर्व शक्ति होती है। परिश्रमी व्यक्ति को अपूर्व आनन्द की अनुभूति और जीवन में सतत सफलता मिलेती है।

(ग) टिप्पण

'टिप्पणी' के लिए अंग्रेजी में 'Note' शब्द का प्रयोग पर्याय रूप में किया जाता है। सभी कार्यालयों में विभिन्न संदर्भों से पत्राचार का कार्यक्रम चलता रहता है। विभिन्न आवेदनों और फाइलों को निपटाने के लिए समय–समय पर अध्युक्तियां (Remarks) लिखी जाती हैं, उन्हें टिप्पणी (Noting) कहते हैं। दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि वे अभ्युक्तियां जो किसी विचाराधीन विषय पर लिखी जाती हैं, जिसके आधार पर उसका निस्तरण संभव हो।

टिप्पणी लिखते समय संबंधित अभिलेख, नियम, उपनियम या अधिकारिक निर्देश को अच्छी तरह देख कर उसका संदर्भ देना चाहिए। यदि नीति संबंधी कोई विशेष विषय हो तो नियम–विरणिका संग्लन करना उपयोगी होता है। अधिकारी की सुविधा को ध्यान में रखकर निर्दिष्ट पताका (फ्लैग) लगाना चाहिए।

टिप्पण विषय–संगत और संक्षिप्त होनी चाहिए। टिप्पणी का स्पष्ट और स्वतःपूर्ण रूप उसकी पहचान है। टिप्पणी में निम्नलिखित तथ्य संभावित होते हैं–

विचारार्थ प्रस्तुत विषय से संबंधित पूर्ण की कार्यवाही, पत्र–व्यवहार आदि का संक्षिप्त–'सार' हो सकता है।

उद्देश्यः कार्यालयीय पत्र या विषय पर किसी अधिकारी से सीधे अनुमोदन कराया जा सकता है, किन्तु यदि बाद में कोई प्रश्न उठाता है कि ऐसा निर्णय क्यों लिया गया? इस तथ्य को स्पष्ट करने के लिए टिप्पणी की आवश्यकता होती है। टिप्पणी से यह स्पष्ट हो जाता है कि किस परिस्थिति या नियम के अनुसार निर्णय लिया गया है। टिप्पणी एक ऐसा आधार है जिससे अधिकारी को अनुमोदन के लिए उपयोगी आधार मिल जाता है। इनमें कुछ प्रमुख हैं–संबंधित विषय या समस्या से जुड़ी समस्त उपयोगी जानकारी मिल जाती है। अधिकारी को निर्णय लेने के लिए एकाधिक विकल्प सामने आ जाते हैं, जिनमें से उपयुक्त विकल्प का चयन संभव हो जाता है।

सैद्धांतिक आधारः कार्यालय में अनेकानेक प्रकार के विषय आते रहते हैं। अधिकारी द्वारा निर्णय लेने से पूर्व टिप्पण की अपेक्षा होती है। अनुकूल और तर्कसंगत टिप्पणी के लिए विवेक, चिंतन और आत्मविश्वास भरे मानसिक संतुलन की आवश्यकता होती है। टिप्पण–लेखन के अनुरूप निर्णय लिया जाता है, जिसमें उसकी विशेष भूमिका होती है। टिप्पण–लेखन के समय कुछ प्रमुख बातों पर ध्यान रखना चाहिए–

1. टिप्पण सदा ही निर्धारित कागज पर ही लिखना चाहिए।
2. टिप्पण लिखते समय टिप्पण कागज के बगल में पर्याप्त स्थान (margin) छोड़ा जाता है। इस भाग में क्रमांक, पताका, अंक या संकेत विवरण और प्राप्तकर्ता का नाम लिखते हैं।
3. सरकारी पत्र या विषय के संदर्भ में टिप्पण लिखते समय प्रारंभ में पत्र–संदर्भ (पत्रांक, दिनांक आदि) का उल्लेख अवश्य करना चाहिए।

4. टिप्पण पूर्णरूपेण विषय से ही संबंधित होनी चाहिए। विचार भी स्पष्ट होना चाहिए।
5. टिप्पण का स्वरूप संक्षिप्त अर्थात् नातिलघु नातिदीर्घ हो। जितने सीमित–विस्तार से भाव स्पष्ट हो, उतना ही विस्तार होना चाहिए।
6. पत्र में जितने तथ्यों का उल्लेख जिस क्रम से हो, उसी क्रम में उन पर टिप्पण लिखना चाहिए।
7. टिप्पण में यदि अनुच्छेद के अनुसार क्रमांक डाला जाए, तो अधिक उपयोगी होता है।
8. टिप्पण में विषय से सबंधित तर्क, नियम या पूर्व के निर्णय आदि का उल्लेख उपयोगी होता है। कार्य सम्पन्नता हेतु दिया जाने वाला सुझाव अंत में होना चाहिए।
9. टिप्पण की संक्षिप्तंता बनाए रखने के लिए किसी तथ्य या संदर्भ की पुनरावृत्ति नहीं होनी चाहिए।
10. समस्या समाधान या विषय–निष्पादन के लिए संभावनाओं की स्थिति में विकल्प भी सुझाया जा सकता है। इससे अधिकारी को चिंतन–आधार पर निर्णय की सुविधा हो।
11. यदि पत्र या विषय से संबंधित किसी तथ्य में कोई भूल हो, तो उसका उल्लेख अवश्य करना चाहिए, किन्तु ऐसे में भाषा पूर्ण संतुलित होनी चाहिए। किसी पर आक्षेप लगाने वाली भाषा का प्रयोग नहीं होना चाहिए।
12. यदि किसी विषय–संदर्भ में कई अनुस्मारक दिए गए हों, तो उनकी संख्या बताते हुए अंतिम अनुस्मारक का संदर्भ (पत्रांक–दिनांक) अवश्य देना चाहिए।
13. टिप्पण सदा तटस्थ भाव से लिखनी चाहिए अर्थात् व्यक्तिगत संबंधों से ऊपर उठकर टिप्पण लिखना अनिवार्य होता है। अन्यथा टिप्पण का उद्देश्य समाप्त हो जाएगा।
14. टिप्पण की भाषा सरल, सहज और बोधगम्य होनी चाहिए। हिंदी में टिप्पण लिखते समय यदि किसी शब्द के भिन्न अर्थ में ग्रहण करने की संभावना हो या अस्पष्टता लगे, तो उसके लिए कोष्ठक में उसका पर्यायी अंग्रेजी शब्द लिख देना चाहिए।
15. टिप्पण लिखने के पश्चात् अंत में अद्याक्षर (Initial) अवश्य करना चाहिए।

इस प्रकार टिप्पण के विषय में कहा जा सकता है कि टिप्पण आत्म–विश्वास, गंभीर चिंतन और तटस्थ भाव से संयत भाषा में, संक्षिप्त रूप से, तर्कसंगत–नियम पुष्ट और स्पष्ट रूप से लिखना ही उसकी अनुकूलता और श्रेष्ठता का परिचायक है।

टिप्पणी के भेद

टिप्पण को संबंधित विषय और उसके लेखन को दृष्टिगत कर निम्नलिखित प्रमुख भागों में विभक्त कर सकते हैं–

1. **लघु टिप्पण (Short Noting):** इसके लिए 'टीप' शब्द का भी प्रयोग किया जाता है। जब एक कर्मचारी के पास से दूसरे कर्मचारी या अधिकारी के पास पत्र या कागज भेजा जाता है तो बाईं और किनारे पर लघु टिप्पण लिखा जाता है। एक अनुभाग से दूसरे अनुभाग या एक शाखा से दूसरी शाखा में पत्र/कागज भेजते समय ऐसे टिप्पण का उपयोग किया जाता है।

   जब किसी अधिकारी अथवा कर्मचारी से अनौपचारिक रूप से निर्देश पाने या विचार जानने के लिए कुछ लिखना होता है, तो वह लघु टिप्पण ही होता है; यथा–सम्मति के लिए, विचारार्थ, अवलोकनार्थ आदि।

   औपचारिक कार्यवाही में लघु टिप्पण उपयोगी होता है; यथा–उच्च अधिकारी से कार्य सम्पन्न कराने के लिए अग्रसारित, संस्तुत आदि लिखा जाता है।

   अधिकारी के द्वारा अधीनस्थ कर्मचारी को भी निर्देश देने के लिए 'लघु टिप्पण' का प्रयोग किया जाता है; यथा–बात करें, विमर्श करें, कृपया मिलिए, देख लिया, ठीक है आदि।

2. **सामान्य टिप्पण (Simple Noting):** जब कोई पत्र या कागजात कार्यालय में आता है, तो पहला टिप्पण सामान्य प्रकृति का ही होता है। किसी पत्र या कागजात को उसके उद्देश्य तक पहुंचाने के लिए प्रारंभिक टिप्पण में विषय का स्पष्ट और विवरणात्मक रूप प्रस्तुत करना अनिवार्य होता है। प्रारंभिक विवरण की पूर्णता और स्पष्टता से उसके अनुकूल और

कम से कम समय में निटाने का सबल आधार मिलता है। समग्र जानकारी से अधिकारी को स्वीकृति करने, अनुमोदन करने अथवा आदेश करने में सरलता होती है।

3. **समग्र टिप्पण (Full Noting):** जब किसी विवादास्पद विषय या बहुत दिनों से उलझे हुए प्रसग पर टिप्पण देना होता है, तो उसमें विषय पर गंभीरता से विचार कर विषय पर विस्तार से प्रकाश डालने की आवश्यकता होती है। ऐस उलझे विषय से संबंधित पूर्व के समस्त टिप्पण का अध्ययन करते हुए उसकी विषयवस्तु को ही समझना होता है। लम्बे समय से लंबित विषय के पूरे इतिहास की जानकारी के पश्चात् ही सामने आई समस्या पर अनुकूल विचार संभव होता है। इसके साथ यह भी ध्यान रखना होता है कि यदि इस प्रकार का विषय ऐसी समस्या पहले कभी आई हो तो उसका समाधान कैसे हुआ था, देखना अनिवार्य होता है। यदि कार्यालय या मंत्रालय में ऐसी प्रक्रिया रही हो, तो उसे आधार बनाना उपयोगी होता है। ऐसे विवादित विषय में नियम–उपनियम आदि का भी उल्लेख करना होता है।

   समग्र टिप्पण में तथ्य–विवरण, तर्क–आधार और नियम एवं उपनियम से पुष्ट संयत विचार होता है। समग्र टिप्पण कार्यालय या मंत्रालय के लिपिक अथवा सहायक के द्वारा तैयार किया जाता है। अधिकारी द्वारा विवादास्पद विषय का समाधान इसी समग्र टिप्पण के विस्तृत फलक के ही आधार पर संभव होता है।

2. **विभागीय टिप्पण (Sectional Noting):** एक मंत्रालय या संस्थान से जुड़े हुए अनेक विभाग या अनुभाग होते हैं। प्रत्येक विभाग या अनुभाग का कार्य बांटा होता है। जिसके निष्पादन का भार उक्त विभाग या अनुभाग पर होता है। कभी–कभी ऐसे विषय या संदर्भ आ जाते हैं, जिन पर सभी विभागों या अनुभागों से अलग–अलग विचार जानने की आवश्यकता होती है। प्रत्येक विभाग या अनुभाग अपनी कार्य–प्रक्रिया के आलोक में टिप्पण तैयार करता है। समस्त विभागों से टिप्पण उपलब्ध कर बाद में निर्णय लिया जाता है।

हिंदी टिप्पण में प्रयुक्त प्रमुख वाक्य

हिंदी में टिप्पण लिखना सरल है। छोटे–छोटे वाक्यों के आधार पर टिंप्पण लिखना उपयोगी होता है। ध्यान रखना चाहिए कि हम उसी शब्द का प्रयोग करें, जिससे सुपरिचित हैं। सरल तथा छोटे वाक्यों का प्रयोग निश्चय ही उपयोगी है। कुछ बहुप्रचलित टिप्पण के छोटे–छोटे वाक्य उद्धरणीय है।

1. अग्रसारित।
2. आदेशार्थ प्रेषित।
3. संस्तुत।
4. सूचनार्थ प्रेषित।
5. विचारार्थ प्रेषित।
6. कृपया बात करें, बात करें।
7. विमर्श करें।
8. अपेक्षित विवरण प्रस्तुत करें।
9. आगे कोई कार्यवाही अपेक्षित नहीं है।
10. हम ऊपर के 'क' भाग के सहमत हैं।
11. अनुस्मारक भेजें।
12. यह विषय इस विभाग का नहीं है। यह विषय वाणिज्य विभाग का है। उक्त विभाग में भेजा जाए।
13. इस व्यय के लिए बजट में व्यवस्था है।
14. इस व्यय के लिए बजट में व्यवस्था नहीं है।
15. प्रारुप विचारार्थ प्रेषित है।
16. प्रारुप पर सहमति दी जाती है, छपवाएं।
17. अपेक्षित विवरण दिल्ली विश्वविद्यालय से मंगाया जा रहा है, प्राप्त होते ही भेजा जाएगा।

टिप्पण लेखन के उदाहरण

1. कार्यालय के कर्मचारी श्री योगेन्द्र कुमार लिपिक का स्थानांतरण रोहतक से हैदराबाद हो गया है। उसने आवेदन किया है कि उसकी घरेलू परिस्थितियां अत्यन्त चिंताजनक हैं। दोनों बच्चे स्कूल में पढ़ रहे हैं। हैदराबाद आकर इनको हिंदी माध्यम से पढ़ाई में बहुत कठिनाई आएगी, क्योंकि वहां शिक्षा का माध्यम भिन्न है।
इस संदर्भ में समग्र टिप्पण का उदाहरण प्रस्तुत है–

क्र. सं. 14 (अ)

केन्द्रीय कार्यालय के आदेश क्रमांक च/3-170/, दिनांक 13.07.03 के संदर्भ में श्री विजय कुमार, लिपिक ने अपने स्थानांतरण के विषय में आवेदन किया है। (आवेदन पत्र संलग्न है) कि इस समय उसके वृद्ध पिता काफी दिनों से बीमार चल रहे हैं। उनकी देखभाल के लिए उसका रहना बहुत जरूरी है। उसके साथ ही उसने संकेत किया है कि उसके दोनों बच्चे स्कूल में पढ़ रहे हैं। हैदराबाद में शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी या तेलुगु है। उसके हिंदी माध्यम से पढ़ने वाले उसके बच्चों की शिक्षा की समस्या हो जाएगी। इस वर्ष उनके बच्चे उच्च माध्यमिक शिक्षा उत्तीर्ण कर लेंगे। इस आधार पर श्री विजय कुमार ने अनुबोध किया है कि उनका स्थानान्तरण अभी न किया जाए।

श्री विजय कुमार की परिस्थिति को देखते हुए उनका स्थानान्तरण करना उचित नहीं होगा। यदि वहां कार्य–संचालन हेतु स्थानान्तरण अनिवार्य हो तो कार्यालय से किसी अन्य कर्मचारी को भेजा जा सकता है। उस विषय में सुझाव है कि श्री विजय कुमार का स्थानान्तरण रद्द कर दिया जाए।

उ.च.गु.
3.08.03

2. प्रो. विष्णुचन्द्र ने एक आवेदन पत्र लिखकर मद्रास में हो रहे अन्तर्राष्ट्रीय हिंदी संगोष्ठी में अपना शोध–पत्र पढ़ने के बाद अगले ही दिन होने वाली विश्वविद्यालय की सर्वोच्च समिति 'कार्यकारी परिषद' की बैठक में सम्मिलित होने के लिए हवाई यात्रा की अनुमति मांगी है। उन्होंने बताया है कि संगोष्ठी समाप्त होने के दूसरे ही दिन कार्यकारी समिति की बैठक है। रेल से पहुंच पाना असंभव है। वापसी यात्रा हवाई जहाज से करना चाहते हैं।

क्र. सं. 21 (आ.)

प्रो. विष्णुचन्द्र ने मद्रास में हो रही अन्तर्राष्ट्रीय हिंदी संगोष्ठी में सम्मिलित होकर शोध पत्र प्रस्तुत करने के बाद हवाई यात्रा से वापसी की अनुमति मांगी है। (आवेदन पत्र संलग्न है)। उन्हें संगोष्ठी में सम्मिलित होने की स्वीकृति और वातानुकूलित रेल यात्रा करने की विश्वविद्यालय से अनुमति दी जा चुकी है। उन्होंने बताया है कि गोष्ठी समाप्त होने के अगले ही दिन विश्वविद्यालय की कार्यकारी परिषद की आवश्यक बैठक है। इसमें उनकी उपस्थित आवश्यक है। रेल से मद्रास से रोहतक की यात्रा करके अगले दिन पहुंचना असंभव है। वातानुकूलित प्रथम दर्जे और हवाई यात्रा के खर्चे में बहुत अन्तर भी नहीं है। प्रो. रामेश्वर की उक्त बैठक में उपस्थिति भी आवश्यक है। डॉ. रामेश्वर वरिष्ठ प्रोफेसर हैं और उन्हें हवाई यात्रा की अनुमति दी जा सकती है।
अतः सुझाव दिया जाता है कि प्रो. विष्णुचन्द्र को संगोष्ठी समाप्ति के अगले दिन वापसी हेतु हवाई यात्रा करने की अनुमति दी जा सकती है।

च.ला.द.
11.08.03

3. सुरेन्द्र महाजन ने अपने अधिकारी के पास आवेदन किया है कि उनके बड़े भाई कनाडा में रहते हैं। वे कुछ दिनों बाद उनसे मिलने के लिए कनाडा जाना चाहते हैं। इसके लिए उन्हें पासपोर्ट बनवाना है। पासपोर्ट बनवाने के लिए अनुमति प्रमाण पत्र चाहिए।

अधिकारी द्वारा उक्त आवेदन–पत्र पर लघु टिप्पण की जाती है।

आवश्यक कार्यवाही हेतु संस्तुत

उपकुल सचिव (स्थापना)

म.ए.कर.
15.08.03

3. पत्रकारिता

(क) पत्रकारिता का स्वरूप व भेद

मनुष्य अपने मन के भावों को दूसरों तक पहुंचाने के लिए उसे अभिव्यक्त करके आनन्द प्राप्त होता है। समाज में रहते हुए वह इसके सुख–दुःख, आशा–निराशा, राग–द्वेष, कष्ट–कठिनाइयों को देखता और अनुभव करता रहता है। भोगे हुए यथार्थ सुख–दुःख को वह दूसरे लोगों को भी बताना चाहता है। इस कार्य के लिए वह अपनी लेखनी को उठाता है। जब उसकी लेखनी पत्र–पत्रिकाओं में संवाददाता, विशेष संवाददाता, सहायक सम्पादक आदि के रूप में चलने लगता है तो उसे पत्रकार कहा जाने लगता है और उसके कर्म को पत्रकारिता।

पत्र–पत्रिकाएं समाज का दर्पण होती है। समाज में घटित हुआ अथवा जो घटित होगा–उन सबका वर्णन–विवरण पत्र–पत्रिकाओं में किसी–न–किसी रूप में अवश्य होता है। पत्रकार के पास इन सब घटनाओं का पूरा हिसाब होता है। पत्रकार के पास सजग कान तथा पैनी दृष्टि होती है। इन इन्द्रियों के आधार पर वह समाज में घटित होने वाली घटनाओं का गहनता और सूक्ष्मता से अध्ययन और विश्लेषण करता है तथा उन्हें समाचार पत्र में प्रकाशित करता है। वह पत्रकार के रूप में जिस साहित्य की सृष्टि करता है वह समाज का साहित्य होता है जिसमें समाज के सुख–दुःख, हर्ष–विवाद, राग–द्वेष, आशा–निराशा आदि होते हैं।

स्वतंत्रता–पूर्व हिंदी पत्रकारिता स्वतन्त्रता–आन्दोलन के प्रति समर्पित थी। उनका प्रमुख उद्देश्य जन–जागरण हुआ करता था। ब्रिटिश हुकूमत के खिलाफ भारतीय जनमानस को आन्दोलित करना, लोक–जीवन के खोये जुए आत्मगौरव के पुर्नप्रतिष्ठित करना तथा भारतीयों को उसकी अस्मित और अहमियत की पहचान कराना ही उसक कार्य था। पत्रकारों के एक हाथ में कलम होती थी, दूसरे हाथ में पिस्तौल। उस समय की पत्रकारिता अपने बुनियादी अर्थों में स्वतन्त्रता–संग्राम की पर्याय थी। इलाहाबाद से प्रकाशित 'स्वराज' के तो करीब सभी सम्पादकों ने जेल–यातयाएं झेलीं। इस पत्र के जुझारूपन का अन्दाज उस विज्ञापन स लगाया जा सकता है जो सम्पादक की तलाश के लिए प्रकाशित हुआ था। विज्ञापन था–'स्वराज अखबार के लिए एक सम्पादक चाहिए जिसे दो जून सूखी रोटियां, एक गिलास सादा पानी तथा हर सम्पादकीय पर 10 वर्ष की सजा मिलेगी।' अंग्रेजों के दमन–चक्र के बावजूद पत्रकारिता के माध्यम से आजादी की लड़ाई लड़ने वालों पत्रकारों के हौंसले बुलन्द रहे और हिंदी पत्रकारिता में ऐसे हस्ताक्षर आये जिन पर हम सब को गर्व है।

हिंदी पत्रकारिता ने आजादी के बाद उतनी मुस्तैदी और सतर्कता के साथ अपने कर्तव्य का निर्वाह नहीं किया जितनी मुस्तदी और सतर्कता से उसे करना चाहिए था। इसके कई कारण हो सकते हैं। एक तो यही कि आजादी के बाद कोई सही दिशा और नीति तय हो पाई। आजादी की लड़ाई लड़ने वाली बहुत सी पत्र–पत्रिकाएं आजादी के बाद अपने हिंदी पत्र–पत्रिकाओं का प्रकाश शुरू तो किया किन्तु इनकी भूमिका के बारे में कोई स्पष्ट नजरिया बनाने या यों कहें कि अंग्रेजी पत्रकारिता वाले पुराने नजरिए में बदलाव लाने में विफल रहे। हिंदी पत्र–पत्रिकाओं के प्रति अंग्रेजी प्रबन्ध–तन्त्र का व्यवहार सौतेला और उपेक्षापूर्ण था इसलिए न तो हिंदी पत्रकारिता अपने लिए कोई अलग दिशा तय कर पायी और न ही अंग्रेजी पत्रकारिता के दबदबे से मुक्त हो पायी। अंग्रेजी पत्रकारिता की जो पश्चिमोन्मुख प्रवृत्ति और सरकारपरस्ती गुलामी के दिनों में थी वह बदस्तूर कायम रही। इसके असर से हिंदी पत्रकारिता चाहकर भी अपने आपको मुक्त नहीं कर पायी–कर भी नहीं सकती थी।

हिंदी पत्रकारिता स्वतन्त्रता सैनानियों के हाथों से निकलकर बड़े घरानों में चली गई तो 'मिशन' से 'पेशा' की ओर खिसकने लगा। उसे लाभ–हानि की फारमूले पर कसा जाने लगा और वह उद्योगपतियों के निहित स्वार्थों की पूर्ति का साधन बन गई। अंग्रेजी राज के दौरान जनता को मनमाना लूटकर दिन दूना–रात चौगुना बढ़ने वाले उद्योगपतियों ने स्वदेशी सरकार को भी अपनी मुट्ठी में करने के लिए जो तमाम हथकण्डे अपनाए उनमें से एक पत्र–पत्रिकाओं का मनचाहा इस्तेमाल था। परिणामस्वरूप अखबार शिखर राजनीति में ही अधिक दिलचस्पी लेते रहे। कुल मिलाकर हिंदी पत्रकारिता रूटीन खबरों के अलावा राजनीति और अपराध के इर्द–गिर्द ही घूमती रही।

नौंवा दशक हिंदी पत्रकारिता में क्रान्ति का दशक माना जायेगा। इस दशक में हिंदी समाचार पत्रों का तेजी से फैलाव हुआ और होता जा रहा है। बड़े उद्योगपतियों का सरकार के प्रति मोहभंग हुआ और उन्होंने शिखर राजनीति से दिलचस्पी लेने की एकसूत्री

नीति में संशोधन करने की जरूरत महसूस की। यह इसलिए भी जरूरी था ताकि समाचार–पत्रों को एक स्वतंत्र उद्योग के रूप में खड़ा किया जा सके, वे उनके प्रमुख उद्योगों के लिए परोपजीवी न बने रहें। यह तब तक नहीं हो सकता था जब तक सम्पूर्ण हिंदी क्षेत्रों में फैला न जाय क्योंकि उत्तरोत्तर होता जा रहा यह विशाल भू–भाग एक ओर विज्ञापन–दाताओं को आकर्षित कर रहा है, दूसरी ओर नया पाठक–वर्ग भी तेजी से तैयार हो रहा है। उद्यमियों के लिए यह एक ऐसा बाजार है जहां घटिया–से–घटिया माल अधिक–से–अधिक कीमत पर लूट की हद तक मुनाफा कमाकर खपाया जा सकता है। इस प्रकार यह क्षेत्र समाचारपत्रों के लिए विज्ञापन एवं प्रसार दोनों ही नजरिये से फायदेमन्द है।

पत्रकारिता के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए विद्वानों ने अपने–अपने शब्दों में विचार इस प्रकार प्रकट किए हैं–

1. **चैम्बर तथा न्यू वेब्स्टर्ज शब्द कोषः** इसमें पत्रकारिता को विशेष कला के रूप में लोक–कल्याण से जोड़ते हुए लिखा गया है, "प्रकाशन, सम्पादन, लेखन एवं प्रसारण युक्त समाचार माध्यम का व्यवसाय ही पत्रकारिता है। पत्रकारिता अभिव्यक्ति की एक मनोरम कला है। इसका कार्य जनता तथा जननेताओं के समक्ष लोक–कल्याण सम्बन्धी कार्यों की सूची प्रस्तुत करना है।"

2. **महात्मा गांधी के अनुसारः** गांधी जी जनता के दोषों को प्रकट करना तथा उनमें जागृति लाने के भाव से जोड़ते हुए लिखा है, "पत्रकारिता का एक उद्देश्य जनता की इच्छाओं–विचारों को समझना और उन्हें व्यक्त करना है। दूसरा उद्देश्य जनता में वांछनीय भावनाओं को जागृत करना और तीसरा उद्देश्य सार्वजनिक दोषों को निर्भयतापूर्वक प्रकट करना है।"

3. **सी.जी. मूलर के अनुसारः** इन्होंने पत्रकारिता के तथ्यों के मूल्यांकन और उसकी प्रस्तुति से जोड़ कर कहा, "सामयिक ज्ञान का व्यवसाय ही पत्रकारिता है। इसमें तथ्यों की प्राप्ति, उनका मूल्यांकन और समुचित प्रस्तुतीकरण होता है।"

4. **महादेवी वर्मा के अनुसारः** "पत्रकारिता एक रचनाशील विद्या है। इसके बगैर समाज को बदलना असंभव है। अतः पत्रकारों को अपने दायित्व और कर्त्तव्यों का निर्वाह निष्ठापूर्वक करना चाहिए क्योंकि उन्हीं के पैरों के छालों से इतिहास लिखा जायेगा।"

5. **के.पी. नारायणन्ः** इन्होंने भी पत्रकारिता को लोक कल्याण से जोड़ते हुए लिखा है, "पत्रकारिता लोकप्रिय अभिव्यक्ति की एक कला है। पत्रकारिता सभी मामलों में चर्चा के लिए जनता के सामने लोक–कल्याण कार्यों की सूची पेश करती रहती है।"

विभिन्न विद्वानों ने पत्रकारिता के स्वरूप को स्पष्ट करने के विविध आधारों को अपना कर प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। उपर्युक्त सभी परिभाषाओं में समाज और समय के सन्दर्भ में सजगता और नागरिकों में दायित्वबोध कराने की बात पर बल दिया गया है। 'गीता' में इसी बात को स्थान–स्थान पर 'शुभ दृष्टि' के प्रयोग से कहा गया है। यह 'शुभ दृष्टि' ही पत्रकारिता है जिसमें मंगलकारी तत्वों को प्रकाशित करना आता है। आचार्य खाडिलकर ने इस संबंध में विचार व्यक्त करते हुए कहा है–"ज्ञान और विचार शब्दों एवं चित्रों के रूप में दूसरे तक पहुंचाना ही पत्रकला है।" आरम्भ में पत्रकारिता के अन्तर्गत समाचारों के संग्रहण और प्रकाशक को ही लिया जाता था, परन्तु जैसे–जैसे समाचार पत्रों में प्रेषण, मुद्रण तथा वितरण के साधन सम्मिलित होते गये, पत्रकारिता का विस्तार होता गया। केवल प्रकाशन योग्य समाचार तैयार कर लेना ही पत्रकारिता नहीं रह गई, बल्कि आकर्षक शीर्षकों की संरचना, पृष्ठ–सज्जा, नत्यतम समाचार प्रकाशित करने की होड़, अधिकाधिक विज्ञापन प्राप्त करने की लालसा, सुन्दर मुद्रण इस प्रकार की अनेक बातें पत्रकारिता के अन्तर्गत सम्मिलित हो गई।

पत्रकारिता के प्रकार

आज के वैज्ञानिक युग में बहुमुखी विकास हो रहा है, ऐसे में जीवन की विविधता और नये–नये साधनों के आविष्कार ने पत्रकारिता को बहुआयामी बना दिया है। भावी पत्रकारों एवं प्रशिक्षार्थियों के लिए आज यह चयन करने की सुविधा है वे अपनी रूचि एवं प्रवृत्ति के अनरूप विषय का चुनाव कर सकें। इसके परिणामस्वरूप पत्रकारिता के विभिन्न स्वरूप उभर कर सामने आ रहे हैं। उन स्वरूपों को निम्नलिखित भागों में विभक्त किया जा सकता है–

1. **खोजी पत्रकारिताः** जिस पत्रकारिता में जासूसी को प्रस्तुत किया जाता है उसे अन्वेषी या अनुसंधानात्मक पत्रकारिता कहा जाता है। इसके द्वारा ही समाज में व्याप्त भ्रष्टाचार सम्बन्धी बातों के पुष्ट प्रकाशन द्वारा इन पर नियन्त्रण किया

जाता है। अमेरिका में ऐसी पत्रकारिता को अन्वेषणात्मक पत्रकारिता कहा जाता है। इनके द्वारा समसामयिक विषयों, घटनाओं, स्थितियों और तथ्यों के क्रमबद्ध सूक्ष्म सर्वेक्षण, अध्ययन और अनुसंधान के आधार पर निष्कर्ष निकाला जाता है। अमेरिका का 'वाटरग्रेड काण्ड' तथा भारत का 'कफन–घोटाला' और 'बोफोर्स–तोप सौदा' इसके सुन्दर उदाहरण हैं।

2. **आर्थिक पत्रकारिता:** आज के युग में अर्थ या पैसा जीवन का एक प्रमुख तत्व है। इसके बिना जीवन को चलाना अत्यन्त कठिन है। जीवन का प्रत्येक क्षेत्र अर्थ से प्रभावित है। अर्थ से संबंधित कार्यकलापों को उजागर करने के लिए आर्थिक पत्रकारिता काफी विकसित हो गई है। मुद्रा बाजार, पूंजी बाजार, वस्तु बाजार, पंचवर्षीय योजना, ग्रामोद्योग, श्रम बजट, राष्ट्रीय आय के समाचार अब पाठकों को अधिक आकर्षक प्रतीत होते हैं। **'दी इकॉनामिक टाइम्स', 'व्यापार भारतीय', 'फाइनेंशियन-एक्सप्रेस', 'व्यापार केसरी'** जैसे महत्वपूर्ण पत्रों द्वारा उद्योग और वाणिज्य व्यवसाय की जानकारी दी जा रही है।

3. **ग्रामीण पत्रकारिता:** भारत कृषि प्रधान देश है। भारत की अधिकांश जनता गांवों में बसती है। गांव, देश के स्वतन्त्र होने के पचपन वर्ष बाद भी पिछड़े हुए हैं। सुदूर गांवों में नयी चेतना के तथा विकास के स्वर को समाचार पत्र ही पहुंचा सकते हैं। इस सन्दर्भ में चर्चित पत्रकार गणेश विद्यार्थी लिखते हैं–"राष्ट्र महलों में नहीं रहता, प्रकृत राष्ट्र के निवास–स्थल वे अगणित झोंपड़े हैं जो गांवों और पुखों में फैले हुए खुले आकाश के देदीप्यमान सूर्य और शीतल चन्द्र और तारागण से प्रकृति का सन्देश लेते हैं। इसीलिए राष्ट्र का मंगल और उसकी जड़ उस समय तक मजबूत नहीं हो सकती जब तक की अगणित लहलाते पौधों की जड़ों में जीवन का जल नहीं सींचा जाता।"

   ग्रामीण स्वास्थ्य, कुटीर उद्योग, लोककलाओं, लोक संस्कृति आदि को समर्पित होकर सामने आने वाली पत्रकारिता ही ग्रामीण पत्रकारिता है।

4. **व्याख्यात्मक पत्रकारिता:** आज वैज्ञानिक युग में तथ्यों के विश्लेषण से निर्णय लिया जाता है। बहुत पहले उसी संवाददाता को सफल माना जाता था जो नारद जी की तरह घुमक्कड़ी होता और दौड़ धूप के बाद तथ्यों को एकचित्त करता और सुनता। अब समय बदल गया है और इस कार्य के लिए समाचार एजेंसियां जगह–जगह पर कार्यरत हैं और शीघ्र से शीघ्र समाचार पहुंचाने का कार्य कर रही हैं। आज समाचार के विश्लेषण, उसकी पृष्ठभूमि तथा उसके भावी परिणामों को निर्देशित करने की आवश्यकता है जिसे समस्या व्याख्यात्मक पत्रकारिता द्वारा ही हल किया जा रहा है। ऐसी पत्रकारिता का लक्ष्य समाचारों के यथार्थ परिवेश में उनका मूल्यांकन करना है।

5. **विकास पत्रकारिता:** वर्तमान समय की पत्रकारिता में नए–नए रूप आ गए हैं। जिस पत्रकारिता में सामाजिक, आर्थिक तथा वैज्ञानिक प्रगति से संबंधित विकास के समस्त पक्षों पर प्रकाश डाला जाता है उसे विकास पत्रकारिता कहते हैं। देश के किसी भाग में कोई नहर बनती है या कोई सरकारी उद्योग स्थापित होता है तो अभियन्ता और ठेकेदार मिलकर गोलमाल करते हैं। इस पत्रकारिता में यद्यपि दृष्टि विकास पर केन्द्रित होती है, परन्तु फिर भी भ्रष्टाचार के मामले में इसी के अन्तर्गत आ जाते हैं। केन्द्र सरकार द्वारा प्रकाशित 'योजना' पत्रिका विकास पत्रिका का उदाहरण प्रस्तुत करती है।

6. **खेल पत्रकारिता:** वर्तमान वैश्वीकरण प्रक्रिया में स्वास्थ्य और खेल को विशेष महत्व दिया जाता है। आजकल सभी प्रमुख समाचारपत्रों में विविध खेलों के संबंध में समाचार प्रकाशित होते हैं। खेलों के संबंध में पाठकों की रूचि बढ़ती जा रही है। इस संबंध में दिल्ली से **'खेल खिलाड़ी', 'क्रिकेट सम्राट', 'स्पोर्ट्स वीकली'**, 'खेल युग' आदि कई पत्रिकाएं प्रकाशित होती हैं जिन्होंने खेल पत्रकारिता को आगे बढ़ाने में महत्वपूर्ण योगदान दिया है।

7. **रेडियो पत्रकारिता:** संचार माध्यमों में श्रव्य पत्रकारिता का अपना महत्व है। इसमें रेडियो प्रमुख है। इस पत्रकारिता में समाचार–वाचन, समाचार दर्शन, सामूहिक समीक्षा आदि का समावेश होता है। रेडियो के लिए समाचार संकलन, अनुवाद, संवाद समीक्षा इसके मुख्य अंग है। रेडियो के लिए फीचर लिखना, सामयिक विषयों की चर्चा करना ही नहीं, कहानी, कविता, नाटक लिखना भी एक तरह से रेडियो पत्रकारिता के अन्तर्गत लिए जा सकते हैं।

8. **संसदीय पत्रकारिता:** भारत का शासन संसदीय प्रणाली से होता है। इससे जुड़ी पत्रकारिता संसदीय पत्रकारिता है। इस पत्रकारिता के अन्तर्गत संसद के दोनों सदनों, प्रादेशिक विधानसभाओं, परिषदों की कार्यवाही की रिपोर्टिंग अत्यन्त सावधानी से की जाती है। जरा सी असावधानी हो जाने पर संसद की अवमानना का प्रश्न उठ सकता है अत:

सावधानीपूर्वक कार्य किया जाता है। संसद कार्यवाही प्रकाशन अधिनियम 1965 को पूरी तरह से समझ कर ही समाचार पत्र के लिए सामग्री तैयार की जाती है।

9. **फोटो पत्रकारिता:** चित्र दृश्यात्म अभिव्यक्ति के साथ सामने आता है। यह सर्वविदित तथ्य है कि चित्रों का प्रभाव शब्दों से अधिक होता है। सुनी–सुनायी बात और आंखों देखी बात में पर्याप्त अन्तर होता है। चित्र के आते ही कहानी की झलक सी मिल जाती है जबकि शब्दों के एक बड़े समूह से गुजरकर तथ्य सामने आता है। इसलिए यह पत्रकारिता अधिक आकर्षक है। चित्र–तकनीक में क्रान्तिकारी परिवर्तन आ जाने से यह पत्रकारिता काफी लोकप्रिय हो गयी है। फोटो–पत्रकार समाचारों से जुड़े हुए चित्र लेकर उनका प्रयोग करते हैं।

10. **संदर्भ पत्रकारिता:** संदर्भ पत्रकारिता में कार्यरत व्यक्ति सम्पादकों, संवाददाताओं, प्रशासनिक अधिकारियों और स्तम्भ लेखकों को उनकी आवश्यकता के अनुसार संदर्भ की आपूर्ति द्वारा सक्षमता प्रदान करता है। ये लोग पत्रकारिता तथा पुस्तकालय विज्ञान में प्रशिक्षित होते हैं तथा पुरानी कतरनों, लेखों, सन्दर्भों, ग्रन्थों तथा चित्र द्वारा उनकी सहायता करते हैं। इन्हें संस्थान के विश्वकोश भी कहा जाता है।

11. **दूरदर्शन पत्रकारिता:** पत्रकारिता के बढ़ते कदमों में श्रव्य–दृश्य रूप सामने आया है। गत बीस वर्षों से इस पत्रकारिता का पर्याप्त विकास हुआ है। चित्र और ध्वनि के प्राविधिक ज्ञान, लेखन तथा वाचय की क्षमता तथा इलैक्ट्रोनिकी की जानकारी के द्वारा इसमें सफलता प्राप्त होती है। दूरदर्शन पत्रकार को अपने साथ छायाकारों को ले जाना पड़ता है। छायाकार चित्रों से तथा पत्रकार अपनी लेखन और वाचन–कला से इसे रोचक और प्रभावशाली बनाता है। आज इसका प्रभाव सर्वाधिक है।

12. **विधि पत्रकारिता:** शासन और न्याय–व्यवस्था में विधि का अपना महत्व है। इससे जुड़ी पत्रकारिता का विधि पत्रकारिता कहते हैं। इस पत्रकारिता के अन्तर्गत देश के कानूनों, मौलिक अधिकारों, मानहानि, अदालत–अवमानना, अपमान–लेख, सार्वजनिक व्यवस्था, विदेशी राज्यों के साथ संबंध, भारतीय डाक–तार अधिनियम, समुद्र सीमा शुल्क, पुस्तक पंजीयन नियम, कापीराइट अधिनियम आदि अनेक विधियां आ जाती है। विधि पत्रकार को इस प्रकार की विधियों और कानूनों की जानकारी होनी चाहिए तभी वह इस प्रकार की पत्रकारिता करने में सफल हो सकता है।

13. **अन्तरिक्ष पत्रकारिता:** प्राचीन काल से अंतरिक्ष का प्रबल ज्ञान रहा है। वर्तमान समय में अन्तरिक्ष पत्रकारिता को आकर्षक रूप मिल गया है। आधुनिक काल में सूचना का आधार आकाशीय ग्रह और उपग्रह बन चुके हैं। पृथ्वी अन्तरिक्ष में घूमती है और सूर्य का चक्कर लगाती है। चन्द्रमा पृथ्वी के चारों ओर घूमता है। चन्द्रमा प्राकृतिक उपग्रह है जबकि कृत्रिम उपग्रहों को मानव ग्रहों के चारों ओर परिक्रमा करने के लिए भेजा है। उपग्रहों के कारण संचार की दुनिया में क्रान्ति आ गई है। अन्तरिक्ष संचार प्रणाली के कारण समाचारों और चित्रों का सम्प्रेषण हो रहा है। उपग्रहों के कारण एक ही समाचार पत्र के कई संस्करण प्रकाशित हो रहे हैं। मुद्रण, सम्प्रेषण और प्राकशन के क्षेत्रों में हो रहे परिवर्तन अन्तरिक्ष पत्रकारिता के अन्तर्गत आकर उसकी काया बदल रहे हैं।

14. **सर्वोदय पत्रकारिता:** भारत सर्वजनहिताय के भाव से अनुप्राणित है। इससे ही इस पत्रकारिता का उद्‌भव हुआ है। इस पत्रकारिता को करने वाले पत्रकार को अत्यन्त धैर्य और संयम से काम लेना पड़ता है। सर्वोदय पत्रकार के मन में किसी वर्ग, जाति, धर्म या सम्प्रदाय के प्रति किसी प्रकार का द्वेष नहीं होता। वे सभी लोगों के उदय, उनकी उन्नति के लिए सोचते हैं और प्रत्येक समाचार में अपने 'सर्वजनहिताय' दृष्टिकोण को प्रस्तुत करते हैं। हिंदी पत्रकारिता के गांधी युग में **'यंग इण्डिया'**, **'नवजीवन'**, **'हिंदी नवजीवन'**, **'हरिजन'** आदि समाचार पत्र सर्वोदय पत्रकारिता करते रहे हैं। इसी प्रकार गीता प्रैस गोरखपुर द्वारा प्रकाशित रचनाएं भी इसी पत्रकारिता की उदाहरण कही जा सकती है।

15. **चित्रपट पत्रकारिता:** प्रत्येक समाचार पत्र में सिने उद्योग से जुड़े हुए समाचार होते हैं। कभी ये समाचार सिने–पृष्ठ पर प्रकाशित होते हैं तो कभी सिने–कालमों में। इन समाचारों में सिने जगत् के कलाकारों अभिनेताओं–अभिनेत्रियों के कार्य कलापों, उनकी फिल्मों की इनडोर या आउटडोर शूटिंग आदि पर लेख, टिप्पणियां या रोचक सामग्री होती है जिसे युवा वर्ग पसन्द करता है। कौन सी फिल्म हिट हो रही है, कौन सी पिट रही है, किस फिल्म का मुहूर्त हो रहा है, किस शराब पार्टी में झगड़ा हुआ और किस में मारपीट हुई–इन सभी की चर्चा इस पत्रकारिता में होती है। सिने–पत्रकारिता

मिर्च–मसाला लगाकर ऐसे कालमों को प्रस्तुत करते हैं पाठक इन्हें चटखारे ले–लेकर पढ़ते हैं। माया नगरी में घूमने वाले पत्रकारों की यह रोचक सामग्री चित्रपट पत्रकारिता कहलाती है। **'फिल्मी दुनिया'**, **'फिल्मी कलियां'**, **'मायापुरी'**, **'स्टारडस्ट**, **'चित्रलेखा'**, 'सुषमा', आदि अनेक पत्रिकाएं और उनके स्तम्भ इसके उदाहरण हैं।

पत्रकारिता के उपर्युक्त प्रकारों के अतिरिक्त दो और भी प्रकार हैं जिन पर संक्षेप में विचार करना आवश्यक प्रतीत होता है। ये हैं–

(क) कार्टून पत्रकारिता (ख) वीडियो पत्रकारिता।

(क) **कार्टून पत्रकारिता:** आजकल लगभग प्रत्येक समाचार पत्र में, जो कार्टूनिस्ट का खर्चा उठा सकता है, कार्टूनिस्ट हैं। ये कार्टूनिस्ट ऐसे कार्टून बनाते हैं जिनकी स्मृति पाठक के मन में वर्षों तक बसी रहती है। चित्रों की भांति समाचार को आकर्षक बनाने में इनका भी योगदान रहता है। कार्टूनकार अपने कार्टूनों के माध्यम से अर्थपूर्ण, ठोस, रचनात्मक, व्यंग्यात्मक तथा संक्षिप्त व्याख्या प्रस्तुत करता है। कार्टूनों के माध्यम से किसी राजनीतिक, सामाजिक समस्या अथवा गतिविधि पर व्यंग्य या टिप्पणी की जाती है।

(ख) **वीडियो पत्रकारिता:** अमेरिका में **'न्यू जर्नलिज्म'** का आन्दोलन पचास वर्ष पुराना है। इसे ही वीडियो पत्रकारिता कहा जाता है। इसमें दृश्य–श्रव्य संचार माध्यम से समाचार वाचक अपनी बात को एक टिप्पणीकार की भांति कहता है। वे अपने चेहरे, भंगिमा और आवाज के आरोह–अवरोह का प्रयोग कर, पृष्ठभूमि में दिखाये जाने वाले दृश्यों पर टिप्पणी करते हैं। भारत में **'मूवी वीडियो'**, **'इन साइट'**, **'न्यूजट्रैक'**, **'कालचक्र'**, **'लहरें'** आदि पत्रिकाएं वीडियो पत्रकारिता के क्षेत्र में अग्रसर हैं।

हिंदी पत्रकारिता के समक्ष आज भी कई तरह के संकट है। पत्रकारिता जैसे–जैसे उद्योग का रूप लेती जा रही है वैसे ही वैस औद्योगिक प्रतिस्पर्धा और औद्योगिक चरित्र के दोष उसे विकृत करने की कोशिश भी कर रहे हैं। आय के प्रमुख साधनों–विज्ञापन और प्रसार के जरिये अधिकाधिक लाभ कमाने की प्रवृत्ति ने एक ओर जहां पत्रकारिता की स्वतंत्रता को बाधित किया है वहीं उसके अन्दर कई तरह की विकृतियां भी पैदा कीं जिसके चलते भयादोहन और पीत पत्रकारिता जैसे शब्द तेजी से हवा में उछलने लगे हैं। प्रमुख अधिशासी पदों पर बैठे सम्पादकों के कारण भी हिंदी पत्रकारिता की निष्पक्षता प्रभावित हुई है। अभी हाल ही में बोफोर्स प्रकरण पर कुछ पत्र–पत्रिकायें इस कदर एकपक्षीय हो गयीं कि पत्रकारिता के सारे मूल्य ही ढहते नजर आने लगे। अखबारें के प्रति केन्द्र सरकार का रवैया कोई बहुत उत्साहवर्धक नहीं है, फिर भी विश्वास किया जा सकता है कि हिंदी पत्रकारिता ने इस दशक में जो प्रतिमान निर्मित किये हैं, इन्हें और प्रभावी बनाने तथा कुछ नये और स्वस्थ प्रतिमान निर्मित करने का काम होता रहेगा। हिंदी पत्रकारिता को प्रतिदिन नए–नए आयाम मिलते जा रहे हैं, जिनसे हिंदी पत्रकारिता का भविष्य पर्याप्त समुज्जवल दिखाई देता है।

(ख) फीचर लेखन

स्वरूप एवं विशेषताएं

कोई भी विशेष व प्रधान लेख जो किसी समाचार पत्र व पत्रिका में किसी भी प्रकरण सम्बन्धी विषय पर प्रकाशित होता है उसे फीचर या प्रधान लेख कहते हैं। फीचर (मनोरंजन ढंग से लिखा गया प्रासंगिक लेख) तैयार करना एक ऐसी विशेषता है जो भारतीय पत्रकारिता में बहुत कम पाई जाती है। बहुत–सी ऐसी विशेषताएं हैं जो फीचर तथा लेख दोनों में समान रूप से पाई जाती हैं। दोनों ही के लिखने के ढंग ऐसे हैं जिनमें समाचार नहीं आते। दोनों ही उन गुणों से भरपूर होते हैं जो अचछे गद्य के लिए आवश्यक हैं। लेख भी अक्सर फीचर का रूप ग्रहण कर लेता है और फीचर में लेख के लक्षण दिख जाते हैं।

फीचर लिखने के लिए लेखक को अपनी आंखों तथा कानों पर भरोसा करना पड़ता है और प्रतिक्रियाओं, अनुभूतियों एव भावा का सहारा लेना पड़ता है। फीचर लिखना लेख लिखने से अधिक कठिन कार्य है। फीचर तैयार करने में एक खास ढंग की आवश्यकता पड़ती है जबकि लेख लिखना तथ्य, आंकड़े सामने रख देने के कारण अधिक सरल होता है। लेख गम्भीर एवं नीरस शैली में लिखा जाता है। गम्भीरता के बावजूद भी लेख का महत्व बना रह सकता है परन्तु फीचर के लिए यह अति घातक दोष है। फीचर मनोरंजक, अनौपचारिक एवं घुल–मिलकर की जाने वाली बातचीत की शैली में लिखा जाना चाहिए।

लेख हमें शिक्षा देता है और फीचर हमारा मनोरंजन करता है। लेख आवश्यकता से अधिक दोहा तथा उबाऊ होने पर भी अच्छा

हो सकता है। फीचर मुख्य रूप से विनोद और आनन्द के लिए ही लिखा जाता है। लेख जानकारी बढ़ाने वाला होना चाहिए और उसमें तर्क–वितर्क या उनसे निकलने वाले परिणामों को शामिल किया जा सकता है। फीचर में अपनी मनोवृत्ति और अपनी समझ के अनुसार किसी विषय का या व्यक्ति का चित्रण करना पड़ता है। फीचर लिखने में हास्य और कल्पना का विशेष हाथ रहता है।

बी.बी.सी. में 'फीचर' शब्द 'डाक्यूमेंटरी' (यथातथ्य सूचनाओं पर आधारित रचना) के लिए प्रयुक्त होता है। इसका अपना एक इतिहास है। साठ वर्ष पूर्व बी.बी.सी. में फीचर नाम से रचनाएं नहीं होती थी। इसके नाटक विभाग में रेडियो–टेक्नीक के बारे में नये–नये प्रयोग किए। उसे विशेष अवसरों पर विशेष कार्यक्रम आयोजित करने पड़ते थे। इन कार्यक्रमों के सामान्य कार्यक्रमों से प्रमुखता मिलती थी। लोग इन्हें 'फीचर्ड प्रोग्राम' कहते थे। धीरे–धीरे इसके अन्तर्गत सभी रचनाओं का समावेश होने लगा जो रेडियो–टेक्नीक की दिशा में नये–नये प्रयोगों के लिए होती थी। नये प्रकार की रचनाएं जिन्हें 'रेडियो डाक्यूमेंटरी' कहते थे, अत्यन्त आकर्षक थी। अंग्रेजी में यथातथ्य घटनाओं और सूचनाओं पर आधारित नाटकीय रचनाओं को 'फीचर' कहते हैं। इसी फीचर को हिंदी में रूपक कहा जाता है, परन्तु इस रूपक का भारतीय नाट्यशास्त्र के रूपक (दृश्य काव्य का पर्याय) से कोई संबंध नहीं है। वस्तुतः 'रेडियो रूपक' शब्द अंग्रेजी के 'रेडियो फीचर' के लिए प्रयुक्त किया जा रहा है और अब यह शब्द रूढ़ हो गया है।

फीचर को ऐसा होना चाहिए जो हृदय और मस्तिष्क दोनों में हलचल पैदा कर मन को प्रसन्न कर दे। फीचर में सारगर्भिता होनी चाहिए। इसी के आधार पर फीचर रोचकता और प्रभावशीलता से अपनी बात को प्रस्तुत करने में सक्षम होता है। नाटक में नाटकीयता का तत्व अधिक होता है, वार्ता में सपाटबयानी होती है, परन्तु इसमें नाटकीयता और सपाटबयानी दोनों का समन्वय होता है। नाटक में कल्पना की अधिकता होती है, परनतु यह तथ्यों पर आधारित होता है। रेडियो–रूपक किसी भी विषय पर हो सकता है। मुख्य रूप से समाचार आधारित, घटना–विशेष पर आधारित, किसी के व्यक्तित्व, इतिहास पुरुष, सामाजिक, सूचनात्मक, शिक्षात्मक आदि भेद किए गए हैं। रेडियो रूपक थोड़े से शब्दों में तथा रोचकता से अपनी बात कहता है। फीचर लेखक का विषय महत्वपूर्ण और शब्दशक्ति प्रभावशाली होनी चाहिए। इस प्रकार स्पष्ट है कि रेडियो रूपक में सजीवता, सरसता, मनोरंजकता, नाटकीयता, गतिशीलता आदि गुण होने चाहिए। इन गुणों के अतिरिक्त रूपक सुसंगठित भी होना चाहिए ताकि नाटकीय प्रभाव की सृष्टि हो सके। रूपक का लेखन भी एक कला है और यह कला सतत् अभ्यास ले आती है।

अच्छे फीचर का सबसे बड़ा गुण होता है उसकी रोचकता। आपके द्वारा रचित फीचर पाठकों को पसन्द आना चाहिए। वह ऐसा होना चाहिए कि पाठक उसको पढ़ने के लिए उत्सुक हों। फीचर को रोचक और मनोरंजक बनाने के बहुत से तरीके हैं। फीचर लिखने में सहायक निम्नलिखित बातें इस प्रकार से हैं–

1. अपने आपको विशिष्ट रखिये। जो भी बात आप लिखें वह निश्चित रूप से उपयुक्त हो, घुमा–फिरा कर किसी बात को लिखना या बार–बार उसे दोहराना ठीक नहीं। अपने विषय पर रहिये, निशाने पर पहुंचिये और जिस विषय पर आप लिख रहे हैं उसके बारे में आपके विचार निश्चित हों।
2. कुछ प्रसिद्ध लोगों के वाक्य एवं कथनों को उनके ही शब्दों में प्रस्तुत कीजिए। जो बड़े लोग कह गये हैं उसे अधिकांश लोग पढ़ना पसन्द करते हैं।
3. किसी पुरानी घटना को, अगर वह लेख के प्रसंग में आता है, तो वह एक ही बार प्रयोग कीजिए। बार–बार उसका प्रयोग न कीजिए।
4. अपने पाठकों को सतर्क रखिये और अपनी बात को इस तरह से लिखिए कि पाठक आगे आने वाली बातों को पढ़ने के लिए उत्सुक रहें।
5. आपके तजुर्बे व अनुमान बड़े काम के होते हैं। ये भी बहुत से फीचरों को जन्म दे सकते हैं।
6. सभी की खानें की आदतें, छुटिट्टयों का बिताना, पत्र लिखने की कला, लिखावट से चरित्र पढ़ने व इसी तरह के कई विषय फीचर के लिए मसाला बन सकते हैं।
7. लेख को रोचक बनाने वाले चुटकुले या घटनाएं उचित रूप से प्रयोग कीजिए। उनका प्रयोग किसी भी तरह से पाठक को न अखरे।

8. अपने पाठकों के सामने कोई भी समस्या रखिए, उनसे सवाल करिये। इससे पाठकों को पढ़ने में आनन्द तो आयेगा ही वे सोचने और समझने के लिए भी बाध्य होंगे।

9. अपने लेख में उचित स्थान पर हास्य रस का प्रयोग इस प्रकार से करें कि आपकी रचनाएं सुन्दर बनें क्योंकि हास्य ही जीवन का अनमोल रस है और वह जीवन को रसमय बनाता है।

10. पुरानी पत्रिकाओं को ध्यान से पढ़िये। कभी–कभी उनमें अच्छी सामग्री मिल जाती है। कभी–कभी उसी विषय से संबंधित नये विचार भी आपके मन में आ जाते हैं। इन दोनों को मिलाकर एक अच्छा फीचर लिखा जा सकता है।

11. रोज की हुई घटनाएं जो मामूली लगती हैं, उनसे भी नये विचार मिल सकते हैं। मान लीजिय कुछ संसद सदस्यों ने किसी विषय पर कोई बिल रखा। इन लोगों से इंटरव्यू लेकर फीचर लिखा जा सकता है।

लेख और फीचर का अन्तर इस बात से और भी स्पष्ट हो जाता है कि लेख उस महल के समान होता है जिसमें कई मंजिल और अनेक कमरे होते हैं लेकिन 'फीचर' की तुलना एक साफ सुथरे, छोटे से एक कमरे वाले घर से कर सकते हैं। श्री पी डी. टंडन के विचार इस प्रकार से हैं, "किताब पढ़कर, आंकड़े जमा करके लेख लिखे जा सकते हैं लेकिन फीचर लिखने के लिए आंख, कान, भावों, अनुभूतियों, मनोवेगों और अन्वेषण का सहारा लेना पड़ता है। लेख लम्बा, अरुचिकर, भारी भी हो सकता है लेकिन ये बातें फीचर की मौत हैं। फीचर को मजेदार, दिलचस्प और दिलपकड़ होना पड़ेगा..फीचर एक प्रकार का गद्य गीत होता है जो नीरस, लम्बा, गम्भीर नहीं हो सकता। वह मनोरंजक और तड़कदार होना चाहिए जिससे लोगों के दिल हिल चित प्रसन्न हों तथा पढ़कर दिल में गम का दरिया बहे।"

आपके लिखने की शैली यदि अन्य लेखकों से भिन्न हो तो अच्छा है, परन्तु याद रखिये कि आपकी शैली बनावटी न हो; इनमें स्वाभाविकता हो और ऐसा आकर्षण हो कि सम्पादक इसे अपनी पत्रिका में ध्यान दे सके। प्रत्येक लिखने वाले का एक खास स्टाईल या एक शैली बन जाती है। यदि आप किसी की नकल करेंगे तो आपको असफलता ही मिलेगी। शुरू में नये लेखक के लिए यह जरूरी है कि वह इस तरह से लिखे कि उसकी भाषा जानदार, शब्द सीधे व सरल, कम–से–कम शब्दों में लिखी गई और बनावटीपन से रहित हो। अगर आप तरीके से कुछ लिखेंगे तो पाठकों में आपकी पहचान बनेगी और पाठक आपको पसंद करना शुरू कर देंगे।

(ग) प्रूफ पठन और संशोधन

हिंदी में 'प्रूफ संशोधन' और 'प्रूफ पठन' शब्दों के भी प्रयोग मिलते हैं। अंग्रेजी में इसके लिए Proof Reading शब्द का प्रयोग होता है।

वर्तमान वैज्ञानिक युग में प्रकाशन की विस्तृत प्रक्रिया के कारण इसे प्रकाशन युग भी कहा जाता है। प्रकाशन में मुद्रणालय का विशेष स्थान है। ज्ञान–विज्ञान के तथ्यों के प्रचार–प्रसार का मुख्य आधार मुद्रण है। इसलिए मुद्रण का महत्व और भी बढ़ गया है। कंप्यूटर के आगमन के बाद मुद्रण कला को विशेष दिशा और गति मिली है।

प्रकाशन एक विशेष प्रक्रिया है, जिसमें कंपोजिंग या टाइपिंग, प्रूफ–संशोधन, पृष्ठ–निर्धारण और छपाई आदि चरणों से गुजरना होता है। पुरानी मुद्रण प्रक्रिया में कंपोजिटर एक–एक अक्षर और मात्रा को उठा कर जोड़ता हुआ पांडुलिपि के आधार पर वाक्य रचना करता है। इस प्रक्रिया में कंपोजिटर से तरह–तरह की गलतियां हो जाती हैं। इसी प्रकार जब किसी विषय को कंप्यूटर पर टाइप किया जाता है, तब भी विभिन्न प्रकार की गलतियों की संभावना होती है। इसे सुधारना महत्वपूर्ण कार्य है।

(क) **परिभाषा:** कंपाज की गई अथवा कंप्यूटर पर टाइप की गई सामग्री को पांडुलिपि के अनुरूप संशोधित करक सामने लाना संशोधन (Proof Reading) कहलाता है।

इस प्रकार कह सकते हैं कि प्रकाशन के पूर्व कंपोज या टाइप की गई सामग्री को पांडुलिपि के अनुरूप शुद्ध रूप में तैयार करने के लिए गलतियों को सुधारने की जो प्रक्रिया अपनाई जाती है, उसे प्रूफ संशोधन कहते हैं। प्रकाशन में इसका विशेष महत्व होता है।

(ख) **प्रूफ वर्गीकरणः** कंपोजिक प्रक्रिया के बाद शुद्ध रूप में छापने के लिए प्रूफ को कई बार संशोधित करना आवश्यक होता है। कंपोजिंग के समय कुछ अक्षर, शब्द या वाक्य छूट सकते हैं। इसके साथ ही अक्षरों के गलत लग जाने की संभावना होती है। कंपोजिंग में गैली का उपयोग किया जाता है। गैली धातु की बनी होती है। जिसके तीन उठा हुआ फ्रेम होता है।

कंपोजिटर पांडुलिपि के अनुसार एक–एक अक्षर और मात्रा को उठाकर क्रमशः जोड़ता हुआ शब्द, पद और वाक्य की रचना करता है। कंप्यूटर में टाइप करके प्रिंटर में प्रूफ निकाला जाता है।

प्रूफ शोधन के क्रम को ध्यान में रख कर प्रूफ के निम्नलिखित वर्ग किए जाते हैंः

1. **प्रथम प्रूफः** छपाई हेतु तैयार किए जाने वाला प्रथम प्रूफ यदि कंपोजिटर द्वारा गैली (विशेष ट्रे) के माध्यम से होता है, तो उसे गैली प्रूफ कहते हैं। कंपोजिटर गैली में कंपोज अंश को बांध कर इंकरोलर की सहायता से प्रूफ निकालता है। इसी आधार पर इसे गैली प्रूफ कहते हैं क्योंकि प्रूफ निकालने के बाद तुरंत नहीं पढ़ा जा सकता है। गैली प्रूफ निकालने के लिए कागज को गीला करना पड़ता है। कागज सूख जाने के बाद प्रूफ का पठन कर संशोधन किया जाता है।

   कंप्यूटर में सामग्री टाइप करने के बाद प्रिंटर से प्रिंट निकाल लेते हैं। यह प्रथम प्रूफ होता है।

   गैली प्रूफ तैयार करने में जहां समय अपेक्षाकृत अधिक लगता है वहीं गलतियों की संभावना अधिक होती है क्योंकि कंपोजिटर को एक–एक अक्षर और मात्रा को विभिन्न स्थानों से उठा कर उन्हें सही ढंग से रखना होता है। जबकि कंप्यूटर में त्वरित गति से कार्य संभव होता है। इसकी गलतियों को पांडुलिपि से मिलान करते हुए संशोधित किया जाता है।

2. **मेकअप प्रूफः** गैली प्रूफ पठन के बाद कंपोजिटर अपने कंपोज किए बंधे हुए कार्य को खोल कर प्रूफ रीडर द्वारा किए गए संशोधन को ठीक करता है। वह पूर्व प्रक्रिया के अनुसार पुनः प्रूफ निकाल कर प्रूफ रीडर को देता है। इसे मेकअप प्रूफ कहा जाता है।

   कंप्यूटर से निकाले गए प्रूफ को प्रूफ रीडर प्रूफ–पाठ करते हुए संशोधित कर वापस करता है। कंप्यूटर पर कार्य करने वाली उन सभी संशोधनों को ठीक करके पूर्व प्रक्रिया के अनुसार प्रूफ निकालता है। यह मेकअप प्रूफ होता है। इस स्थिति तक पहुंच कर प्रूफ में गलतियों की संख्या बहुत कम संभावित होती है।

3. **तृतीय अथवा अंतिम प्रूफः** कंपोजिटर और कंप्यूटर चलाने वाला पूर्व प्रक्रिया के अनुसार प्रूफ–पाठ के द्वारा संकेत की गई गलतियों का संशोधन करता है। यहां यह विचारणीय है कि दूसरे प्रूफ में बहुत कम गलतियां रह जाने पर तीसरा प्रूफ मूल लेखक से ही पढ़वा कर प्रूफ–संशोधन कराया जाता है। यदि दूसरे प्रूफ में भी संभावना से अधिक गलतियां हों, तो तीसरा प्रूफ भी व्यावसायिक प्रूफ–रीडर से पढ़वाते हैं। ऐसे में तीसरे संशोधन के बाद एक अतिरिक्त प्रूफ निकाल कर लेखक से संशोधन कराते हैं। यदि लेखक उस पर छपाई का संकेत कर दे तो उसे प्रिंट आर्डर प्रूफ कहेंगे। इस प्रकार छपाई के लिए उपयुक्त आदेश प्राप्त प्रूफ को प्रिंट आर्डर प्रूफ कहते हैं।

इन चरणों से निकलकर प्रूफ संशोधन हो जाता है और उपयुक्त शुद्ध प्रकाशन की संभावना होती है।

(ग) **प्रूफ-रीडर के गुण और दायित्वः** प्रकाश प्रक्रिया में प्रूफ–रीडर का विशेष महत्वपूर्ण कार्य होता है। श्रेष्ठ प्रूफ–संशोधन के आधार पर उत्तम प्रकाशन सुनिश्चित हो जाता है। प्रूफ–रीडर का मूल कार्य पांडुलिपि के अनुसार प्रूफ को संशोधित करना होता है। उसे इसके साथ कंपोजिंग/टाइपिंग और प्रकाश प्रक्रिया का सामान्य ज्ञान होना आवश्यक होता है। प्रूफ–रीडर किसी भाषा विशेष से संबंधित होता है उसे संबंधित भाषा की लिपि और उसके व्याकरण का ज्ञान भी अनिवार्य होता है। इस प्रकार प्रकाशन प्रक्रिया में प्रूफ रीडर महत्वपूर्ण कड़ी है क्योंकि उसका ही दायित्व होता है कि पांडुलिपि का शुद्ध रूप में मुद्रण हो।

वर्तमान समय में कंप्यूटर आधार पर एक मुद्रण की प्रक्रिया गति अपनाई जाती रही है, किन्तु यत्र–तत्र कंपोजिंग प्रक्रिया से भी मुद्रण होता है।

सफल प्रूफ–रीडर में निम्नलिखित गुणों की आवश्यकता होती है, जिससे वह अपने कर्तव्य को उत्तम रूप से पूरा करता है–

1. प्रूफ–रीडर को अपने कर्तव्य के अनुसार प्रूफ को पांडुलिपि से मिलान करना चाहिए और इसी आधार पर संशोधन करना चाहिए। ऐसे में अपने भाषाई–ज्ञान या विषय–ज्ञान को प्रयोग नहीं करना चाहिए। प्रूफ–रीडर के लिए मुद्रण कला में कहा जाता है कि उसका कार्य 'मक्षिका स्थाने मक्षिका' रखना होता है। इसका यह अर्थ है कि प्रूफ–रीडर को संशोधन प्रक्रिया में अतिरिक्त स्वतंत्रता नहीं लेनी चाहिए।
2. प्रूफ–रीडर पांडुलिपि और प्रूफ दोनों को पढ़ता है। इन्हीं दोनों से उसका कार्य संबंधित होता है। यदि प्रूफ अस्पष्ट हो, तो उसका उपयोग न करके नया प्रूफ उपलब्ध करके ही प्रूफ–पठन करना चाहिए। यदि प्रूफ के किसी पृष्ठ का कुछ भाग स्पष्ट हो तो उसे गोल दायरे से रेखांकित कर दूसरा प्रूफ लेना उपयोगी होता है।
3. प्रूफ–रीडर के पठन में अच्छी गति होनी चाहिए। पांडुलिपि–पाठ के साथ प्रूफ पढ़ने में भी समान गति होना चाहिए। हां! त्वरित गति में उसकी दृष्टि प्रूफ की गलतियों पर केंद्रित होनी चाहिए। श्रेष्ठ प्रूफ–रीडर के विषय में कहा जाता है कि उसकी दृष्टि प्रूफ की गलतियों को छनती हुई तेजी से आगे बढ़ती है।
4. गैली प्रूफ का प्रथम प्रूफ के संशोधन हेतु पांडुलिपि को साथ–साथ पढ़ना अनिवार्य होता है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि कंपोजिंग या टाइप पूर्णरूपेण हुई है या कोई अंश छूट गया है। इससे पांडुलिपि का मूल रूप सुनिश्चित हो जाता है।
5. प्रूड–रीडर को द्वितीय और तृतीय प्रूफ के पठन में सर्वप्रथम पूर्व के प्रूफ–संशोधन निर्देश को देख लेना चाहिए कि उसे पूर्णरूपेण संशोधित किया गया है अथवा नहीं किया गया है। इसके पश्चात् प्रूफ को एक बार शुरू से आधोपांत पढ़ना चाहिए।
6. प्रूफ–रीडर को प्रूफ पढ़ते समय लगे कि कंपोजिटर या टाइप करने वाले को कुछ निर्देश देना आवश्यक है तो प्रूफ के पृष्ठ के हाशिए के ऊपरी भाग में निर्देश लिखना चाहिए। लिखे गए निर्देश के ऊपर 'निर्देश' या 'ध्यान दें' शब्द लिख कर रेखांकित अवश्य कर दें। इससे टाइप करने वाले या कंपोजिटर का ध्यान उधर अवश्य जाएगा। आगे आने वाले प्रूफ में निर्देश–पालन की स्थिति को अवश्य देख लेना चाहिए।
7. प्रूफ के मध्य चित्र, रेखाचित्र या अन्य किसी प्रकार का रेखांकन है तो उसे ध्यान से देखना चाहिए कि इन्हें उपयुक्त स्थान पर दिया गया है या नहीं। इसका निर्णय पांडुलिपि के आधार पर करना चाहिए।
8. यदि प्रूफ पढ़ते समय लगे कि संशोधन के लिए कोई वाक्यांश या वाक्य लिखना आवश्यक है और प्रूफ से संबंधित स्थान पर पर्याप्त स्थान नहीं है, तो वहां स्पष्ट संकेत चिह्न लगा कर प्रूफ के हाशिए या रिक्त उपयुक्त स्थान पर वही संकेत चिह्न लगाकर लिखना चाहिए।
9. प्रूफ संशोधन के चिह्नों का स्पष्ट रूप में प्रयोग करना चाहिए। इससे संशोधन में कठिनाई नहीं होगी और गलती होने की संभावना नहीं रहेगी।
10. प्रूफ–संशोधन की सुविधा और व्यवस्था के लिए प्रूफ के क्रम अर्थात् प्रथम, द्वितीय और तृतीय प्रूफ लिख देना चाहिए।
11. प्रूफ–रीडर को छपाई की सामग्री के साथ विभिन्न शीर्षकों, उपशीर्षकों के साथ पृष्ठ संख्या आदि को भी देखना चाहिए।
12. प्रूफ पढ़ते समय यदि प्रूफ–रीडर को पांडुलिपि की सामग्री में शंका हो, तो हाशिए पर प्रश्न चिह्न लगा कर अधिकृत व्यक्ति या मूल लेखक के पास पांडुलिपि और प्रूफ भेज देना चाहिए। उक्त सामग्री के आने पर शंका–समाधान पर विचार कर लेना चाहिए।
13. प्रूफ देखते समय यदि पांडुलिपि में वर्तनी या व्याकरण संबंधी गलती का ज्ञान हो, तो लेखक से संवाद करते हुए उनहें विश्वास में लेकर शुद्ध कर लेना चाहिए। लेखक की सहमति के बिना पांडुलिपि में कोई परिवर्तन नहीं करना चाहिए।
14. प्रूफ–रीडर को प्रूफ पढ़ने से पहले सावधानी से देख लेना कि प्रूफ का विषय किसी भी मानिहानि, किसी का अपमान से संबंधित या कानून की दृष्टि आपत्तिजनक है। ऐसा होने पर व्यवस्थापक को सूचित करते हुए प्रूफ न पढ़ने का निर्णय लेना चाहिए।

15. अंतिम प्रूफ पढ़ने के पश्चात् मुद्रण का निर्देश 'प्रूफ संशोधन के साथ छाप दिया जाए' या 'छाप दिया जाए' अवश्य लिख देना चाहिए।

16. प्रूफ पढ़ लेने के पश्चात् अंत में अपना संक्षिप्त हस्ताक्षर कर देना चाहिए।

(घ) **प्रूफ संशोधन के लिए निर्धारित चिह्न**

/	छूटा अंश प्रयोग करो
!	अल्प विराम लगाओ
;	अर्ध विराम लगाओ
!	विराम चिह्न लगाओ
?	प्रश्नवाचक चिह्न लगाओ
:	विसर्ग चिह्न लगाओ
–	योजक चिह्न लगाओ
(	छोटा कोष्टक लगाओ
)	छोटा कोष्टक लगाओ
(----)	छोटे कोष्टक में बंद करो
{	मध्यम कोष्टक लगाओ
}	मध्यक कोष्टक लगाओ
{----}	मध्यक कोष्टक बंद करो
[	बड़ा कोष्टक लगाओ
]	बड़ा कोष्टक लगाओ
[-----]	बड़े कोष्टक में बंद करो
“	उद्धरण चिह्न लगाओ
”	उद्धरण चिह्न लगाओ
“----”	उद्धरण चिह्न में बंद करो
d/	निकाल दो।
	निकाल कर जोड़ दो
#	बीच में स्थान दो
	दाहिनी और ले जाओ
	बाईं और ले जाओ
	आपस में मिला दो
	नीचे ले जाओ
	ऊपर ले जाओ

/	अक्षर बदल दो
--------/	बिन्दुदार लाइन लगाओ
बोल्ड	बोल्ड करो
इटा	इटालिक अक्षर लगाओ

प्रूफ पठन-संशोधन का उदाहरण

व/ म/	वर्तमान समय में पत्रकारित/	ा/
क/ ◌ / #/	भा क्षे ◌त्र/पर्याप्त विस्तृत हो	स्/
र/ d/	क/ बहु आयामि ह/ गया है/	ी/ ो/#/ ा/
अंतर्गत/	इसके/दैनिक समाचार पत्र/से	#/
कर/ d/	ले/ मासिक/वार्षिक आदी/	ी/
एँ/	पत्रिकायें आती हैं/ पत्रकारिता	ि/
त्र/	के क्षेत्र में आकाशवाणी	◌/
(/	दूरदर्शन/टेलीविजन) और	ै/
d/	चलचित्र आदि की उ/लेखनिय	ल/ ी/
d/ ा/ ा/	भूमिका/ है/	

4. भाषा कंप्यूटिंग

(क) कंप्यूटरः परिचय एवं महत्त्व

1. (क) **परिभाषाः** कंप्यूटर शब्द अंग्रेजी के 'कप्यूट' शब्द से बना है, जिसका अर्थ है–'गणना'। इस शब्द के आधार पर कंप्यूटर को इस प्रकार परिभाषित कर सकते हैं–

'गणना युक्ति (Calculating Device) के आधार पर त्वरित गति से कार्य संपन्न करने वाली इलेक्ट्रानिक मशीन को कंप्यूटर कहते हैं।'

(ख) **परिचयः** सर्वप्रथम 1833 में ब्रिटेन के सर बैवेज ने एक विशेष इंजन का विकास किया, जिसमें आधुनिक कंप्यूटर के गुण थे। इसलिए सर चार्ल्स बैवेज को कंप्यूटर का जनक माना गया है।

सन् 1890 में हरमन होलिरथ को प्रथम विद्युत यांत्रिक कंप्यूटर बनाने का श्रेय मिला है। द्वितीय विश्व युद्ध के समय सन् 19939 में अनेक विध्वसंक हथियारों का निर्माण हुआ। इसी क्रम में जीवनोपयोगी यंत्रों का निर्माण हुआ। द्वितीय विश्व युद्ध में सेना की विविध गणनाओं में कंप्यूटर का भरपूर उपयोग किया गया। यहीं से मनुष्य को कंप्यूटर की विशेष शक्ति का आभास हुआ और कंप्यूटर के शोध को गति मिली है।

वर्तमान समय में कंप्यूटर संपूर्ण विश्व के लिए आकर्षण का केन्द्र बना हुआ है। कंप्यूटर शब्द आज हर पढ़े–लिखे व्यक्ति तक पहुंच चुका है। आज कंप्यूटर प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में हमारी दिनचर्या को गंभीरता से प्रभावित कर रहा है। अधिकांश लोगों का मत है कि कंप्यूटर सब कुछ कर सकता है। यह कथन उचित नहीं है। हां! कंप्यूटर सब कुछ नहीं कर सकता है, किन्तु बहुत कुछ कर सकता है।

कंप्यूटर के कार्य को देखकर ऐसा लगता है कि इसमें अपनी बुद्धि होती है, किन्तु ऐसा नहीं है। कंप्यूटर मनुष्य के आदेशानुसार कार्य करता है। बिना आदेश के कंप्यूटर कुछ भी नहीं कर सकता है। आदेश कितना भी छोटा या बड़ा हो, कंप्यूटर उसका पालन करता है। कंप्यूटर को दिए गए आदेश गलत होंगे, तो गलत कार्य करेगा और आदेश सही होने पर सही कार्य करेगा।

कंप्यूटर मनुष्य के आदेश पर कार्य करता है। इसलिए इसकी प्रक्रिया भी हमारी तरह है। हम आंखों से देखते हैं, कानों से सुनते हैं और मस्तिष्क से विचार करते हैं। आवश्यकता पड़ने पर मुख से बोलते हैं या लिखते हैं। ठीक इसी प्रकार कंप्यूटर आदेश का पालन का विवरण मेमोरी में इकट्ठा करता है और आवश्यक होने पर हमें मॉनीटर पर दृश्य अथवा प्रिंटर से टाइप रूप में प्रदान करता है।

मनुष्य बहुत सारे विवरण याद करने पर कुछ भूल भी कर सकता है, किन्तु कंप्यूटर सब सुरक्षित रखता है। कंप्यूटर से चाहे जितनी बार डाटा प्राप्त करना चाहे बहुत तीव्रता से हर बार शुद्ध रूप में प्राप्त होता है, जो मनुष्य के द्वारा सामान्य रूप में संभव नहीं है।

(ग) **महत्त्वः** कंप्यूटर के महत्त्व और मानव–जीवन की विशेष उपयोगिता को देखे हुए इस युग को कंप्यूटर युग कहा ज़ाता है। कंप्यूटर का उपयोग बड़ी–बड़ी कंपनियों, बड़े–बड़े कार्यालयों, प्रतिष्ठानों, बैंकों में दिन प्रतिदिन बढ़ता जा रहा है। कंप्यूटर आम आदमी के जीवन के लिए प्रभावी भूमिका में सामने आ रहा है। रेलवे आरक्षण, बिजली आदि कंप्यूटर से मिलने लगे हैं। शिक्षा और मनोरंजन में कंप्यूटर से आशातीत विकासात्मक परिवर्तन हो चुके हैं।

कंप्यूटर उपयोग के क्षेत्र

वर्तमान वैज्ञानिक युग में कंप्यूटर का उपयोग लगभग सभी क्षेत्रों में होने लगा है। कंप्यूटर प्रयोग के कुछ प्रमुख क्षेत्र उल्लेखनीय हैं–

1. **शैक्षणिक क्षेत्रः** वर्तमान समय में कंप्यूटर का प्रभाव सर्वाधिक रूप में शिक्षा क्षेत्र पर पड़ा है। लगभग सभी शिक्षा संस्थानों में कंप्यूटर शिक्षा अनिवार्य होती जा रही है। कंप्यूटर की शिक्षा के बाद विद्यार्थियों और शिक्षकों को बड़ी–बड़ी पुस्तकों

को रखने की आवश्यकता नहीं रही। अब सीडी में हजारों पृष्ठ की सामग्री रखना कहीं अधिक सुरक्षित और [illegible] गई है। इंटरनेट ने तो देश–विदेश के ज्ञान–विज्ञान को तथ्यों को घर–घर तक पहुचा दिया है।

2. **व्यावसायिक क्षेत्रः** वर्तमान समय के व्यवसाय में कंप्यूटर का उपयोग तेजी से बढ़ रहा है। व्यवसाय का [illegible] लेखा–जोखा कंप्यूटर के माध्यम से पर्याप्त तेजी से अर्थात् सीमित समय में व्यवस्थित रूप से संपन्न कर लिया जाता है। इससे व्यवसाय में अपेक्षित लाभ और उन्नति का अवसर मिल सकता है।

3. **वैज्ञानिक क्षेत्रः** ज्ञान–विज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों के अनुसंधान को कंप्यूटर से विशेष गति और दिशा मिली है। वैज्ञानिक को जिस विश्लेषण में कई–कई दिन लग जाते थे कंप्यूटर के सहयोग से वही कार्य कुछ सैंकडों में संपन्न हो जाता है। एक बार प्राप्त अनुकूल उत्तम परिणाम सदा के लिए उसी रूप में सुरक्षित हो जाता है। इस प्रकार कंप्यूटर वैज्ञानिक अनुसंधान के लिए वरदान सिद्ध हुआ है।

4. **प्रकाशन-क्षेत्रः** पुस्तक प्रकाशन में कंप्यूटर की भूमिका विशेष महत्त्वपूर्ण है। पहले पतली–सी पुस्तक छापने में महीनों लग जाते थे, अब कुछ ही दिनों में रंगीन, पूर्ण व्यवस्थित शुद्ध और आकर्षक पुस्तक छाप सकते हैं।

   कंप्यूटर के सहारे प्रकाशन क्षेत्र में क्रांतिकारी परिवर्तन हुआ है। समाचार पत्रों के तीव्र प्रचार–प्रसार का श्रेय कंप्यूटर को ही मिलता है।

5. **मनोरंजन-क्षेत्रः** मनुष्य कार्य करने के बाद मनोरंजन चाहता है। कंप्यूटर के माध्यम से चलचित्र जगत, दूरदर्शन और आकाशवाणी पर ज्ञानवर्द्धक तथ्यों के साथ मनोरंजक संदर्भ सरलता और प्रभावी रूप में प्रस्तुत किए जा रहे हैं। इन कार्यक्रमों के संयोजन, एडिटिंग और प्रस्तुति में कंप्यूटर की सराहनीय भूमिका होती है।

   घर के विभिन्न कार्य कंप्यूटरीकृत यंत्रों से संपन्न होने लगे हैं। विभिन्न कारों का नियंत्रण कंप्यूटर से होने लगा है। वह दिन दूर नहीं जब यांत्रिक मानव (रोबोट) हमारा सेवक या सहयोगी बन कर हमारा हाथ बंटवाएगा।

वर्तमान समय में मनुष्य की गतिशील दिनचर्या में कंप्यूटर की विशेष भूमिका है। मनुष्य को प्रत्येक क्षेत्र में कंप्यूटर से दिशा और गति मिली है।

(ख) कंप्यूटरः संरचनात्मक स्वरूप

डिजिटल कंप्यूटरों में माइक्रो कंप्यूटर (Micro Computer) आकार की दृष्टि से छोटे तकनीक की दृष्टि से श्रेष्ठ है। वर्तमान समय में प्रचलित पी.सी. (Personal computer) इसी के अंतर्गत आते हैं।

ऐसे कंप्यूटर का निर्माण सन् 1970 में माइक्रो प्रोसेसर के निर्माण के साथ हुआ है। सर्वप्रथम पी.सी. बना कर विश्व पटल पर लाने वाली कंपनी आई.बी.एम. (International Business Machine) ने सन् 1981 में यह चमत्कार किया है।

कंप्यूटर के भाग (Parts of Computer)

कंप्यूटर चाहे जिस श्रेणी का हो, अथवा चाहे जिस कंपनी का हो, उसके मुख्य भाग समान ही होते हैं। इस प्रकार कंप्यूटर के सभी भागों को समग्र रूप में पी.सी. नाम दिया गया है।

कंप्यूटर अध्ययन में इसे मुख्यतः दो भागों में विभक्त किया जाता है–

1. हार्डयर, 2. सॉफ्टवेयर

हार्डवेयरः इसमें कंप्यूटर के हिस्से या यंत्र आते हैं; यथा–सी.पी.यू. मॉनीटर, कुंजीपटल और माउस।

सॉफ्टवेयरः कंप्यूटर में प्रयुक्त प्रोग्राम जिसके आधार पर वह कार्य करता हुआ परिणाम देता है, उसे सॉफ्टवेयर कहते हैं।

पी.सी. के हार्डवेयर और सॉफ्टवेयर के समग्र स्वरूप को निम्नलिखित प्रमुख भागों में विभक्त करते हुए उसकी विवेचना कर सकते हैं।

1. **सी.पी.यू. (Central Processing Unit):** यह पी.सी. का सबसे महत्त्वपूर्ण भाग है। यह ही भाग हमारे आदेश का पालन

कर आंकड़ा ग्रहण करता और आवश्यक होने पर सुरक्षित आंकड़ा हमें देता है।

कंप्यूटर आदेशानुसार कार्य करता है। जो भी आदेश कंप्यूटर को विभिन्न पद्धतियों से दिया जाता है, वे सभी केंद्रीय संसाधन एकक (सेंट्रल प्रोसेसिंग यूनिट) के नियंत्रण कक्ष में पहुंचती है। नियंत्रण कक्ष प्राप्त सूचनाओं और आदेश को पहले प्राथमिक स्मृति (Primary Memory) में भेज देता है। यहां पहुंच कर सूचनाएं अस्थाई रूप से जमा हो जाती हैं। जब सूचनाओं को प्राप्त करनी होता है, तो ये प्राथमिक स्मृति से नियंत्रक कक्ष में आ जाती है। इसके पश्चात् सूचनाएं आउटपुट के लिए निर्णत साधनों की ओर भेज दी जाती हैं।

केंद्रीय संसाधन एकक (C.P.U.) के मध्य होने वाली इस त्वरित प्रक्रिया को इस प्रकार दर्शा सकते हैं–

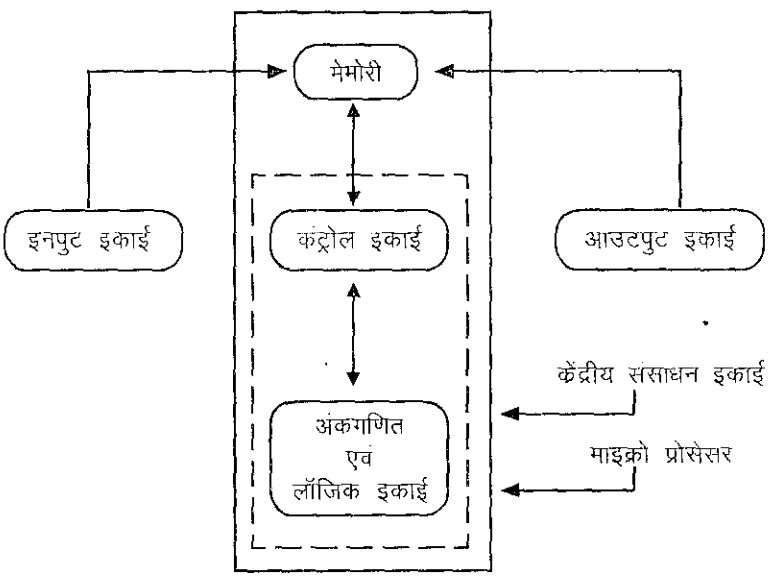

केंन्द्रीय संसाधन एकक (C.P.U.) को मुख्यतः तीन भागों में विभक्त कर इसकी विवेचना की जा सकती है–

(क) अर्थमेटिक एंड लॉजिक यूनिट (Arithmetic and Logic Unit)

(ख) कंट्रोल यूनिट (Control Unit)

(ग) प्राथमिक स्मृति (Primary Memory)

(क) **अर्थमेटिक एंड लॉजिक यूनिट (ALU):** केंद्रीय संसाधन एकक का यह महत्वपूर्ण भाग गणित और तर्क का कार्य संपन्न करता है। इस प्रक्रिया में जोड़ने, घटाने, भाग करने और गुणा करने का कार्य संपन्न होता है। तर्क प्रक्रिया से तुलनात्मक अध्ययन का निष्कर्ष सामने आता है। इससे यह स्पष्ट होता है कि दो में कौन बड़ा या छोटा है अथवा कितने आपस में बराबर हैं। गणतीय प्रक्रिया में अंकों अर्थात् 0, 1, 2, 3, 4, 5, 6, 7, 8, 9 का प्रयोग किया जाता है, तो तार्किक प्रक्रिया में अंकों के साथ शब्दों का प्रयोग संभावित होता है।

(ख) **कंट्रोल यूनिट (CU):** केन्द्रीय संसाधन एकक का यह भाग निर्देशक और नियंत्रक का कार्य करता है। कंट्रोल यूनिट के द्वारा अर्थमेटिक एंड लॉजिक यूनिट और प्राथमिक स्मृति में सामंजस्य स्थापित करके कार्य को गति देने की भूमिका निभाई जाती है। इन दोनों के मिलकर कार्य करने पर अपेक्षित परिणाम सामने आता है। कंट्रोल यूनिट के माध्यम से Input devices और Output devices को केन्द्रीय संसाधन एकक से जोड़ने का कार्य संभव होता है। इस प्रकार कंट्रोल यूनिट कंप्यूटर का संयोजक और निर्देशक भी है। कंट्रोल यूनिट की स्थिति और कार्य भूमिका को इस प्रकार रेखांकित कर सकते हैं–

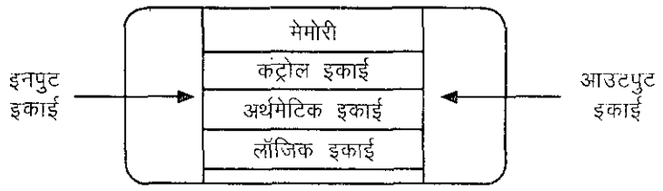

(ग) **स्मृति (Memory):** मनुष्य की स्मृति (मेमोरी) के ही समान कंप्यूटर की स्मृति होती है। कंप्यूटर के जिस भाग में आकड़ा और प्रोग्राम सुरक्षित रहते हैं, उसे कंप्यूटर की स्मृति (मेमोरी) कहते हैं।

प्राथमिक स्मृति अस्थाई होती है। इसमें आंकड़े या प्रोग्राम तब तक रहते हैं, जब तक उसमें विद्युत धारा होती है। विद्युत धारा के बंद होते ही प्राथमिक स्मृति का सारा विवरण लुप्त हो जाता है। प्राथमिक स्मृति का विवरण स्थाई नहीं हो सकता इसलिए इसे स्थाई बनाने के लिए द्वितीयक स्मृति में सुरक्षित (Save) कर दिया जाता है। इस प्रकार भविष्य में जब भी इन सूचनओं की आवश्यकता हो, तो उन्हें प्राप्त कर सकते हैं।

2. **कुंजी पटल (Key Board):** यह कंप्यूटर का मुख्य इनपुट डिवाइस है। इसकी विभिन्न कुंजियों को हाथ की उंगलियो से दबाकर आंकड़ा टाइप किया जाता है। यह टाइपराइटर के कुंजी–पटल की तरह ही कार्य करता है। इस पर जो भी टाइप किया जाता है वह स्क्रीन पर दिखाई देता है।

पी.सी. बनाने वाली विभिन्न कंपनी अनेक प्रकार के कुंजी–पटल का निर्माण करती है। दो प्रकार के कुंजी–पटल का निर्माण करती है। दो प्रकार के कुंजी–पटल मुख्य रूप से उपलब्ध हैं। एक प्रकार के कुंजी पटल में 101 बटन और दूसरे में 104 बटन होते हैं।

विभिन्न बटनों की भूमिका अलग–अलग होती है। कुछ प्रमुख वर्ग की बटनों का परिचय इस प्रकार है–

(क) **वर्णमाला (अल्फाबेटिकल कुंजी):** कुंजी–पटल पर लिपि विशेष के सभी वर्णों के लिए कुंजियां होती हैं। कुछ कुंजी–पटल दो लिपियों के वर्ण या चिह्न अंकित होते हैं; यथा–रोमन और नागरी के कुंजी–पटल।

(ख) **संख्यात्मक पटल (न्यूमेरिक) कुंजी:** लिपि विशेष के सभी अंकों–0, 1, 2, 3, 4, 5, 6, 7, 8, 9 के लिए कुंजिया होती हैं।

(ग) **फंक्शन कुंजी:** कुंजी–पटल पर F1, F2.....F12 कुंजियां होती हैं। ये कुंजियां पूरे आदेश का पालन कर परिणाम देती हैं।

(घ) **लॉजिकल कुंजी:** लॉजिकल चिह्नों के लिए कुछ कुंजियां एक क्रम में निर्धारित होती है, यथा —, < >, ', &, / आदि।

(ङ) **कर्सर कंट्रोल कुंजी:** कर्सर को नियंत्रित करने के लिए कुछ कुंजियों की व्यवस्था एक स्थान पर होती है। इस प →, ←, ↑, ↓, बने चिह्न क्रमशः कर्सर को दाएं, बाएं, ऊपर और नीचे ले जाने का संकेत करते हैं।

(च) **विशेष कुंजियां:** कुंजी पटल में कुछ अन्य प्रमुख कुंजियां हैं–इंटर कुंजी, शिफ्ट कुंजी, डेल कुंजी, पजअप कुंजी, पेज टाउन कुंजी आदि।

3. **मॉनीटर (Monitor):** कंप्यूटर के समस्त आंकड़े और सूचनाओं को मुख्यतः देखने के लिए जिस आधार का उपयोग किया जाता है उसे मॉनीटर कहते हैं।

मॉनीटर को कंप्यूटर का प्रारंभिक निर्गम आधार (आउटपुट डिवाइस) मान सकते हैं। मॉनीटर के स्वरूप में लगातार परिवर्तन होता रहा है।

मॉनीटर को मुख्यतः दो वर्गों में विभक्त कर सकते हैं:–

(क) **कलर मॉनीटर:** वर्तमान समय में कलर मॉनिटर के भी कई प्रकार आ गए हैं। इनमें प्रमुख हैं–सामान्य कलर

मॉनीटर, ए.जी.ए. कलर मॉनीटर, बी.जी.ए. कलर मॉनीटर, एस.पी.जी.ए. कलर मॉनीटर और मल्टी सिंक कलर मॉनीटर।

(ख) **मोनोक्रोम मॉनीटर:** यह एक रंग पर आधारित मॉनीटर होता है। इसमें एक रंग का ही डिस्प्ले देख सकते हैं। एक रंग के मॉनीटरों के भी अनेक रूप बाजार में उपलब्ध हैं।

4. **माउस (Mouse):** इसके प्रयोग कंप्यूटर के इनपुट डिवाइस के रूप में किया जाता है। कुंजी पटल के माध्यम से जो कार्य नहीं हो पाता, उसे माउस के माध्यम से करते हैं।

इसका आविष्कार सन् 1977 में स्टनेफोर्ड रिसर्च लेबोरट्री के चर्चित वैज्ञानिक सी. इंडोलवर्ट ने किया था।

माउस मुख्यतः चार प्रकार के मिलते हैं–बस, आप्टिकल माउस, मैकेनिकल माउस, सीरियल माउस।

प्रत्येक पी.सी. के माउस को लगाकर उसे क्रियान्वयन करते हैं। इसे रबर या कॉटेन के पैड पर घुमाते हैं। इससे मॉनीटर पर इसका Icon हमारे हाथ के साथ चलता है। Icon को मॉनीटर के किसी आदेश पर ले जाकर माउस के आगे के बाएं भाग को दो बार दबाते हैं, तो कार्य शुरू हो जाता है।

इस प्रकार माउस कंप्यूटर का प्रमुख निवेशक अंग है।

(ग) आँकड़ा संसाधन

आंकड़ा ससाधन को अंग्रेजी में Data Processing कहते हैं। किसी वस्तु या विषय के संदर्भ में जो जानकारी उपलब्ध होती है उसे आंकड़ा (Data) कहते हैं। यदि एक गाय के विषय में उसके रंग, कद, वजन, देने वाले दूध की मात्रा आदि विवरण दिया जाए, तो यह गाय से संबंधित आंकड़ा होगा।

आंकड़े मुख्यतः दो प्रकार के होते हैं--प्रथम वर्णात्मरक, जो शब्दों में ओर संख्यात्मक, जो अंकों 0, 1, 2, 3, 4, 5, 6, 7, 8, 9 से संबंधित होते हैं।

कंप्यूटर के माध्यम से परिणाम प्राप्त करने के लिए जब आंकड़ों का उपयोग किया जाता है, तो उसे आंकड़ा संसाधन कहते हैं। इस प्रक्रिया में जोड़ना, घटाना, गुणा करना, भाग देना आदि संभव होता है। इन पद्धतियों को अपना कर हम सूचना या परिणाम प्राप्त करते हैं। पहले ये कार्य कागज और कलम के सहयोग से किया जाता था। अब वही कार्य त्वरा के साथ इलेक्ट्रॉनिक आंकड़ा संसाधन (Electronic Data Processing) के आधार पर किया जाता है।

आंकड़ा संसाधन प्रविधि

मनुष्य ने कंप्यूटर विकसित कर उसमें अपनी कार्य--शक्ति को विकसित कर दिया। जिस प्रकार हम अपनी आंखों से किसी वस्तु का रंग देखते हैं, कानों से ध्वनि का श्रवण करते हैं, त्वचा से स्पर्श का अनुभव करते हैं, ठीक उसी प्रकार कंप्यूटर में निवेश आधार (इनपुट डिवाइस) पर सूचनाएं अन्दर पहुंच कर उसकी स्मृति की धरोहर बन जाती है। जिस प्रकार मनुष्य का मस्तिष्क प्राप्त सूचनाओं को विश्लेषण करता है ठीक उसी प्रकार कंप्यूटर के केंद्रीय संसाधन एकक में सूचनाओं का विश्लेषण होता है। मनुष्य कान, नाक, आंख, त्वचा आदि के माध्यम से प्राप्त सूचनाओं के विश्लेषण के बाद संबंधित भाव को मुंह, आंख और हाथ आदि से प्रकट करता है। ठीक इसी प्रकार कंप्यूटर आंकड़ा संसाधन के बाद सूचनाओं को मॉनीटर, प्रिंटर और स्पीकर द्वारा प्रकट करता है।

मनुष्य के मस्तिष्क और कंप्यूटर की स्मृति में भिन्नता यह है कि मनुष्य का मस्तिष्क प्राप्त आंकड़ों से आगे कल्पना लोक में जा सकता है, उसे प्रकट भी कर सकता है, किन्तु कंप्यूटर प्राप्त आंकड़े तक ही सीमित रहता है। वह आंकड़े से बाहर नहीं जा सकता है।

कंप्यूटर में आंकड़ा का संसाधन जितनी व्यवस्था तथा श्रेष्ठता से किया जाएगा, परिणाम भी उतना ही उत्तम प्राप्त होगा।

कंप्यूटर के आंकड़ा संसाधन की एक प्रमुख विशेषता है कि आंकड़े को क्रमबद्ध रूप में अपने मनोनुकूल प्राप्त कर सकते हैं। एक ही आंकड़े का उपयोग अनेक बार और अनेक पद्धति से किया जा सकता है।

कप्यूटर के आकड़ा संसाधन की एक अन्य उल्लेखनीय विशेषता है कि इसकी प्रक्रिया मनुष्य की गति से कई अधिक [illegible] है। इसके साथ ही जिस गणना में हमें घंटों–घंटों समय लग जाता है, उसे कप्यूटर के माध्यम से सैकड़ों में [illegible] किया जा सकता है। हम कंप्यूटर में आए हुए आंकड़े का उपयोग जितनी बार चाहें कर सकते हैं। टाइपराइटर पर टाइप किए गए एक पत्र को दस आदमियों के पास भेजना हो, तो दस बार टाइप करना होगा या कार्बन का उपयोग करना होगा। कप्यूटर में उपलब्ध के दस प्रिंट निकालना अत्यंत सरल कार्य है।

इस प्रकार स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि माउस और कुंजी पटल के सहारे आंकड़ा प्रस्तुत करते हैं। मॉनीटर पर उसकी शुद्धता परखते हुए प्रारंभिक स्मृति से स्थाई स्मृति में सुरक्षित कर देते हैं। संसाधित आंकड़ा किसी भी समय स्क्रीन पर [illegible] सकता है अथवा प्रिंटर के माध्यम से प्रिंट रूप में प्राप्त किया जा सकता है।

आंकड़ा संसाधन को मुख्यतः निम्नलिखित भागों में विभक्त किया जा सकता है:

1. **हार्डवेयर विकल्प (Hardware Option):** आंकड़ा संसाधन के हार्डवेयर विकल्प के विकास में आई.आई.टी. कानपुर की भूमिका विशेष रूप से उल्लेखनीय रही है। सॉफ्टवेयर की इस प्रणाली को जिस्ट प्रौद्योगिकी (Graphic and Intelligence based Script Technology) नाम दिया गया है। आंकड़ा संसाधन की इसी प्रणाली को अपनाकर भारत सरकार के 'सी–डेक' सोसाइटी ने 'परम' नामक सुपर कंप्यूटर का विकास किया है। यह सोसाइटी सी–डेक (Centre for Development of Advanced Computering) महाराष्ट्र प्रदेश के पुणे में स्थित है। जिस्ट प्रौद्योगिकी को मेनफ्रेम कंप्यूटर के 'मदर बोर्ड' पर एक 'प्लग इन कार्ड' लगाया जाता है। इसे जिस्ट कार्ड कहते हैं। इस जिस्ट कार्ड द्वारा कई बी.एम. पर्सनल कंप्यूटरों में द्विभाषिक अथवा बहु भाषिक आंकड़ा संसाधन संभव हुआ है। यूनिक्स और जीनिक्स परिचालन पद्धतियों के लिए जिस्ट कार्ड के स्थान पर 'जिस्ट टर्मिनल' की अपेक्षा होती है। जिस्ट प्रौद्योगिकी के माध्यम से हिंदी और विभिन्न भाषाओं का प्रयोग संभव हुआ है।

2. **सॉफ्टवेयर विकल्प (Software Option):** आंकड़ा संसाधन की यह प्रविधि विशेष महत्वपूर्ण है। इसमें सॉफ्टवेयर का विकल्प फ्लापी के रूप में प्राप्त किया जाता है। इसके लिए अपने कंप्यूटर में किसी प्रकार के परिवर्तन की आवश्यकता नहीं होती है। केंद्रीय संसाधन एकक की स्मृति से आंकड़े को फ्लापी डिस्क के रूप में उपलब्ध कर लेते हैं। इस प्रकार से लंबे समय तक के लिए आंकड़े को सुरक्षित रख सकते हैं और जब भी आवश्यक हो, उपयोग कर सकते हैं।

   फ्लापी डिस्क के रूप में उपलब्ध पैकेज का दो रूपों में विभक्त कर सकते हैं–

   (अ) **समर्पित सॉफ्टवेयर प्रोग्राम (Dedicated Software Programmes):** यह हिंदी में आकड़ा संसाधन का [illegible] महत्वपूर्ण सॉफ्वेयर है–बेस (द्विभाषी डाटाबेस प्रबंधन प्रणाली)। इस सॉफ्टवेयर का निर्माण दिल्ली [illegible] सॉफ्टवेयर प्राइवेट लिमिटेड द्वारा किया गया है। यह सॉफ्टवेयर 'डी–बेस' III प्लस का द्विभाषी संस्करण है। हिंदी में काम करने के लिए एक उपयोगी पैकेज है। इसमें संशोधन की प्रक्रिया चल रही है।

   (आ) **सामान्य उद्देशीय सॉफ्टवेयर परिवेश (General Purpose Software Environment):** आकड़ा संसाधन का यह ऐसा परिवेश है, जिसमें रोमन के अनेक सॉफ्टवेयर पैकेज उपलब्ध हैं; यथा–डी–बेस, लोटस क्लिपर और सॉफ्टबेस आदि। इन पैकेजों पर हिंदी में भी काम किया जा सकता है। इस परिवेश के विभिन्न प्रोग्रामिंग पर भी हिंदी में कार्य करना संभव है। नई दिल्ली के आर.के. कंप्यूटर रिसर्च फाउंडेशन द्वारा निर्मित सुलिपि नामक सॉफ्टवेयर जिस्ट के ही समकक्ष सामान्य उद्देशीय सॉफ्टवेयर हैं। इसके आधार पर एम.एस. डॉस पर आधारित पर्सनल कंप्यूटरों पर सभी कार्य हिंदी और अंग्रेजी में साथ–साथ किए जा सकते हैं। जिस्ट और सुलिपि के अंतर्गत विभिन्न भारतीय भाषाओं के लिप्यंतरण की उत्तम सुविधा है। जिस्ट और सुलिपि में मुख्य अंतर यह है कि जिस्ट के माध्यम से एम.एस. डॉस और यूनिक्स/जेनिक्स परिवेश में हिंदी कार्य करना संभव होता है, तो सुलिपि में एल.ए.एन. (Local Area Network) परिवेश में हिंदी कार्य करना संभव है।

काव्यांग

रस और अलंकार

1. रस

रस को काव्य में विशेष महत्त्व देने के आधार पर रस को काव्य की आत्मा कहा गया है। आचार्य विश्वनाथ ने 'साहित्य दर्पण' में काव्य की व्याख्या करते हुए लिखा है, "रसात्मकं वाक्यं काव्यम्" अर्थात् रसात्मक वाक्य काव्य (साहित्य) है। **साहित्य अर्थात् कविता, कहानी, उपन्यास, नाटक आदि पढ़ने और नाटक देखने से जो आनंद मिलता है, उसे 'रस' कहते हैं।** रस की चर्चा आचार्य भरत मुनि से लेकर आज तक की जाती रही है।

परिभाषा-स्वरूप

काव्यानुभूति को संस्कृत काव्यशास्त्र में 'रस' संज्ञा से अभिहित किया गया है। रस--स्वरूप का सर्वांग–सम्पूर्ण परिनिष्ठित निरूपण अभिनवगुप्त की कृतियों में प्राप्त होता है। अभिनवगुप्त ने रस की स्वरूप बोधक निम्नलिखित विशेषताओं का उल्लेख किया है–

समस्त विघ्नों से विनिर्मुक्त संवित्ति, चमत्कार, निर्वेश, रसन, आस्वादन, भोग, समापत्ति, लय, विश्रान्ति आदि।

अभिनवगुप्त की शैवाद्वैत–परम्परा से भिन्न शांकर अद्वैत--परम्परा के आचार्य विश्वनाथ के अनुसार रस–स्वरूप–विषयक विशेषताएँ इस प्रकार हैं–

सत्त्वोद्रेक, अखण्ड, स्वप्रकाशानन्द, चिन्मय, वेद्यान्तर–स्पर्शशून्य, ब्रह्मा स्वादसहोदर, लोकोत्तर, चमत्कार प्राण, स्वाकारवत् अभिन्न, आस्वाद रूप।

अन्य आचार्यों ने शब्द–भेद से प्रायः इन्हीं विशेषताओं को दुहराया है। जो संक्षेप में इस प्रकार है:

1. रस आस्वाद रूप हैं, सहृदय जिसका रसन या भोग करता है।
2. यह आस्वाद सत्योद्रेक की स्थिति में होता है, जिसकी परिणति चित्त की विश्रान्ति, लय और समाप्ति में होती है।
3. रस निर्विघ्न और अखण्ड होता है।
4. रस चिन्मय, अन्य–ज्ञान रहित और स्व प्रकाश होता है।
5. रस लोकोत्तर–चमत्कार प्राण है।
6. रस ब्रह्मास्वाद सहोदर है।

1. **आस्वादरूपता:** रस काव्यार्थ के रूप में आस्वाद्य और स्वयं आस्वाद रूप है, ऐसा निरपवाद रूप में सभी आचार्यों ने स्वीकार किया है। भरत ने रस को रस संज्ञा ही उसके 'आस्वाद्यत्व' के कारण दी तथा रस की उपमा नाना प्रकार के व्यंजनों से संस्कृत अन्न से देते हुए कहा कि जैसे उक्त प्रकार के अन्न को खानेवाले पुरुष रसों का आस्वाद करते हैं एवं हर्ष को प्राप्त करते हैं.....उसी प्रकार नाना प्रकार के भावों और अभिनयों के द्वारा व्यक्त किए गए वाचिक, आंशिक तथा सात्त्विक अभिनयों से युक्त स्थायी भाव का सहृदय प्रेक्षक आस्वादन करते हैं और हर्षादि को प्राप्त करते हैं।

   अन्न ग्रहण के आस्वाद और रसास्वाद में अन्तर ग्राहक इन्द्रिय का है, यह भी अभिनव गुप्त ने स्पष्ट किया है। भोजनास्वाद रसनेन्द्रिय का व्यापार है और काव्यास्वाद मानस व्यापार है। रसास्वाद के लिए चित्त वृत्ति का विषय में पूर्ण निवेश और तन्मयी भवन अनिवार्य है, जबकि भोजनास्वाद के क्षणों में भोक्ता अन्यथा चित्तवृत्ति से भी आस्वादन में समर्थ हो सकता है। समानता दोनों में यही है कि दोनों का परिणाम या फल है आह्मदन तथा चर्वण और चर्वण का अर्थ है – सब इन्द्रियों का समकाल सन्तोष।

भट्टनायक ने 'आस्वादनात्माऽनुभवो रसः काव्यार्थ उच्यते।' कहकर रस का आत्मानुभव का आस्वादन स्वीकार किया है।

इसी आस्वादरूपता को आगे चलकर अभिनवगुप्त ने रस का अन्य प्रतीतियों से भेदक लक्षण बताया है। उन्होंने एकाधिक स्थलों पर रस का सामान्य लक्षण निरूपित करते हुए आस्वाद्यता को उसका भेदक लक्षण माना है। इसी आधार पर रस तथा भाव को एक मानते हुएवे एक ही 'सामान्य रस' अथवा 'महारस' को स्वीकार करते हैं। भोज ने साधारणीकरण के सिद्धान्त की स्पष्ट स्वीकृति या व्याख्या न करते हुए भी रस को हृदयस्थित अहं का आस्वाद माना है। रस–विषयक विविध प्रश्नों का संग्रह सार प्रस्तुत करने वाले विश्वनाथ ने भी रस को निज स्वरूप से अभिन्न आस्वाद–रूप माना है। इसके अतिरिक्त पंडितराज जगन्नाथ भी रस का आस्वादन स्वीकार करते हैं और मानते हैं कि चैतन्य के ऊपर से अज्ञानरूप आवरण का टूट जाना ही रस–चर्वणा (आस्वादन) है, अथवा अन्तःकरण की आनन्दाकार वृत्ति को रस–चर्वणा समझना चाहिए।

इन आचार्यों के अतिरिक्त उन आचार्यों ने भी, जो प्रत्यक्षतः रस–रस परम्परा में नहीं माने जाते, रस की आस्वादरूपता का समर्थन किया है। उदाहरण के लिए वक्रोक्तिवादी आचार्य कुन्तक और व्यक्ति विवेककार अनुमतिवादी महिमभट्ट भी रस को आत्मास्वाद रूप मानते हैं।

2. सत्वोद्रेक, विश्रान्ति, लय और समापत्ति–रस की अभिव्यक्ति होने पर सतोगुण का उद्रेक होता है। भट्टनायक ने रस–भोग की स्थिति का वर्णन करते हुए कहा है कि रस के भावित होने पर वह भोग रज और तम के अनुवेध से विचित्र सत्त्वोद्रेकमय होता है। उस सत्त्वोद्रेकमय में चित्तद्रुति विस्तार और विकास की स्थितियाँ प्राप्त करता है। इसकी परिणति अन्ततः सहृदय के संवित की विश्रान्ति में होती है। इसी को आचार्यों ने लय एवं समापत्ति भी कहा है।

3. रसास्वाद को संस्कृति के आचार्यों ने अखंडानुभव कहा है। वे अखंड अनुभूति का दो अर्थों में प्रयोग करते हैं:

(क) आचार्य आनन्दवर्द्धन ने रस–व्यापार को मात्र रसिकगत व्यापार न मानकर कवि–सहृदयगत अखंडानुभवरूप व्यापार माना है। इसीलिए वे सरस्वती के तत्त्व को भी कवि सहृदयरूप मानते हैं और सवीकार करते हैं कि रस की यह प्रतीति कवि से सहृदय तक अखंड रूप में आती है।

(ख) अखंडानुभूति का दूसरा अर्थ रसिक की रसानुभूति के पक्ष में किया गया है। रस–सामग्री के विभिन्न अंगों–विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी आदि की प्रतीति सहृदय को खंड–खंड रूप में न होकर रसिक का रसास्वाद अखंड एकघन प्रतीति के रूप में होता है। उपर्युक्त खंड एवं उनका संयोग इस क्रम से रसिक को रस–प्रतीति नहीं होती। रसिक की दृष्टि से विभावादि की रस–निरपेक्ष रूप में सत्ता ही नहीं है। इन खंडों की कल्पना केवल अध्ययन की सुविधा के लिए की जाती है। रस के लोक भिन्न स्वरूप के विवेचन के सन्दर्भ में यही चर्चा रस की 'समूहालम्बनता' के रूप में की जाती है। रस–सामग्री ही नहीं गुणालंकार, शब्दार्थ आदि की प्रतीति भी रसिक तो क्या कवि को भी खंड रूप में नहीं होती। काव्यास्वाद की दृष्टि से देखें तो कहना होगा कि उसमें शास्त्रतः विवेच्य किन्तु प्रतीतियः अविभाज्य घटक दिखाई देते हैं। अभिनवगुप्त के अनुसार जो प्रतीति के धरातल पर अपोद्वार बुद्धि से विभाजित हो जाता है।

रसास्वाद को अखंड अनुभूति मानने का कारण वेदान्त की वाक्यबोध की अपनी उपपत्ति है। वेदान्त के सिद्धान्त वाक्य या 'महाकाव्य' परब्रह्म का बोध कराते हैं। श्रुति वाक्यों से उत्पन्न अखण्ड बुद्धि के द्वारा वेदान्तियों के अनुसार परब्रह्मात्मक अर्थ का ज्ञान होता है। अर्थ का बोधक सम्पूर्ण वाक्य ही होता है, और उसके विभाग को कल्पनामात्र तथा व्युत्पत्ति दशा तक सीमित मानते हैं।

इन आचार्यों ने रस की अखंडता की इतनी आग्रहपूर्वक प्रतिष्ठा की कि काव्यार्थ और रसानुभूति के बीच कोई बाधा या विघ्न स्वीकार नही किया। ध्वनिवादी आचार्यों ने तो रस व्यापार को ही असंलक्ष्यक्रम ध्वनि के अन्तर्गत रखा और रसानुभूति को ' झटिति प्रत्यय' कहा। अभिनवगुप्त के मतानुसार काव्यगत विभावादि के माध्यम में होनेवाली रस प्रीति में सहृदय के चित्त में रस–सामग्री से व्यंग्य काव्यार्थ और रसास्वाद के बीच का क्रम लक्षित नहीं होता, इसीलिए रसादिध्वनि को वे असंलक्ष्य क्रम – ध्वनि के अन्तर्गत रखते हैं। काव्य –पक्ष में शब्दार्थ के व्यापार की दृष्टि से जो असंलक्ष्य–क्रम ध्वनि है, सहृदय पक्ष में रसास्वाद की दृष्टि से वही 'झटितिप्रत्यय' है, जिसका अर्थ है काव्य पढ़ने के

समकाल ही रस--प्रतीति होना। व्यंजना व्यापार के द्वारा रसानुभूति की प्रक्रिया समझाने के लिए ही ध्वनिवादी आचार्यो ने रसास्वाद का निरूपण झटितिप्रत्यय के द्वारा किया। स्वयं आनन्दवर्द्धन ने भी कहा था कि रस आदि का प्रत्यय विभावादि के वाक्यों के समकाल ही अवभासित होता है।

आनन्दवर्द्धन ने काव्य--रसिक की बुद्धि के दो धर्म सामान्यत्व से ग्रहण करना तथा काव्य--प्रतीति में विश्रान्त होना -- स्वीकार किए हैं और ऐसी बुद्धि को वे 'तत्वार्थदर्शिनी' बुद्धि कहते हैं। इसके अतिरिक्त रसिक के तन्मयीभाव के लिए तीसरी आवश्यकता है अनुमानपटुता की। ये सब साधन हैं, साध्य हैं -- झटितिप्रत्यय अर्थात तत्काल प्रतीति। यदि यह झटितिप्रत्यय रसिक को सिद्ध न हुआ तो रसावेश भी सम्भव नहीं। यही मम्मट के शब्दों में 'सद्यः पर निर्वृत्ति' है। अभिनवगुप्त ने अन्ततः इसे आनन्द निर्वृत्ति और चमत्कार का पर्याय स्वीकार किया है।

रस--प्रतीति अपनी अखण्डता और निर्विघ्नता में एकधन भी है। रसास्वाद के लिए एक धन विशेषण का प्रयोग अभिनवगुप्त ने इस अनुभूति की निर्विघ्नता, अखण्डता और सघनता की व्यंजना के लिए किया है, जिससे प्रमाता की पूर्ण तन्मयता या तल्लीनता की व्यंजना भी होती है। रसानुभूति एकघन इसलिए हैं कि

i) उसमें अनेक घटकों का संघटन होता है।

ii) यह अनुभूति निर्विघ्न एवं अखण्ड होती है।

iii) यह अनुभूति सघन होती है। श्री आनन्द कुमारस्वामी के अनुसार एकघनता बहुविध तत्त्वों का दिकगत् विस्तार -- निरपेक्ष घनीभूत रूप है।

इस प्रकार एकघनता संवित की एक विशेष अवस्था है जिसमें चित्त किसी प्रकार के विघ्न से बाधित नहीं होता।

4. रस चिन्मय, अन्य ज्ञान--रहित और स्वप्रकाश है, रस को भट्टनायक ने आत्मचैतन्य से प्रकाशित आनन्दमयी चेतना के रूप में स्वीकार में किया है। जब वे उसे स्वप्रकाशानन्दन कहते हैं तो उनका आशय आत्म के चैतन्यानन्द से होता है। लौकिक अनुभूति से रस की भिन्नता का विवेचन करते हुए यह स्पष्ट किया जाता है कि ऐन्द्रिय बोधों से एवं लौकिक अनुभवों से भिन्न है और इस अर्थ में अलौकिक है कि वह स्वसंवित का आस्वाद है। यह आस्वाद सत्त्व के उद्रेक की स्थिति में होता है, अतः यह चिन्मय है, आत्मावाद होने के कारण यह स्वप्रकाशित है। रसास्वाद आत्मलीनता और तन्मयता की स्थिति है, अतएव उसमें सहृदय देश--काल ममत्व और परत्व सम्बन्धी अन्य ज्ञानों से तो मुक्त रहता ही है, उसकी अहंता का भी परिहार हो जाता है। तन्मयी भाव की इस स्थिति में और उसे अहं का बोध भी नहीं होता रहता। रसास्वाद आत्मलीनता की आत्मास्वाद में की स्थिति है, अहं के बोध या आत्म के ज्ञान की नहीं। इस प्रकार संवित का यह आस्वाद आत्मानुभव होते हुए भी अहंकार का बोध या साक्षात्कार नहीं है। इस प्रकार अन्य ज्ञान से साहित्य जहाँ आत्मेत्तर तत्त्वों के परत्व के ज्ञान से शून्य स्थिति का बोधक है, वहाँ आत्मस्थ एवं स्वकीय तत्त्वों के ज्ञान के परिहार का भी।

5. रस लोकोत्तर चमत्कार प्राण है, रस की लोकोत्तरता की परिणति चमत्कार--प्राणता में होती है। इतना ही तो निश्चित है कि रस न लौकिक अनुभूति है न आध्यात्मिक, किन्तु उस अनुभूति में अन्तर्निहित चमत्कृति लोक भिन्न अवश्य है। रसास्वाद चमत्कार प्राण है और यह चमत्कृति लोकोत्तर कोटि की है। इस प्रकार जब संस्कृत के आचार्यों ने रस को लोकोत्तर चमत्कार प्राण कहा तो लोकोत्तर का प्रयोग चमत्कार के विशेषण रूप में किया और चमत्कार का प्रयोग सौन्दर्यानुभूति के अर्थ में किया। चमत्कार इन आचार्यों के अनुसार रसानुभूति या रस--चर्वणा है। क्रमशः जगन्नाथ तक आते--आते लोकोत्तरता का प्रयोग चमत्कार के पर्यायरूप में होने लग गया। क्योंकि अद्भुत या विस्मयकर होने के लिए विलक्षणता अर्थात् सामान्य से भिन्न अनिवार्य है। जो चमत्कार होगा वह लोकभिन्न भी अवश्य होगा, साथ ही चमत्कारी का सौन्दर्य के साथ अविभाज्य सम्बन्ध है।'चमत्कारित्वात' सुन्दर अर्थात सुन्दर वही है जो चमत्कृत करे ऐसा जयरथ का मत है। आनन्दवर्धन ने भी काव्यगत सौन्दर्य की व्याख्या करते हुए उसे चमत्कार रूप माना है। उनका कथन है कि सहृदय को जिस वस्तु के सम्बन्ध में नवीन स्फुरण का प्रत्यय हो, आस्वादन चमत्कार जान पड़े, उस वस्तु को सुन्दर कहा जाता है अर्थात् विषय पक्ष में जो सौन्दर्य है, विषय पक्ष में वही चमत्कार है। सौन्दर्य वस्तु धर्म है और चमत्कृति आस्वाद रूप, अतः चेतना का धर्म है। किसी अनुभव में जब चमत्कृति का भाव विद्यमान होता रहता है, तो उसका अर्थ

यह है कि वह चमत्कृति सौन्दर्य के प्रति है। यह सौन्दर्य लोकोत्तर अर्थात् लोकविलक्षण का नवीन स्फुरण का प्रत्यय करानेवाला है और उसके प्रति सहृदय की चेतना में होनेवाली प्रतीति विस्मयाभिभूत एवं आस्वाद रूप होती है।

विद्वानों ने चमत्कार के उपर्युक्त अर्थ की व्युत्पत्तिमूलक व्याख्या दो रुपों में की है, एक 'चमत् + कार' के सयोग से निर्मित जिसमें चमत् शब्द विस्मय या आश्चर्य का बोधक है और 'कार' चेतना की उक्त स्थिति के कर्तृव्य का या प्रक्रिया का। इस प्रकार चमत्कार शब्द में किसी विषय के प्रति जो सहसा ही हमारी चेतना को अभिभूत कर लेता है, विस्मय या आश्चर्य का भाव सदैव विद्यमान रहता है। परंपरागत मत के अनुसार 'चमत्' की व्युत्पत्ति 'चम' से स्वीकार की गई है। जिसका अर्थ है भोग या आस्वादजन्य आनन्द। अतः 'चमत्' का अर्थ हुआ किसी वस्तु का विशेषकर सौन्दर्यात्मक या रहस्यात्मक आस्वाद जन्य आनन्द में तन्मय होना। अभिनवगुप्त ने उक्त दोनों व्युत्पत्तियों की स्वीकृति दी है। इनकी व्याख्या क अनुसार चमत्कार पर निरपेक्ष आत्मविश्रान्ति की स्थिति है। विशिष्ट कार्य का द्योतक है। इस शब्द का अर्थ है निर्विघ्न आस्वाद। इस कार्य की घटना आन्तरिक प्रि क्रया के रुप में होती है अतः काव्य और नाटक से होनेवाला निर्विघ्न रसास्वादन भी एक प्रकार का चमत्कार है, चमत्कार इस प्रकार चेतना की विशिष्ट अवस्था है जो निर्विघ्न होती है, जिसमे भोक्ता स्वव्यक्तित्व की विशिष्टता का पूर्णपरिहार कर देता है। कदाचित् इसी दृष्टि से विश्वनाथ ने चमत्कार को एक प्रकार का आत्मविस्तार स्वीकार किया है।

चमत्कार का प्रयोग प्रत्यभिज्ञादर्शन और अभिनवगुप्त से पूर्व 'योगवाशिष्ठ' में चित्तचमत्कार' के लिए किया गया है जो प्रो. सुरेन्द्रनाथ दास गुप्ता के अनुसार 'सेल्फ फ्लेशिंग ऑफ थाट है। काव्यास्वाद के लिए चमत्कार शब्द का प्रयोग संभवत दर्शन के क्षेत्र से ही अपनाया गया है, ठीक उसी प्रकार जैसे काव्यानन्द के लोकभिन्न स्वरूप की व्याख्या उसे ब्रह्मस्वाद–सहोदर कहकर की गई है और उसे ब्रह्मानन्द का समकक्षी आनन्द ठहराया गया। परमानन्द की अनुभूति से होनेवाली चित्तचमत्कृत्ति के समकक्ष ही रस के प्रसंग में चमत्कार का प्रयोग किया गया।

रस के विषय में अग्निपुराण में लिखा गया है, "वेदान्त में कहा गया है कि ब्रह्म अक्षर है, परम है, सनातन है, अज्ञ है, विभु है, अद्वितीय है, चैतन्य है, ज्योति है और ईश्वर है। उसका सहज आनन्द जब कभी व्यक्त होता है, तो उसकी वह 'व्यक्ति' चैतन्य चमत्कार अथवा रस कहलाती है।

प्रतिभिज्ञादर्शन में चमत्कार का व्यापक अर्थ में प्रयोग चित्त के समस्त रूपों के लिए किया गया है। उस मूल चेतन–तत्त्व के लिए जो आत्मा या चेतन को जड़ से अलग करता है। अभिनवगुप्त की 'परात्रिंशिका–विवरण' के अनुसार चमत्कार का सर्वथा अभाव ही जड़ता है और सहृदयता चमत्कार के आवेश का आधिक्य है। इसलिए जिनका हृदय ब्रह्मानन्द अथवा काव्यानन्द के अनन्त भोग का अभ्यासी है, वही अतिशय चमत्कार का स्वाद जानता है।

संस्कृत के आचार्यों ने चमत्कार शब्द का प्रयोग सौन्दर्यास्वाद के पर्याय रूप में किया। काव्य के संदर्भ में जब विभावादि का संयोग होता है, सहृदय की चेतना में आस्वाद रूप चमत्कार निष्पन्न होता है। यह चमत्कार एक तो आस्वाद रूप होता है दूसरे विस्मय रूप। रस का चमत्कारप्राण कहने का तात्पर्य यही है।

आनन्दरूपता: रस का आस्वाद सुख रूप है अथवा दुःखरूप, इस संबंध में संस्कृत के आचार्यों में मत–भिन्नता है। नाट्यशास्त्र के व्याख्याता अभिनवगुप्त सभी रसों को सुखरूप मानते हैं। उनका कथन है कि सब–प्रधान होते हैं, क्योंकि स्वसंविद् की चर्वणा ही उनका रूप है तथा यह चर्वणा एकघन एवं प्रकाशमयी होती है और आनन्द इसका सारभूत तत्त्व है। सुख अन्तराय शून्य विश्रान्ति रूप होता है और दुःख अवभ्रिांति–रूप। इसीलिए कपिल आदि सांख्य दार्शनिक दुःख को रजोवृत्तिका धर्म मानते हुए चांचल्य को ही दुःख का प्राण मानते हैं। रसास्वाद के क्षणों में सहृदय का चित्त एकधन–संविति में विश्रान्त होता है। अतएव सभी रस आनन्द रूप होते हैं।

आचार्य भरतमुनि के टीकाकार अभिनवगुप्त का है। अभिनवगुप्त को रसों की आनन्दरूपता की साग्रह व्याख्या इसलिए करनी पड़ती है कि उनसे पूर्व कुछ रसों को दुःख रूप मानने की पद्धति भी चल पड़ी है। कुछ रसों को दुखात्मक सिद्ध करनेवाले आचार्यो ने अपने मत का आधार भरत के रस–विवेचन को ही बनाया। भरत ने रसास्वाद की तुलना 'नाना व्यंजन संस्कृतमन्न' से प्राप्त होनेवाले रसनास्वाद से करते हुए रसास्वाद और रसनास्वाद दोनों को फल सुमनम् प्रेक्षक एवं पुरुष के लिए हर्षादि का अनुभव माना है।

भरत के 'इत्याय्येव रसः' के आधार पर भी स्थायी और रस में अभेद मानने की परंपरा प्रचलित हुई। रस को सुख–दुःखात्मक माननेवाले आचार्यों ने कहा कि भरत जब हर्षादि कहते हैं, तो वहाँ आदि पद हर्ष से भिन्न दुःखात्मक अनुभव का वाचक है। क्योंकि स्थायी भावों को भरत ने उभय रूप माना है, अतः हर्षादि का अभिप्राय यह हुआ कि स्थाई के अनुसार यह आस्वाद हर्ष से विपरीत भी हो सकता है। इस व्याख्या का खण्डन असंभव नहीं। जिस दृष्टान्त का उपयोग भरत मुनि ने किया है, वही रस की आनन्दरूपता को सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है। जिस भोजन का उदाहरण वे देते हैं। उसका आस्वाद अप्रीतिकर या अरुचिकर होने का प्रश्न ही नहीं। भोजन के प्रसंग में हर्षादि से अभिप्राय हर्ष की सजातीय अनुभूतियों–परितोष, तृप्ति आदि से है। उसी प्रकार काव्य के सन्दर्भ में भी रसास्वाद का रूप आनन्दमय के अतिरिक्त और कुछ नहीं हो सकता।

रसों को दुःख–सुखात्मक मानने की भ्रान्ति का जन्म संभवतः हर्षादि प्रयोग से उतना नहीं हुआ जितना 'स्थाय्येव रसः' कहने से। इसके अतिरिक्त भी नाटक की स्वरूप व्याख्या करते हुए जब भरत ने उसे लोकवृत्ति का अनुकरण कहा और साथ ही यह भी कि जिस प्रकार लोक स्वभाव सुख–दुःख समन्वित होता है, उसी प्रकार नाटक में उसका अभिनय किया जाता है।

यह सुख–दुःखात्मक लोक स्वभाव नाटक में अभिनीत होकर किस प्रकार आनन्दप्रद बन जाता है, इस प्रक्रिया का स्पष्ट व्याख्यान करने की आवश्यकता संभवतः भरत मुनि ने नहीं समझी। इसलिए परवर्ती आचार्यों में रस को सुख–दुःखात्मक और एकान्त आनन्दरूप माननेवाली दो परंपराएं प्रचलित हुई। इनमें मतभेद का आधार यही था कि एक परिपुष्ट स्थायी को ही रस मानती थी और दूसरी रस को स्थायी से विलक्षण स्वीकार करती थी।

पहली में दण्डी, वामन, लोल्लट, श्री शंकु, सांख्यवादी भोज और जैन आचार्य रामचन्द्र गुणचन्द आते हैं। रस को केवल आनन्दरूप माननेवाली परंपरा में – आनन्दवर्धन, भट्टलोट, भट्टनायक, अभिनवगुप्त, मम्मद, हेमचन्ट, विश्वनाथ, मधुसूदन सरस्वती एवं जगन्नाथ आते हैं। प्रो. देशपाण्डे का मत है कि सुख–दुःखवादी परंपरा ध्वनि सिद्धान्त को अतएव व्यंजना व्यापार को अस्वीकार कर लौकिक प्रमाणों की सहायता से ही रस की सुख–दुःखात्मक सिद्ध करने का प्रयास करती है, जबकि ध्वनिवादी रस का भेदक लक्षण चर्वणा या आस्वाद्यता मानते हुए उसे 'स्थायिविलक्षण' स्वीकार करते हैं।

स्थायी व्यक्ति–संबन्ध है। सुख–दुखवादी आचार्यों की मान्यता है कि इसी लौकिक स्थायी का परितोष रस है और इसलिए रस भी लौकिक, परिणामतः सुख–दुःख रूप है। इस समस्या का तर्कपूर्ण व्याख्यान शैव परंपरा के आचार्यों ने किया और स्थापना की कि रस जो 'हृदय संवाद आस्वाद' है लौकिक भूमिका पर होता ही नहीं। वस्तुतः रसिक यदि लौकिक भूमिका का विगलन नहीं करता तो वह रसविघ्न है, लौकिक–सृष्टि, सुख–दुःख मोहात्मक है, प्रवृत्ति निवृत्ति रूप है एवं व्यक्ति सम्बन्ध है। इसके विपरीत रस साधारण सम्बन्ध है, चित्त की विश्रांति के कारण आनन्द–रूप है। वह अखण्ड 'आनन्दघन संवेदन'का ही आस्वादन है। कवि सृष्टि ह्यदैकमयी है।

अभिनवगुप्त के तर्क से कवि सृष्टि इसलिए आनन्दरूप है कि स्वात्मविश्रान्ति ही आह्मद का स्वभाव है। वही आनन्द रूप है और कवि स्वतंत्रता की निर्देशक है। काव्यरचना को अभिनवगुप्त अनन्य परतंत्र मानते थे। उनके अनुसार आनन्द से उच्छलित कवि शक्ति स्वयं ही अपना निर्माण करती है जो काव्य–सृष्टि कवि की स्वतंत्र इच्छा शक्ति का चमत्कारमय वैखरी रूप है। वह सहज आनन्दरूपिणी ही होगी। सृजन पक्ष में जो काव्य सहज आनन्द रूप है, वही आस्वाद के रूप में भी कैसे एकान्त आनन्दरूप होता है। इसकी व्याख्या करते हुए अभिनवगुप्त ने हृदय को स्पन्दनशक्ति से युक्त स्वीकार किया है। यही स्पन्दन शक्ति आनन्द शक्ति है। सहृदय का लक्षण वे इसी आनन्द शक्ति को मानते हैं। मधुर गीत आदि के श्रवण से तथा चन्दनादि के स्पर्श से ताटस्थ्य का परिहार होकर हृदय की जो स्पन्दमान अवस्था होती है, उसी को आनन्द शक्ति कहते हैं, जिसके कारण मनुष्य सहृदय कहलाता है।

काव्य के श्रवण के क्षणों में भी सहृदय को इसी आनन्द स्पन्दन का अनुभव होता है, जिसका तन्मयी भवन होकर देहमान नहीं टूटता, वे अहृदय हैं।

प्रचलित मत है कि अभिनवगुप्त सभी रसों को आनन्द रूप मानते थे। विद्वानों ने प्रायः यह स्वीकार कर लिया है कि जब वे रस को आनन्द रूप कहते हैं तो आनन्द सम्बन्धी उनकी अवधारणा सुखात्मक ही है। यह प्रश्न विचारणीय है। अभिनवगुप्त की दार्शनिक मान्यता के प्रकाश में इसकी व्याख्या कदाचित सम्भव है। अभिनवगुप्त ने 'तन्त्रालोक' में स्पष्ट

किया है कि आनन्दशक्ति के स्पन्द का बोध ही चमत्कार है और कवि और रसिक का हृदय–संवाद इस स्पन्द या चमत्कार की भूमि पर होता है। कवि और रसिक दोनों के सन्दर्भ में इस आनन्दशक्ति का अविष्कार काव्य तथा कलाओ की सौन्दर्य भूमि पर होता है। इस स्पन्द या चमत्कार के तारतम्य से ही सौन्दर्य के अनुभव तथा सौन्दर्य वस्तु का मूल्य निश्चित किया जाता है।

अभिनवगुप्त ने आनन्द की आठ कोटियाँ मानी हैं, प्रागानन्द, निजानन्द, निरानन्द, परानन्द, ब्रह्मानन्द, महानन्द, चिदानन्द और जगदानन्द। इनमें से चमत्कार की भूमिका वे प्रागानन्द को मानते हैं। आनन्द की इस भूमि पर पूर्णता का सस्पर्श होता है, पूर्णता में प्रवेश करने की ओर आकर्षण होता है, किन्तु प्रवेश नहीं हो पाता। प्रागानन्द आनन्दमय विश्व का प्रवेश द्वार है। काव्य का रसास्वादन करते समय रसिक भी इसी चमत्कार भूमि पर आरूढ़ होता है। इस अवस्था मे देहबन्ध छूट जाने के कारण निर्विघ्न संविन्मय प्रतीति होती है। इसी प्रकार के रसावेश के क्षणों में सहृदय भी इसी चमत्कार भूमि पर स्थित रहकर रसास्वादन करता है।

यह बात ध्यान देने की है कि अभिनवगुप्त जहाँ इस आनन्द को ब्रह्मानन्द और लौकिक आनन्द से भिन्न मानते हैं वहाँ इसे चिदानन्द से भी पृथक करते हैं। अर्थात् वे उसे विशुद्ध चित्ता का आस्वाद नहीं मानते। रस के सन्दर्भ में दुःखरूपता या सुखरूपता का प्रश्न ही नहीं उठता। सुख और दुःख लौकिक अनुभूतियों के वाचक शब्द हैं। इसीलिए आचार्यो ने रस के संदर्भ में जहाँ अलौकिक कहा है वहाँ उसके लिए आनन्द शब्द का भी प्रयोग किया है। यह आनन्द लौकिक दुःख से जितना भिन्न है, उतना ही सुख से भी। रीति की लौकिक अनुभूति और श्रृंगार रस की अनुभूति से प्राप्त सुख और दुःख का प्रश्न उठाते हैं वहाँ संदर्भ सहृदय के स्थायी भावों का होता है और संभवतः इसी दृष्टि से उन्होंने निर्वेद के अतिरिक्त सभी स्थायी भावों के उभयात्मक स्वरूप का विवेचन किया है। किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि अभिनवगुप्त के मन में इस प्रश्न को लेकर द्वन्द्व अवश्य था। वे सुखात्मक स्थायी भावों के आधार पर निष्पन्न रसों में सुख और दुखात्मक से दुःख की अनुभूति स्वीकार नहीं करते। उन्होंने स्पष्ट कहा है कि शोक भी संवित् की चर्वणा के कारण निर्विघ्न विश्रान्ति रूप होने से आनन्द रूप होता है और इसी प्रकार अन्य सभी रस भी। परन्तु इसी के साथ वे यह भी लगे हाथ कह देते हैं कि उपरंजक विषयों के कारण वीर रस के समान उनमें यह भी दुःख का स्पर्श रहता है क्योंकि यह क्लेश सहिष्णुतादि–प्रधान होता है। इस प्रकार रति आदि में भी प्राधान्य होता है। सभी सभी रसों की आनन्दरूपता घोषित करते हुए भी आचार्य कदाचित् 'सर्वेऽअी सुखप्रधानाः' का साभिप्राय प्रयोग करते हैं। यहाँ सुख की प्रधानता से तात्पर्य रस–विशेष में सुख के मात्राधिक्य से होता है। दुःख के सर्वथा निषेध से नहीं। वे उसे ब्रह्मास्वाद का समकक्षी तो मानते हैं, शुद्ध आत्मास्वाद नहीं, साथ ही उसे 'चिदानन्द' से भिन्न 'प्रागानन्द' कहकर शुद्ध चित् का आस्वाद भी नहीं मानते। इसलिए वह विशुद्ध आनन्द रूप भी नहीं है। यह आनन्द चिद्–विशिष्ट भाव का आस्वाद है। ब्रह्मास्वाद या विशुद्ध आत्मास्वाद सच्चिदानन्द रूप होता है। रस सत् इसलिए नहीं कि वह नित्यानित्य है। चित् इसलिए नहीं कि वह चिद्–विशिष्ट भाव है। अतएव उससे प्राप्त आनन्द भी विशुद्ध आत्मास्वाद नहीं है। वह चिद्–विशिष्ट भाव का संवित् का आस्वाद है जिसमें भाव के स्वरूप के अनुसार दुःख का अंश मिश्रित रहता है।

प्रश्न उठता है कि भाव का यह अंश रसास्वाद के क्षणों में आनन्द रूप कैसे हो जाता है? इसका उत्तर है कि दुःखात्मक स्थायी भाव भी आस्वाद रूप या चर्वणारूप होकर सुखदायक हो जाते हैं, इसके साक्ष्य के लिए कवि कालिदास की निम्न पक्तियाँ अप्रासंगिक न होंगी।

तयोर्यथाप्रार्थितमिन्दियार्थानासेदुषो सद्मसु चित्रवस्तु

प्राप्तानि दुःखान्यपि दण्डकेषु संचिन्त्यमानानि सुखान्यभुवन

वे दोनों उस भवन में इच्छानुसार विलास करते थे, जिसमें वनवास के समय चित्र टंगे हुए थे। उन चित्रों को देखकर वनवास के दुःखों का स्मरण करके भी उन्हें सुख ही मिलता था।

अंततः अभिनवगुप्त ने भी यही स्वीकार किया था कि स्थायी भावों का, जो सामान्यतः सुखदुःखात्मक होते हैं, काव्य में अत्यन्त आह्मादकारी संवित् का चर्वणा या आत्मास्वाद के रूप में सहृदय द्वारा भोग किया जाता है।

अभिनवगुप्त का यह मत परवर्ती आचार्यों ने मम्मट, धनिक, धनंजय, पंडितराज आदि के द्वारा मान्य हुआ। पंडितराज जगन्नाथ ने रसों की आनन्दरूपता के पक्ष में दो प्रमाण दिए–

1. श्रुतिसम्मति, तथा 2. सहृदय–प्रत्यक्ष। वेद वाक्य को तर्कातीत रूप में ग्रहणकर प्रत्यक्ष को प्रमाण मानते हुए उन्होंने तर्क दिया कि यदि सहृदयानुभूति इस बात का प्रमाण है कि करूण रस–प्रधान काव्यों से भी केवल सुख ही प्राप्त होता है, तब कार्य के अनुरोध से कारण की कल्पना करते हुए यह भी मान लेना चाहिए कि जिस प्रकार काव्य का लोकोत्तर व्यापार आह्लादजनक होता है, उसी प्रकार दुःख–प्रतिबन्धक भी।

दुःख–सुख की उपलिब्ध कैसी होती है, इसकी व्याख्या करते हुए पण्डितराज ने इसी को अलौकिक काव्य–व्यापार की महिमा कहा है जिसके द्वारा ज्ञात किए गए अरमणीय शोक आदि पदार्थ भी अलौकिक आनन्द उत्पन्न करने लगते हैं। कहना न होगा कि यह अलौकिक व्यापार व्यंजना–व्यापार है।

रस तत्त्व

रस की विवेचना में कई प्रमुख तत्त्व सामने आते हैं। रस के तत्त्वों की विवेचना निम्नलिखित शीर्षकों में कर सकते हैं।

1. **स्थायी भावः** मानव हृदय में अनेक भावों का उद्भव और विकास होता है जो भाव स्थायी रूप से सदा विद्यमान रहते हैं, उन्हें स्थायी भाव कहते हैं। ये भाव हृदय में सुप्तावस्था में विद्यमान रहते हैं। अनुकूल स्थिति में ये परिपक्व होकर रस परिपाक के लिए आधार प्रदान करते हैं। रस परिपाक में स्थायी भावों की विशेष भूमिका होती है।

   स्थायी भावों की संख्या रस के ही समान होती है–

क्रमांक	रस	स्थायी भाव
1.	शृंगार	रति
2.	हास्य	हास
3.	करुण	शोक
4.	रौद्र	क्रोध
5.	वीर	उत्साह
6.	भयानक	भय
7.	वीभत्स	घृणा (जुगुप्सा)
8.	अद्भुत	विस्मय
9.	शांत	निर्वेद
10.	वात्सल्य	बाल–स्नेह
11.	भक्ति	ईशविषयक रति

2. **विभावः** विभाव का शाब्दिक अर्थ 'कारण' है। स्थायी भाव को उद्बोधित करनेवाले कारण को विभाव कहते हैं। इन्हीं के आधार पर स्थायी भाव आस्वादन के योग्य बनता है। इसके मुख्यतः तीन अंग हैं–

   (क) **आश्रयः** जिसके हृदय में भाव उत्पन्न हो, उसे आश्रय कहते हैं। इसका अर्थ यह है कि जिसे रसानुभूति होती है, प्रारंभ में उसके हृदय में भाव उत्पन्न होता है।

   (ख) **आलंबनः** जिसके प्रति भाव उत्पन्न हो उसे आलंबन कहते हैं। यदि जनक वाटिका में सखियों के साथ शिव–मंदिर की ओर पूजा के लिए जाती हुई सीता को देख कर राम के मन में भाव उत्पन्न हो, तो 'राम' आश्रय और 'सीता' आलंबन हैं। आलंबन के ही आधार पर आश्रय के मन में भावोत्पन्न होते हैं। दोनों की प्रत्यक्ष या परोक्ष उपस्थिति अनिवार्य होती है।

(ग) **उद्दीपनः** आश्रय के मन के भावों को उद्दीप्त करने (बढ़ानेवाली) वस्तुओं, परिवेश, कार्य को उद्दीपन कहते हैं। इस प्रकार उद्दीपन रसानुभूति को अनुकूल आधार प्रदान करता है।

जनक वाटिका का मोहक वातावरण राम (आश्रय) के मन के भाव को बढ़ा देता है। यह उद्दीपन है।

3. **अनुभावः** 'अनुभाव' का शब्दिक अर्थ है–भाव का अनुसरण करनेवाला। हृदय के भावों को प्रकट करनेवाली वाचिक, शारीरिक आदि चेष्टाओं को अनुभाव कहते हैं।

अनुभावों के चार प्रकार कर सकते हैं–

(क) **आंगिक अनुभावः** विभिन्न अंगों से की जानेवाली चेष्टाएँ आंगिक या कायिक अनुभाव में आती हैं, यथा–हाथ, पैर चलाना, भ्रू–विक्षेप, कटाक्ष आदि। विशेष स्थूल और स्पष्ट अनुभाव है।

(ख) **वाचिक अनुभावः** बोलने से प्रकट होनेवाले भाव को वाचिक अनुभाव कहते हैं। इसमें व्यक्ति अपने भावों को वाणी द्वारा यथासंभव, इच्छानुसार व्यक्त करता है।

(ग) **आहार्य अनुभावः** वेश–भूषा से प्रकट होनेवाले संदर्भ को आहार्य अनुभाव कहते हैं। मनुष्य शृंगार प्रधान प्राणी है। वह मन के भावों के अनुसार वस्त्राभूषण पहनता है। इससे भावाभिव्यक्ति होती है।

(घ) **सात्त्विक अनुभावः** सहज, अप्रयत्नज अभिव्यक्ति को सात्त्विक अनुभाव कहते हैं। इसमें आश्रय को बाह्य चेष्टा नहीं करनी होती है। सात्त्विक अनुभाव विशेष प्रभावी होते हैं। इनकी संख्या आठ मानी गई है–स्तंभ, स्वेद, रोमांच, स्वर–भंग, कंप, अश्रु, वैवर्ण्य, प्रलय (चेतना–शून्यता)। यह अपेक्षाकृत सूक्ष्म या शिथिल स्थूल अनुभाव है। इससे भावों की गंभीरता का बोध होता है। यह प्रभावी अनुभाव है।

4. **संचारी भाव (व्यभिचारी भाव):** विशेष रीति से सीमित समय में स्थायी भाव को रस स्थिति तक संचरित कराने की भूमिका निभाकर लुप्त होनेवाले भाव को संचारी भाव कहते हैं। इसे व्याभिचारी भाव भी कहते हैं। जिस प्रकार व्याभिकारी, छिपकर सीमित समय में अपना कार्य पूरा कर गायब या लुप्त हो जाता है, उसी प्रकार यह भाव भी छिपकर सीमित समय में इस का परिणाम कर लुप्त हो जाता है, इसीलिए इसे व्याभिचारी भाव भी कहते हैं।

भारतीय आचार्यों ने संचारी भावों की संख्या 33 स्वीकार की है'

1. निर्वेद	2. स्मृति	3. चिंता	4. ग्लानि	5. शंका
6. दीनता	7. असूया	8. श्रम	9. मोह	10. मद
11. आलस्य	12. चपलता	13. व्रीडा	14. गर्व	15. उग्रता
16. हर्ष	17. अपस्मार	18. वितर्क	19. जड़ता	20. स्वप्न
21. उन्माद	22. धृति	23. व्याधि	24. अमर्ष	25. आवेग
26. विबोध	27. मृत्यु	28. औत्सुक्य	29. दुराव	30. निद्रा
31. त्रास	32. विषाद	33. मति		

रस के भेद

संस्कृत आचार्यों के अनुसार मुख्यतः नौ रस माने गए हैं'

शृंगार हास्य करुण रौद्र वीर भयानकाः।
वीभत्साद्भुत शांतश्च, काव्ये नव रसाः स्मृताः।।

अर्थात् साहित्य में शृंगार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, वीभत्स, अद्भुत और शांत नौ रस माने गये हैं। आधुनिक विद्वानों ने वात्सल्य और भक्ति दो नव रसों को मान्यता प्रदान की है।

ख. वर्गीकरण

शृंगार रस

साहित्य शास्त्र में रस को सर्वाधिक महत्त्व दिया गया है। आचार्य भरतमुनि ने नाट्यशास्त्र में वर्णित रसों में शृंगार रस को सर्वप्रथम स्थान दिया है। नायक और नायिका के पारस्परिक आकर्षण को 'शृंग' की संज्ञा दी जाती है। पारस्परिक प्रेम–भाव ही 'रति' है। 'रति' शृंगार रस का स्थायी भाव है। यही कारण है कि प्रेम–भाव से उद्‌भुत रस को शृंगार रस कहा गया है। **जब स्त्री-पुरुष या नायक-नायिका परस्पर आकर्षणबद्ध होते हैं, तो उनके मन में सोया 'रति' स्थायी भाव क्रमशः विभाव, अनुभाव और संचारी भावों के योग से रस दशा को पा लेता है और वह आस्वाद के योग्य बन जाता है, तो उसे शृंगार रस की संज्ञा दी जाती है।**

शृंगार में पुरुष का स्त्री के प्रति और स्त्री का पुरुष के प्रति अथवा दोनों का एक ही समय एक–दूसरे के प्रति प्रेम–भाव जगता है। काव्य में ऐसी व्यंजना को शृंगार रस कहते हैं। काव्य में राम का सीता के प्रति और सीता का राम के प्रति प्रेम–भाव देख सकते हैं। इसी प्रकार राधा का कृष्ण के प्रति और कृष्ण का राधा के प्रति अभिव्यक्त प्रेम शृंगार रस के अंतर्गत आता है। पारस्परिक लगाव में शृंगार रस की अनुभूति होती है।

सृष्टि में सर्वाधिक व्यापक और वैविध्य रूप प्रेम का ही है। प्रेम के विषय में तो यहाँ तक कहा गया है, " है प्रेम जगत का सार और कछु सार नहीं।" इसी व्याप्ति के आधार पर शृंगार रस को 'रसराज' कहा गया है।

काव्यशास्त्र के आदि आचार्य भरतमुनि ने नाट्‌शास्त्र ग्रंथ में शृंगार रस की तुलना शुद्ध पवित्र उज्ज्वल और दर्शन रूपों में करके इसे विशेष महत्त्व दिया है। शृंगार रस प्रेम पर आधारित है। प्रेम की विविधता के कारण शृंगार रस में भी वैविध्य होना स्वाभाविक है। नायिका और नायक जब एक–दूसरे के निकट संयोगावस्था में होते हैं, तो **'संयोग शृंगार'** रस होता है और जब दोनों एक–दूसरे से दूर अर्थात् वियोगास्था में होते हैं, तो **'वियोग शृंगार'** रस होता है। इसी प्रकार नायक–नायिका या प्रेमी–प्रेमिका की प्रेम–रीति पर भी शृंगार रस के नए–नए रूप सामने आते हैं यथा प्रेमी–प्रेमिका अभी मिले भी नहीं हैं, किन्तु उनके चित्र–दर्शन या गुण–श्रवण से ही प्रेम हो गया है। इसी प्रकार प्रेमी मिलन के पश्चात् प्रेमिका से दूर कहीं दूसरे शहर या दूसरे देश चला गया है। ऐसे में उत्पन्न भाव भी वियोग या विप्रलंभ शृंगार रस की उद्‌भावना होती है।

शृंगार रसः तात्त्विक संदर्भ

- **स्थायी भावः** रति
- **विभावः** आलंबन–उत्तम प्रकृति, गुणसम्पन्न नायक–नायिका।
- **उद्दीपनः** नायक–नायिका का वस्त्राभूषण, अनुकूल और उत्तम भाव–भंगिमा, सुन्दर परिवेश, मधुर गीत–संगीत, कोकिल स्वर, पक्षियों का कलरव, मधुर वाणी, मोहक चित्र, उपवन, एकांत, शीतल मंद सुगंध, चन्द्र–ज्योत्स्ना आदि।
- **अनुभावः** प्रेमपूर्ण संवाद या संलाप, प्रेम–भंगिमा, मुस्कान, परस्पर दर्शन, स्पर्श, रोमांच, कटाक्ष, विनोद, स्वेद, कंप, अश्रु, प्रलाप आदि।
- **संचारी भावः** अमर्ष, असूया, उग्रता, उत्सुकता, गर्व, चिंता, जड़ता, दीनता, निद्रा, मोह, लज्जा, विषाद, व्याधि, व्रीडा, शंका, श्रम, स्वप्न, हर्ष आदि।

शृंगार रस के भेद

शृंगार रस को नायक–नायिका के पारस्परिक नैकट्य और दूरी को ध्यान में रखकर दो भेद किए गए हैं–

1. संयोग शृंगार
2. वियोग शृंगार या विप्रलंभ शृंगार

1. **संयोग शृंगारः जब नायक-नायिका एक दूसरे के निकट होते हैं, तो संयोगावस्था होती है। ऐसे चित्रण में संयोग शृंगार रस का परिपाक होता है।** संयोग शृंगार में नायिका–नायक की आपस में आंखें मिलती हैं, एक दूसरे को देखते

हैं, आपस में संवाद करते हैं, साथ–साथ गमन, प्रेम–लीला या प्रेम–क्रीड़ा हो सकती है। इस प्रकार निकटस्थ रहकर होनेवाली प्रेममयी गतिविधियों में संयोग शृंगार रस की उद्‌भावना होती है।

आचार्य भरतमुनि ने अपने ग्रंथ 'नाट्यशास्त्र' में संयोग शृंगार के अनुभावों की चर्चा करते हुए नायक–नायिका की कई गतिविधियों का उल्लेख किया है। इनमें नयनों कि मचलन, भ्रू–निक्षेप, कटाक्ष, मधुर–मचलनयुक्त संभाषण, वस्त्राभूषण शृंगार आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

उदाहरण-1.

कंकन किंकिन नूपुर धुनि सुनि।
कहत लखन सन राम हृदयगुन।
मानहु मदन दुन्दुभी दीन्हीं।
मनसा विस्व विजय कह कीन्हीं।
अस कहि फिरि चितये तेहि ओरा।
सीय-मुख ससि भये नयन चकोरा।
भये विलोचन चारु अचंचल।
मनहु सकुचि निमिम तजेउ दृंगचल।

तात्त्विक समीक्षा

स्थायी भावः रति

विभाव आश्रयः राम

आलंबनः सीता

उद्दीपनः कंकन किंकिन ध्वनि, सीता शशि–मुख आदि

अनुभावः नेत्र–चंचलता, तैरती आँखों का खुली रह जाना।

संचारी भावः हर्ष, उत्सुकता

इस प्रकार विभाव, अनुभाव और संचारी भाव के संयोग से आधार पर संयोग शृंगार रस का परिपाक हुआ है।

उदाहरण 2:

राम को रूप निहारति जानकी,
कंकन के नग की पर छाहीं।
यातैं सबै सुधि भूलि गई,
कर टेकि रही पल टारत नाही।।

तात्त्विक समीक्षा

	स्थायी भाव	–	रति
विभाव	आश्रय	–	सीता
	आलंबन	–	राम
	उद्दीपन	–	नग में प्रतिबिंबित राम की छाया
	अनुभाव	–	एक टक देखना, हाथ टेककर स्थिर होना
	संचारी भाव	–	हर्ष, जड़ता, उत्सुकता

इस आधार पर संयोग शृंगार का परिपाक हुआ है।

उदाहरण 3:

चितवत चकित चहुँ दिसि सीता।
कहँ गये नृप किसोर मन चीता।।
लता ओर तब सखिन लखाये।
स्यामल गौर किसोर सुहाये।।
देखि रूप लोचन ललचाने।
हरषे जनु निजि निधि पहिचाने।।
अधिक सनेह देह भई भोरी।
सरद ससिहिं जनु चितव चकोरी।।
लोचन मग रामहिं उर आनी।
दीन्हें पलक कपाट सयानी।।

तात्त्विक समीक्षा

	स्थायी भाव	–	रति
विभाव	आश्रय	–	सीता
	आलंबन	–	राम
	उद्दीपन	–	सुरम्य परिवेश (लता और), मोहक वर्ण (श्यामल, गौर मनभावन किशोर)
	अनुभाव	–	नेत्र--चपलता, ललचाई आँखों से अपलक देखना (सरद ससिहिं जनु चितव चकोरी), देह का मुस्कराना (देह भई भोरी), आँखे बंद करना (दीन्हें पलक कपाट सयानी)
	संचारी भाव	–	उत्सुकता, मोह, आवेग, हर्ष

उदाहरण 4:

सखि हौं तो गई जमुना-जल को
सु कहा कहौ बीर विपत्ति परी।
घबराइ के कारी घटा उमड़ी
इतनेई में गागर सीस धरी।
रपट्यो पग धाट चढ्यौ न गयो
कवि मंडन है के बिहाल गिरी।
चिरजीवहु नन्द को बारौ, अरी
गहि बाँह गरीब ने ठाढ़ गरी।।

तात्त्विक समीक्षा

	स्थायी भाव	–	रति
विभाव	आश्रय	–	राधा
	आलंबन	–	कृष्ण
	उद्दीपन	–	मोहक परिवेश (जमुना तट), स्नेहिल सहयोग (गहि बाँह गरीब ने ठाढ़ करी)

अनुभाव	–	कथन, उत्सुकता, गर्व, मोह, हर्ष
संचारी भाव	–	प्रेमपूर्ण संलाप प्रेमी के विषय में रोमांचक घटना वर्णन, स्नेहिल स्पर्श वर्णन (गहि बाँह गरीब ने ठाढ़ करी)

विप्रलंभ शृंगारः यह संयोग शृंगार के ठीक विपरीत स्थिति है। जब नायक–नायिका एक–दूसरे से अलग अर्थात् दूर हो जाते हैं, तो ऐसे चित्रांकन को वियोग अथवा विप्रलंभ शृंगार कहते हैं। विप्रलंभ शृंगार में नायक–नायिका के एक–दूसरे से अलग रहने से उभरी मानसिक दशा का चित्रण किया जाता है। ऐसी विरहानुभूतियों में ग्लानि, चिंता, दैन्य आदि की हृदयस्पर्शी अभिव्यक्ति संभावित होती है।

उदाहरण 1:

भूषण बसन बिलोकत सिय के
प्रेम बिबस मन, कंप पुलक तन,
नीरज-नयन नीर भरे पिय के।
सकुचत कहत, सुमिरि उर उभगत,
सील सनेह सुगुन गन तिय के।।

तात्त्विक समीक्षा

	स्थायी भाव	–	रति
विभाव	आश्रय	–	राम
	आलंबन	–	सीता
	उद्दीपन	–	एकांत, प्रियतमा के भूषण–वस्त्र का अवलोकन
	अनुभाव	–	कंपित तन, नयनों का जल पूरित होना, संकोच के साथ कथन, गुण–वर्णन
	संचारी भाव	–	स्मृति, उमंग, संकोच

उदाहरण 2:

मधुवन तुम कत रहत हरे!
विरह-वियोग स्याम सुन्दर के ठाढ़े क्यों न जरे?

तात्त्विक निवेचन

स्थायी भाव	–	रति
विभाव-आश्रय	–	राधा
आलम्बन	–	कृष्ण
उद्दीपन	–	मधुवन की सुरम्य वाटिका
अनुभाव	–	व्यथापूर्ण संवाद, विरही भंगिमा, आक्रोश भरा प्रलाप
संचारी भाव	–	उग्रता, चिंता, मोह, विषाद

विप्रलंभ शृंगार के भेद

प्रेमी अथवा प्रेमिका की दुःखानुभूति को ध्यान में रखकर चार भेद किए जाते हैं– पूर्वराग, मान, प्रवास और करुण।

1. **पूर्वरागः** नायक, नायिका में मिलन के पूर्ण गुण, रूप आदि की चर्चा, चित्र–अवलोकन अथवा स्वप्न दर्शन से प्रेम भाव उत्पन्न हो जाता है, उसे पूर्वराग कहते हैं। ऐसे में यह भी संभावित होता है कि दोनों के मिलन में परिवार या समाज बाधक हो। पूर्वराग में नायक–नायिका की स्थिति को कामदशा कहते हैं। इसमें अभिलाषा, चिंता, स्मृति, गुण कथन, उद्वेग, संप्रलाप, उन्माद, व्याधि जड़ता और मरण से दस स्थितियाँ हैं।

उदाहरण 1:

अभिलाषा कौन बन कर हृदय की मधुर कामना,
मूक संकेत में कर रही है मना;
हो रही मुग्ध मन-सिन्धु की वीचियाँ
प्रेम के स्वर्ग की स्वर्णमय सीढ़ियाँ।

–मेरे 'छत्रसाल' से

(सकरहटी के दुर्गपति कुँवरसेन धँधेरा की पुत्री देवकुँवरि छत्रसाल का साक्षात्कार करते हुए उनसे मिलने के लिए व्याकुल है। उसके मन की इच्छा सिंधु की लहरों की तरह ऊपर उठ रही है। उसे देख ऐसे लगता है कि मानो प्रियतम के मिलन रूपी स्वर्ग की सुनहरी सीढ़ियों का निर्माण कर रही हो।)

तात्त्विक विवेचन

	स्थायी भाव	–	रति
विभाव	आश्रय	–	कुँवरसेन की पुत्री
	आलंबन	–	छत्रसाल
	उद्दीपन	–	वीर मुद्रा स्मरण
	अनुभाव	–	आशंका
	संचारी भाव	–	उत्कंठा

2. **चिंताः** प्रियतम को पाने की विचार–व्यथा से उत्पन्न चिंता है। मिलन की बाधा एवं प्रिय वस्तु का ध्यान चिंता है।

खरी दुपहरी हरी भरी फरी कुंज मंजु
गुंज अलि पुंजन की 'देव' हियो हरि जात।
सीरे नद-नीर तरु सीतल गहीर छाँह,
सोवै परे पथिक पुकारै पिकी करि जात।
ऐसे में किसोरी गोरी कोरी कुम्हिलाने मुख
पंकज से पायँ धरा धीरज सौं धरि जात।
सौहैं घनस्याम-मग हेर्रात हथेरी ओट
ऊँचे धाम वाम चढ़ि आवत उतरि जात।

(राधा के मन में कृष्ण से मिलने की चिंता है, वह उन्हें दूर से ही देखने का प्रयास कर रही हैं।)

तात्त्विक विवेचन

	स्थायी भाव	–	रति
विभाव	आश्रय	–	राधा

	आलंबन	–	कृष्ण
	उद्दीपन	–	एकांत, लता–कुंज
	अनुभाव	–	छिपकर देखना
	संचारी भाव	–	उत्सुकता, चिंता

3. **स्मृतिः** वियोगावस्था में प्रिय का स्मरण करना स्मृति है–

उदाहरण 1:

वे अजान मृगनयन
दृगों में आकर तिरने लगते
वे ही दृश्य हृदय-प्रांगण में
आकर फिरने लगते।।

– 'छत्रसाल' महाकाव्य से

छत्रसाल सुन्दरी वीरांगना देवकुँवरि की मोहक आँखों और मनभावन परिवेश को यादकर खोये हुए हैं)

तात्त्विक विवेचन

	स्थायी भाव	–	रति
विभाव	आश्रय	–	छत्रसाल
	आलंबन	–	देवकुँवरि
	अनुभाव	–	एकांत, सुखद वातावरण, रोमांच, अंग–प्रचलन
	संचारी भाव	–	उत्सुकता, स्मृति

4. **गुण-गानः** जब नायक या नायिका अपने प्रिय के गुणों की चर्चा करते हैं, तो ऐसी स्थिति होती है।

उदाहरण 2:

पतली काया उन्मुक्त और
चिंतन में खोया मन होगा,
अन्तर में हो तूफान किंतु
अधरों पर मधु सिंचन होगा।"

–'विहंग-संदेश' से

(इन पंक्तियों में एक प्रवासी अपनी प्रियतमा के गुणों की चर्चा मलयानिल से कर रहा है।)

तात्त्विक विवेचन

	स्थायी भाव	–	रति
विभाव	आश्रय	–	प्रवासी
	आलंबन	–	प्रियतमा
	उद्दीपन	–	शीतल मंद सुगंध
	अनुभाव	–	गुण–गान (आहार्य)
	संचारी भाव	–	मोह, स्मृति

5. **उद्वेग:** प्रिय के मिलन की चिंता की व्यग्रता ही उद्वेग है।

उदाहरण 3:

इत तैं उत उत तैं इतै, छिनु न कहूँ ठहराति।
जक न परति, चकई भई, फिरि आवति फिरि जाति।।

यहाँ नायिका को न इधर चैन है, न उधर। वह उद्वेग में विह्वल है।)

तात्त्विक विवेचन

	स्थायी भाव	–	रति
विभाव	आश्रय	–	नायिका
	आलंबन	–	नायक
	उद्दीपन	–	एकांत परिवेश
	अनुभाव	–	शारीरिक प्रचलन
	संचारी भाव	–	उग्रता मोह, असूया

6. **संप्रलाप:** प्रेमी या प्रेमिका की ऐसी दशा जिसमें वह भावातिरेक से लक्ष्य विहीन हो बड़बडाने लगता है, यह संप्रलाप की स्थिति है।

उदाहरण:

जादू जिसे सुना करता, क्या
सत्य हुआ करता है?
जो अन्तर में नए सिरे से
नया रंग भरता है।

–'छत्रसाल' महाकाव्य से

(छत्रसाल का प्रिया के प्रेम में पूर्वराग प्रलाप है।)

तात्त्विक विवेचन

	स्थायी भाव	–	रति
विभाव	आश्रय	–	छत्रसाल
	आलंबन	–	प्रिया
	उद्दीपन	–	अनुकूल परिवेश
	अनुभाव	–	रोमांच, अंग–प्रचालन
	संचारी भाव	–	चपलता, आवेग, औत्सुध्य

7. **उन्माद:** जब प्रेमी या प्रेमिका दुःख की अतिशयता में जड़--चेतन में भेद नहीं कर पाती है। वह पशु–पक्षी ही नहीं पेड़– पौधों से वार्ता करने लगते हैं–

एरे बीर पौन! तेरो सबै ओर गौन वारी
तो सो और कौन मनै ढरकौही बानि दै।
जगत के प्राण छोटे-बड़े तो समान
घन-आनंद निधान सुख-दान दुखियानि दै।

जान उजियारे गुन भारे अति मोहि प्यारे
अब ह्वै अमोही बैठे पीठि पहिचानि दै।
बिरह बिथा की मूरि आँखिन में राखौं पूरि
धूरि तिन पाँयनि की हा-हा नैकु आनि दै।

-घन-आनंद

(यहाँ विरह--उन्माद में पवन से निवेदन किया जा रहा है।)

तात्त्विक विवेचन

	स्थायी भाव	–	रति
विभाव	आश्रय	–	प्रेमी की आत्मा
	आलंबन	–	आराध्य
	उद्दीपन	–	सुन्दर परिवेश
	अनुभाव	–	उन्मादी गतिविधि
	संचारी भाव	–	उग्रता, विषाद, उन्मूलन

8. **व्याधिः** विरह में शरीर क्षीण होकर पीला हो जाना।

9. **जड़ताः** जब विरह के आधिक्य में शरीर के साथ मन भी स्थिर हो जाता है। व्यक्ति सुध–बुध खोकर निश्चेष्ट हो जाता है।

उदाहरण :

कहा लड़ैते दृग करे, परे लाल बेहाल।
कहुँ मुरली कहुँ पीत पर, कहूँ मुकुट बनमाल।।

–बिहारी

(कृष्ण की मुरली कहीं, पीत पट कहीं और मुकुट कहीं पड़ा है और वे निश्चेत दिखाई दे रहे हैं।)

तात्त्विक विवेचन

	स्थायी भाव	–	रति
विभाव	आश्रय	–	कृष्ण
	आलंबन	–	राधा
	उद्दीपन	–	परिवेश
	अनुभाव	–	निश्चेष्ट, वस्त्र–शिथिलता
	संचारी भाव	–	मोह, दैन्य, जड़ता

10. **मरणः** प्राण–त्याग मरण है। वियोग जनित विषाद और निराशा की पराकाष्ठा को ही मरण कह सकते हैं। इसलिए साहित्यकार के द्वारा देहांत का स्पष्ट वर्णन न करके मूर्छा–चित्रण किया जाता है या मृत व्यक्ति के शौर्य का वर्णन किया जाता है।

उदाहरणः

कहा कहौं वाकी दसा, हरि प्राननु के ईस।
बिरह ज्वाल जरिबो लखैं, मरिबो भयो असीस।।

–बिहारी

(इस दोहे में विरह--ज्वाला में जलने से उत्तम मरण को कहा गया है। यही कारण है मरण को आशीर्वाद के रूप में स्वीकार किया गया है।)

तात्त्विक विवेचन

	स्थायी भाव	–	रति
विभाव	आश्रय	–	नायिका
	आलंबन	–	नायक
	उद्दीपन	–	एकांत परिवेश
	अनुभाव	–	कंप,
	संचारी भाव	–	जड़ता, उन्माद, मरण

हास्य रस

परिभाषा: ऐसी रसानुभूति में सहज रूप से हँसी आ जाती है। इसलिए इसे हास्य रस नाम दिया गया है। किसी व्यक्ति या वस्तु की विचित्र या विकृत आकृति, विषम वेश–भूषा या असंगति चेष्टा, जिसे देखकर हँसी आ जाए, उसे हास्य रस कहते हैं।

हास्य के तत्त्व

स्थायी भाव	–	हास
विभाव आश्रय	–	दर्शक, पाठक, श्रोता
आलंबन	–	विलक्षण व्यक्ति, वस्तु, व्यंग्य वाणी, मूर्खतापूर्ण चेष्टा आदि।
उद्दीपन	–	हास्य उद्दीपक चेष्टा, अटपटी–चटपटी वार्ता, विलक्षण वेश–भूषा
अनुभाव	–	आश्रय की हँसी, उन्मुक्त हँसी, मुख की विशेष मुद्रा, आँख मीचना, कपोला का स्फुरण।
संचारी भाव	–	हर्ष, कंप, रोमांच, निर्लज्जता, चपलता, अश्रु आदि।

उदाहरण 1:

चना बनावैं घासीराम। जिनकी झोली में दूकान।
चना चुरमुर चुरमुर बोलै। बाबू खाने को मुँह खोलै।
चना खाते सब बंगाली। जिनकी धोती ढीली ढाली।
चना जोर गरम।"

–भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

तात्त्विक विवेचन

स्थायी भाव	–	हास
विभाव–आश्रय	–	पाठक, श्रोता, दर्शक
आलंबन	–	विलक्षण वाणी, विलक्षण व्यक्ति
उद्दीपन	–	विलक्षण मुद्रा विलक्षण चेष्टा
अनुभाव	–	आश्रय की हँसी, अश्रुपात, मुस्कान आदि
संचारी भाव	–	हर्ष, चपलता, कंप, रोमांच आदि।

उदाहरण 2:

विंध्य के वासी उदासी तपोव्रतधारी महा बिनु नारि दुखारे।
गौतम तीय तरी, तुलसी सो कथा सुनि के मुनि वृन्द सुखारे।।
ह्वै है सिला सब चन्द्रमुखी परसे पद मंजुल कंज तिहारे।
कीन्हीं भली रघुनायक जू! करुना करि कानन को पगु धारे।।

–तुलसी

तात्त्विक विवेचन

	स्थायी भाव	–	हास
विभाव	आश्रय	–	श्रोता
	आलंबन	–	लक्षण विषय–प्रस्तुति
	उद्दीपन	–	विलक्षण परिवेश
	अनुभाव	–	आश्रय की मुस्कराहट, हँसी, चपलता, चरुण
	संचारी भाव	–	हर्ष, चपलता, कंप आदि।

उदाहरण 3:

जेहि दिसि नारद बैठे फूली। सो दिसि तेहि न बिलोकी भूली।।
पुनि-पुनि मुनि उकसहिं अकुलाहीं। देखि दसा हर-गन मुसकाही।।

तात्त्विक विवेचन

	स्थायी भाव	–	हास
विभाव	आश्रय	–	हर गण (देवता गण)
	आलंबन	–	नारद मुनि
	उद्दीपन	–	नारद का बन्दर रूप उछलना, फूल कर बैठना
	अनुभाव	–	मुस्कराना, कपोल पर स्मिति रेखा
	संचारी भाव	–	चपलता, हर्ष आदि।

करुण रस

परिभाषा: जब प्रिय पात्र के अलग होने का कष्ट अति हो कर दुःखद स्थिति पा लेता है, तो करुण रस की स्थिति आ जाती है। प्रिय पात्र के चिर वियोग से पीड़ित होने पर, इष्ट के नष्ट होने पर होने वाले क्लेश को शोक की संज्ञा दी जाती है। ऐसे में करुण रस का परिपाक होता है।

करुण रस के तत्त्व

	स्थायी भाव	–	शोक
विभाव	आश्रय	–	शोक संतप्त व्यक्ति
	आलंबन	–	स्वजन विछोह, आत्मीय की मृत्यु
	उद्दीपन	–	प्रिय से संबंधित वस्तु चित्र, कृति का दर्शन,

			प्रिय–स्मरण, प्रिय से संबंधित चर्चा।
	अनुभाव	–	रुदन, प्रलाप, अश्रु–पात, मूर्छा।
	संचारी भाव	–	चिंता, विषाद, ग्लानि, उन्माद, जड़ता, दैन्य आदि।

(महाभारत में चक्रव्यूह भेदन के समय अभिमन्यु की मृत्यु पर उत्तरा का विलाप)

उदाहरण 1:

फिर पीटकर सिर और छाती अश्रु बरसाती हुई।
कुररी सदृश सकरुण गिरा से दैन्य दरसाती हुई।।
बहुविधि विलाप-प्रलाप वह करने लगी उस शोक में।
निज प्रिय वियोग समान दुःख होता न कोई लोक में।।

तात्त्विक विवेचन

	स्थायी भाव	–	शोक
विभाव	आश्रय	–	प्रियतमा
	आलंबन	–	प्रियतम प्रेम
	उद्दीपन	–	प्रिय की याद, प्रिय–वस्तु का दर्शन
	अनुभाव	–	उच्छ्वास, अश्रु, प्रलाप, रुदन
	संचारी भाव	–	स्मृति, चिंता, ग्लानि उन्माद आदि।

उदाहरण 2:

प्रियपति! वह मेरा प्राण प्यारा कहाँ है,
दुःख जल-निधि डूबी का सहारा कहाँ है?
लख मुख जिसका मैं आज लौं जी सकी हूँ,
वह हृदय हमारा नैन-तारा कहाँ है?

तात्त्विक विवेचन

	स्थायी भाव	–	शोक
विभाव	आश्रय	–	प्रियतमा
	आलंबन	–	प्रियतम
	उद्दीपन	–	स्मरण प्रियतम संदर्भ, वस्तु आदि दर्शन।
	अनुभाव	–	रुदन, प्रलाप, अश्रुपात आदि।
	संचारी भाव	–	चिंता, दैन्य, विषाद, उन्माद आदि।

उदाहरण 3:

काल आइ देखराई साँटी। उठि जिउ चला छाँडि कै माँटी।।
काकर लोग कुटुँब घरबारू। काकर अरब दरब संसार।।

तात्त्विक विवेचन

	स्थायी भाव	–	शोक

विभाव	आश्रय	–	पद्मावती, नागमती आदि
	आलंबन	–	राजा रत्नसेन की मौत
	उद्दीपन	–	स्मरण, प्रियतम संदर्भ की वस्तु आदि का दर्शन।
	अनुभाव	–	रुदन, प्रलाप, अश्रुपात।
	संचारी भाव	–	दैन्य, विषाद, उन्माद।

रौद्र रस

विपक्षी या शत्रु के द्वारा अपने–अपने गुरु, धर्म अथवा देश के प्रति की गई अपमानजनक, अनिष्टकारक, अशोभनीय चेष्टाओं से उत्पन्न क्रोध में रौद्र रस की अभिव्यक्ति होती है।

रौद्रासः तात्त्विक विवेचन

	स्थायी भाव	–	क्रोध
विभाव	आश्रय	–	क्रोध करने वाला
	आलंबन	–	शत्रु, अत्याचारी, देशद्रोही
	उद्दीपन	–	व्यक्ति का अपराध, विषम चेष्टाएँ
	अनुभाव	–	त्यौरी चढ़ना, ओठ काटना, आँखें लाल होना, गर्जन तर्जन, कंप, प्रहार, कटु भाषण।
	संचारी भाव	–	अमर्ष, उग्रता, गर्व, चपलता, आवेग।

उदाहरण 1: (शिव धनुष टूटने पर परशुराम का लक्ष्मण की वाचालता पर कोध)

रे नृप बालक काल बस बोलत तोहि न सँभार।
धनही सम त्रिपुरारि धनु बिदित सकल संसार।।

–तुलसीदास

तात्त्विक विवेचन

	स्थायी भाव	–	क्रोध
विभाव	आश्रम	–	परशुराम
	आलंबन	–	शिव धनुष भंग
	उद्दीपन	–	लक्ष्मण का बाल संवाद
	अनुभाव	–	आँखे लाल, कटु शब्द गर्जन–तर्जन, आवेग आदि।
	संचारी भाव	–	उग्रता, गर्व, चपलता, आवेग आदि।

उदाहरण 2:

जौ तुम्हार अनुशासन पावउँ, कन्दुक इव ब्रह्माण्ड उठाऊँ।
काँचे घर इव डारउँ फोरी, सकउँ मेरु मूलक इव तोरी।
तव प्रताप महिमा भगवाना, का बापुरा पिनाक पुराना।

तात्त्विक विवेचन

	स्थायी भाव	–	क्रोध
विभाव	आश्रय	–	लक्ष्मण

	आलंबन	–	परशुराम का कठोर संवाद
	उद्दीपन	–	परशुराम की भंगिमा
	अनुभाव	–	आवेग, गर्जन–तर्जन, रोषपूर्ण शब्द प्रयोग
	संचारी भाव	–	उग्रता, गर्व, चपलता, आवेग आदि।

उदाहरण 3:

महाभारत में अर्जुन युद्ध क्षेत्र में सामने परिजनों के देख रहे हैं। कृष्ण लड़ने के लिए कह रहे हैं। ऐसे में अर्जुन क्रोधित हो गए–

श्रीकृष्ण के सुन वचन अर्जुन क्रोध से जलने लगे।
सब शोक अपना भूलकर करतल युगल मलने लगे।।
संसार देखे अब हमारे शत्रु रण में मृत पड़े।
करते हुए यह घोषणा के हो गये उठकर खड़े।।
उस काल मारे क्रोध के तन कापने उनका लगा।
मानो हवा के जोर से सोता हुआ सागर जगा।।

तात्त्विक विवेचन

	स्थायी भाव	–	क्रोध
विभाव	आश्रय	–	अर्जुन
	आलंबन	–	कृष्ण
	उद्दीपन	–	मन प्रतिकूल कृष्ण का निर्देश स्थिति विशेष
	अनुभाव	–	आवेग, चेहरा लाल कंपन, हाथ रगड़ना आदि।
	संचारी भाव	–	उग्रता, गर्व, चपलता आदि।

वीर रस

उत्साह के धरातल पर वीर रस की उद्‌भावना होती है। विपक्षी अत्याचारी या शत्रु के द्वारा विषम चेष्टा करने पर उसे नष्ट करने या हटाने के लिए जगने वाले उत्साह में 'वीर रस' की अभिव्यक्ति होती है।

वीर रस के तत्त्व

	स्थायी भाव	–	उत्साह
विभाव	आश्रय	–	कर्मठ व्यक्ति, विजयी व्यक्ति।
	आलंबन	–	शत्रु, दुष्कर्मकर्त्ता।
	उद्दीपन	–	शत्रु की चेष्टाएँ, सेना, रणभेरी श्रवण, युद्ध का कोलाहल।
	अनुभाव	–	मुख पर आभा, भुजाएँ फड़कना, जोशीली वाणी, आक्रमण।
	संचारी भाव	–	रोमांच, गर्व, हर्ष, औत्सुक्य।

उदाहरण 1:

इन्द्र जिमि जम्भ पर, बाड़व सुअम्भ पर,
रावण सदंभ पर, रघुकुल राज है।
पौन वारिवाह पर, संभु रतिनाह पर
ज्यो सहस्रबाहु पर राम द्विजराज है।
दावा द्रुम दंड पर, कान्ह जिमि कंस पर,
भूषण वितुंड पर जैसे मृगराज है।
तेज तम अंश पर कान्ह जिमि कंस पर
त्यो मलेच्छ वंस पर, सेर सिवराज है।

तात्त्विक विवेचन

	स्थायी भाव	–	उत्साह
विभाव	आश्रय	–	शिवराज
	आलंबन	–	मुस्लिम सेना (शत्रु)
	उद्दीपन	–	विपक्षी सैन्य मुद्रा जन्मभूमि रक्षा
	अनुभाव	–	तीव्र गति, आक्रमण–मुद्रा
	संचारी भाव	–	गर्व, रोमांच, चपलता

उदाहरण 2:

ज्यो भेद जाता भानु का कर अंधिकार समूह को,
वह पार्थनन्दन घुस गया त्यों भेद चक्रव्यूह को।
थे वीर लाखों पर किसी से गति न उसकी रुक सकी,
सब शत्रुओं की शक्ति उसके सामने सहसा थकी।

तात्त्विक विवेचन

	स्थायी भाव	–	उत्साह
विभाव	आश्रय	–	अभिमन्यु
	आलंबन	–	कौरव–सेना
	उद्दीपन	–	शत्रुओं की चेष्टाएँ, सेना, युद्ध–कोलाहल
	अनुभाव	–	मुख पर चमक, आक्रमण, त्वरित गति
	संचारी भाव	–	गर्व, रोमांच, औत्सुक्य।

उदाहरण 3:

सिंहासन हिल उठे, राजवंशों ने भृकुटी तानी थी,
बूढे भारत में भी आयी फिर से, नयी जवानी थी,
गुमी हुई आजादी की कीमत सबने पहचानी थी,
दूर फिरंगी को करने की सबने मन में ठानी थी,
चमक उठी सन सत्तावन में
वह तलवार पुरानी थी।
बुन्देलों हर बोलों के मुँह
हमने सुनी कहानी थी
खूब लड़ी मर्दानी वह तो
झांसी वाली रानी थी।।

–सुभद्रा कुमारी चौहान

तात्त्विक विवेचन

	स्थायी भाव	–	उत्साह
विभाव	आश्रय	–	झांसी की रानी लक्ष्मीबाई
	आलंबन	–	अंग्रेजी शासक–सेना
	उद्दीपन	–	सेना, ललकार, दमन
	अनुभाव	–	आक्रमण, मुख पर कांति, त्वरित गति, पुरुष वेश, घोड़े की सवारी।
	संचारी भाव	–	गर्व, रोमांच, औत्सुक्य।

भयानक रस

भय उत्पादक वस्तु, प्राणी, शत्रु को देखकर या भयदायक वाणी के सुनने से भय उत्पन्न होने से 'भयानक रस' की अभिव्यक्ति होती है। इसका स्थायी भाव भय है।

भयानक रस के तत्त्व

	स्थायी भाव	–	भय
विभाव	आश्रय	–	भयभीत व्यक्ति
	आलंबन	–	भयावह वस्तु प्राणी (सिंह, अजगर) स्थिति (आग, सूनसान जंगल)।
	उद्दीपन	–	भयावह वस्तु का विकराल रूप खूँखार प्राणी की चेष्टाएँ।
	अनुभाव	–	कंप, स्वेद, रोमांच, साँस फूलना, भागना, चकित होना।
	संचारी भाव	–	आवेग, त्रास, शंका, दैन्य।

उदाहरण 1:

देखि महीप सकल सकुचाने। बाज झपट जनु लवा लुकाने।
गौरि सरीर भूति भलि भ्राजा। भाल विशाला त्रिपुंड विराजा।।

तात्त्विक विवेचन

	स्थायी भाव	–	भय
विभाव	आश्रय	–	जनक के मंडप में बैठे राजा।
	आलंबन	–	परशुराम
	उद्दीपन	–	परशु, दिव्य रूप, परुष शब्द।
	अनुभाव	–	कंपन, भागना, छिपना।
	संचारी भाव	–	शंका, ग्लानि, दीनता, त्रास।

उदाहरण 2:

चरण गहे अंगूठा मुख मेलत।
उछरत सिंधु धराधर कांप्यौ कमठ पीठि अकुलाई।
सेस सहस फल डोलन लागें, हरि जीवत जब पाई।।
बढ्यो वृच्छवर सुर अकुलाने, गगन भयो उत्पात।
महा प्रलय के मेघ उठे करि जहाँ घोर उत्पात।।

तात्त्विक विवेचन

	स्थायी भाव	–	भय
विभाव	आश्रय	–	व्रज के साथ सारी सृष्टि।
	आलंबन	–	कृष्ण का विशेष रूप।
	उद्दीपन	–	बाल गतिविधि में अगूठा मुँह में डालना।
	अनुभाव	–	सिन्धु जल उछलना, कमठ पीठ पर बोझ बढ़ना, शेष नाग का हिलना, हवा में आंदोलन आदि।
	संचारी भाव	–	आवेग, त्रास, शंका, दीनता आदि।

उदाहरण 3:

एक ओर अजगरहिं लखि एक ओर मृगराज।
विकल बटोही बीच ही, पर्‌यो मुरछा खाय।

तात्त्विक विवेचन

	स्थायी भाव	–	भय
विभाव	आश्रय	–	बटोही (राही)
	आलंबन	–	अजगर, मृगराज (शेर)
	उद्दीपन	–	विषम रूप देखना, अकेलापन।
	अनुभाव	–	भय, शंका, दैन्य, सांस, फूलना, धड़कन तेज होना।
	संचारी भाव	–	आवेग, त्रास, दीनता, विषाद।

वीभत्स रस

अत्यन्त अरुचिकर, घृणित मैली–कुचैली, गंदी, दुर्गन्धपूर्ण वस्तु देखने पर मन में घृणा उत्पन्न होने से 'वीभत्स रस' की अभिव्यक्ति होती है।

उदाहरण 1:

सिर बैठो काग, आँख दोऊ खात निकारत।
खींचत जीभहिं स्यार, अतिहि आनन्द उर धारत।।
गिद्ध जाँघ कहँ खोदि-खोदि के माँस उचारत।
स्वान आँगुरिन काटि-काटि के खात विचारत।।

तात्त्विक विवेचन

	स्थायी भाव	–	घृणा, (जुगुप्सा)।
	आश्रय	–	दर्शक, पाठक।
विभाव	आलम्बन	–	युद्ध के बाद का घृणित दृश्य
	उद्दीपन	–	काग, स्यार, गिद्ध और स्वान की गतिविधियाँ।
	अनुभाव	–	नाक सिकोड़ना, मुँह फेरना।
	संचारी भाव	–	ग्लानि, आवेग, व्याधि।

उदाहरण 2:

सोनित सो सानि-सानि गूदा खात सतुआ से,
प्रेत एक पियत बहोरि घारि-घारि कै।
'तुलसी' बेताल भूत साथ लिए भूतनाथ,
हेरि-हेरि हँसत हैं हाथ-हाथ जोरि कै।।

–तुलसी

तात्त्विक विवेचन

	स्थायी भाव	–	घृणा, (जुगुप्सा)।
	आश्रय	–	दर्शक, पाठक।
विभाव	आलम्बन	–	घृणा से भरा स्थान।
	उद्दीपन	–	रक्तपान, गूदा को खाना और भूतों की घृणित गतिविधियाँ।
	अनुभाव	–	नाक सिकोड़ना, आँख मूँदना, मुँह फेरना।
	संचारी भाव	–	आवेग, ग्लानि मूर्छा।

उदाहरण 3:

रितु आँतन की कुण्डली करि जोगिनी चबात।
पीबहि में पागी मनो जुवति जलेबी खात।।

तात्त्विक विवेचन

	स्थायी भाव	–	घृणा, (जुगुप्सा)।
	आश्रय	–	दर्शक, पाठक।
विभाव	आलम्बन	–	जोगिनी।
	उद्दीपन	–	आँत को जलेबी की तरह खाना।
	अनुभाव	–	रोमांच, आँख बन्द करना, आँख भौं सिकोड़ना।
	संचारी भाव	–	आवेग, ग्लानि।

अद्‌भुत रस

किसी विचित्र, अभूतपूर्व, असाधारण, अलौकिक और आश्चर्यजनक वस्तु देखने या सुनने से आश्चर्य या विस्मय भाव होने में अद्‌भुत रस' की अभिव्यक्ति होती है।

उदाहरण 1:

सखी दीख कौतुक मग जाता।
आगे राम सहित श्री भ्राता।।
फिर चितवा पाछे प्रभु देखा।
सहित बन्धु सिय सुन्दर वेषा।।
जहँ चितवहिं वहँ प्रभु आसीना।
सेवहि सिद्ध मुनीस प्रवीना।।

तात्त्विक विवेचन

	स्थायी भाव	–	विस्मय या आश्चर्य।
	आश्रय	–	सखी (दर्शक या श्रोता)
विभाव	आलंबन	–	आगे और पीछे एक साथ राम दर्शन।
	उद्दीपन	–	उनकी वेषभूषा आदि का दर्शन।
	अनुभाव	–	रोमांच, गद्‌गद् होना।
	संचारी भाव	–	आवेग, हर्ष, भ्रांति।

उदाहरण 2:

अखिल भुवन चर-अचर सब, हरि मुख में लखि मात।
चकित भई गद्‌गद् गिरा, विकसित दृग पुलकात।।

तात्त्विक विवेचन

	स्थायी भाव	–	विस्मय या आश्चर्य।
	आश्रय	–	यशोदा माता।
विभाव	आलंबन	–	कृष्ण का मुख।
	उद्दीपन	–	कृष्ण मुख में सारी सृष्टि का दर्शन।
	अनुभाव	–	रोमांच, गद्‌गद् होना।
	संचारी भाव	–	आवेग, हर्ष, भ्रांति।

उदाहरण 3:

लीन्हों उखारि पहार विसाल,
चल्यो तोहि काल विलम्ब न लायौ।
मारुत नन्दन मारुत को मन को,
खगराज को वेग लजायौ।।

–तुलसी (कवितावली)

तात्त्विक विवेचन

	स्थायी भाव	–	विस्मय या आश्चर्य।
	आश्रय	–	पाठक।
विभाव	आलंबन	–	हनुमान।
	उद्दीपन	–	पहाड़ उखाड़कर उड़ना।
	अनुभाव	–	रोमांच, गद्‌गद् स्तंभ।
	संचारी भाव	–	आवेग, हर्ष, भ्रांति।

शान्त रस

परमात्मा के चिन्तन अनुचिन्तन से संसार की नश्वरता का ज्ञान होने पर लौकिकता से विरक्ति (निर्वेद) का भाव उत्पन्न होता है। ऐसी अवस्था में 'शांत रस' का आभास होता है।

शांत रस के तत्त्व

	स्थायी भाव	–	निर्वेद।
	आश्रय	–	विरक्त व्यक्ति।
विभाव	आलंबन	–	ब्रह्मज्ञान, संसार की असारता का ज्ञान।
	उद्दीपन	–	सत्संग, तीर्थ, शास्त्र चिंतन या श्रवण, गुरु–सेवा।
	अनुभाव	–	गद्‌गद् होना, आनन्द, रोमांच ।
	संचारी भाव	–	हर्ष, स्मरण, निर्वेद।

उदाहरण 1:

गुरु गोविन्द दोऊ खड़े, काके लागूँ पाँय।
बलिहारी गुरु आपने, गोविन्द दियो बताय।।

तात्त्विक विवेचन

	स्थायी भाव	–	निर्वेद।
	आश्रय	–	विरक्त व्यक्ति।
विभाव	आलंबन	–	परमात्मा का चिन्तन, संसार की असारता का ज्ञान।
	उद्दीपन	–	एकांत ईशकृपा।
	अनुभाव	–	पुलक, रोमांच, प्रसन्नता, एकान्त प्रियता, गद्‌गद् होना।
	संचारी भाव	–	हर्ष, स्मरण, उद्वेग।

उदाहरण 2:

समरस थे जड़ या चेतन,
सुन्दर साकार घना था।
चेतनता एक विलसती,
आनन्द अखण्ड घना था।।

–प्रसाद

तात्त्विक विवेचन

	स्थायी भाव	–	निर्वेद।
	आश्रय	–	आध्यात्मिक व्यक्ति।
विभाव	आलंबन	–	परमात्म चिन्तन, संसार की असारता का ज्ञान।
	उद्दीपन	–	एकान्त ईशकृपा।
	अनुभाव	–	पुलक, आनन्द, रोमांच, गद्‌गद्।
	संचारी भाव	–	हर्ष, स्मरण, उद्वेग।

उदाहरण 3:

भारत माता का मन्दिर यह,
समता का संवाद यहाँ।
सब का शिव कल्याण यहाँ,
पावें सभी प्रसाद यहाँ।।

तात्त्विक विवेचन

	स्थायी भाव	–	निर्वेद।
	आश्रय	–	मानवतावादी व्यक्ति।
विभाव	आलंबन	–	भारत माता का मन्दिर (भारतवर्ष)।
	उद्दीपन	–	सर्वहित भावना, समता भाव।
	अनुभाव	–	पुलक, गद्‌गद्, रोमांच।
	संचारी भाव	–	हर्ष, स्मरण, उद्वेग।

अन्यः दो नव रस

प्राचीन शास्त्रीय दृष्टि से नौ रसों की मान्यता है। हिंदी में भक्तिकालीन रचनाओं के आधार पर 'वात्सल्य' और 'भक्ति' दो नवीन रसों को मान्यता मिली है। राम और कृष्ण आदि के प्रति आदर्श अनुराग को भक्ति की संज्ञा दी गई है, तो संतान के प्रति प्रकट होने वाले स्नेह को वात्सल्य कहा जाता है। इस प्रकार हिंदी में भक्ति और वात्सल्य रसों को मान्यता मिली है।

१. वात्सल्य रस

माता–पिता, संरक्षक आदि का संतान या बालक के प्रति प्रकट स्नेह भाव का वात्सल्य रस में परिपाक होता है।

वात्सल्य रस के तत्त्व

	स्थायी भाव	–	शिशु/बालपरक स्नेह।
	आश्रय	–	माता, पिता, संरक्षक, परिजन।
विभाव	आलंबन	–	बालक।
	उद्दीपन	–	बाल चेष्टाएँ, बालहठ, किलकारी, तोतली बोली।

	अनुभाव	–	पुलक, मुस्कराना, हँसी, घूमना।
	संचारी भाव	–	हर्ष, औत्सुक्य, आवेग।

उदाहरण 1:

मैया कबहि बढ़ेगी चोटी?
किती बार मोहि दूध पियत भई, यह अजहूँ है छोटी।।
तू जो कहती बाल की बेनी, ज्यों ह्वै है लांबी मोटी।
काढ़त गुहत नहावत ओंछत नागिन सी भुँइ लोटी।।
काचो दूध पियावत पचि-पचि देत न माखन रोटी।
'सूरदास' चिरजीवो दोउ भैया हरि हलधर की जोटी।।

-सूरदास

तात्त्विक विवेचन

	स्थायी भाव	–	शिश/बालपरक स्नेह।
	आश्रय	–	यशोदा, सूरदास, पाठक।
विभाव	आलंबन	–	कृष्ण–बालरूप।
	उद्दीपन	–	बालचेष्टा, भोलापन, बालतर्क, बालकर्म।
	अनुभाव	–	यशोदा का रोमांच, पुलक, पुलक संवाद।
	संचारी भाव	–	मोह, गर्व, चंचलता।

उदाहरण 2:

वर दंत की पंगति कुंद कुली अधराधर पल्लव खोलन की।
चपला चमके घन बीच जगै छवि मोतिन माल अमोलन की।।
घुँघरारि लटैं लटकैं मुख ऊपर, कुंडल लोल कपोलन की।
निवछावरि प्रान करैं 'तुलसी' बलि जाऊँ लला इन बोलन की।।

-तुलसी

तात्त्विक विवेचन

	स्थायी भाव	–	शिशु/बालपरक स्नेह।
	आश्रय	–	दर्शक, पाठक, श्रोता।
विभाव	आलंबन	–	राम का बालरूप।
	उद्दीपन	–	मुख, दाँतों की चमक, बालों का घुँघरालापन, कानों के लोल कुंडल।
	अनुभाव	–	रोमांच, पुलक, बलिहारी जाने की भंगिमा।
	संचारी भाव	–	मोह, गर्व, चंचलता।

उदाहरण 3:

मैया मैं नहीं माखन खायो!
भोर भये गैयन के पाछे मधुवन मोहि पठायो।
चार पहर वंशीवट भटक्यो सांझ परे घर आयो।।

-सूरदास

तात्त्विक विवेचन

	स्थायी भाव	–	शिशु/बालपरक स्नेह।
	आश्रय	–	यशोदा, सूरदास, पाठक।
विभाव	आलंबन	–	कृष्ण का बालरूप।
	उद्दीपन	–	बाल–चेष्टा, बाल–कर्म, बाल–तर्क।
	अनुभाव	–	यशोदा का रोमांच, पुलक गदगद होना।
	संचारी भाव	–	मोह, गर्व, चंचलता।

२. भक्ति रस

भक्त जब ईश्वर के गुणों के प्रति श्रद्धा भाव कर प्रेम में लीन हो जाता है, तो 'भक्ति रस' की अनुभूति होती है।

भक्ति रस के तत्व

	स्थायी भाव	–	ईश विषयक।
	आश्रय	–	भक्त।
विभाव	आलंबन	–	ईश्वर, ब्रह्मस्वरूप राम, गुरू।
	उद्दीपन	–	अलौकिक शक्ति, गुण सम्पन्नता, सौन्दर्य।
	अनुभाव	–	रोमांच, आनन्दानुभूति।
	संचारी भाव	–	हर्ष, औत्सुक्य, गर्व।

उदाहरण 1:

बसौ मेरे नैनन में नन्दलाल।
मोहनी मूरति साँवरी सूरति, नैना बने बिसाल।।
अधर सुधा रस मुरली राजति उर बैजंती माल।।
क्षुद्रि घंटिका कटि तट सोहति, नूपुर शब्द रसाल।।
मीरा प्रभु संतन सुखदाई, भगत बछल गोपाल।।

-मीरा

तात्त्विक विवेचन

	स्थायी भाव	–	ईश विषयक प्रेम।
	आश्रय	–	मीरा।
विभाव	आलंबन	–	कृष्ण।
	उद्दीपन	–	ईश, गुण, अलौकिक सौन्दर्य।
	अनुभाव	–	रोमांच, आनन्दानुभूति।
	संचारी भाव	–	हर्ष, औत्सुक्य, गर्व।

उदाहरण 2:

बंदउँ गुरु पद पदुम परागा।
सुरुचि सुबास सरस अनुरागा।।
अमिय मूरिमय चूरन चारू।
समनं सकल भव रुज परिवारू।।

-तुलसी(रामचरितमानस)

तात्त्विक विवेचन

	स्थायी भाव	–	ईशपरक।
	आश्रय	–	गुरुभक्त।
विभाव	आलंबन	–	गुरुरूपी ईश्वर।
	उद्दीपन	–	संजीवनी के समान गुणों की सम्पन्नता।
	अनुभाव	–	रोमांच, आनन्दानुभूति।
	संचारी भाव	–	हर्ष, औत्सुक्य, गर्व।

उदाहरण 3:

अंखड़ियाँ झाई पड़ी पंथ निहारि-निहारि।
जीभड़ियाँ छाला पड़ा, राम पुकारि-पुकारि।।

-कबीर

तात्त्विक विवेचन

	स्थायी भाव	–	ईशपरक प्रेम।
	आश्रय	–	भक्त (कबीर)।
विभाव	आलंबन	–	ईश्वर (राम)।
	उद्दीपन	–	अलौकिक गुण संपन्नता।
	अनुभाव	–	रोमांच, कथन, निवेदन।
	संचारी भाव	–	दैन्य, स्मृति।

उदाहरण 4:

तू दयाल दीन हौं, तू दानि हौं भिखारी।
हौं प्रसिद्ध पातकी तू पाप पुंज हारी।।
नाथ तू अनाथ को अनाथ कौन मोसों।
मो समान आरत नहिं आरति हर तोसौं।।
ब्रह्म तू है जीव हौं तू ठाकुर हौं चेरो।
तात मात गुरु सखा, तू सब विधि हित मेरो।।
मोहि तोहिं नाते अनेक मनियै जो भावै।
ज्यों-त्यों 'तुलसी' कृपालु चरण शरण पावै।।

-तुलसी

तात्त्विक विवेचन

	स्थायी भाव	–	ईशविषयक प्रेम।
	आश्रय	–	भक्त (तुलसी)।
विभाव	आलंबन	–	ईश्वर (राम)।
	उद्दीपन	–	राम का कृपालु, दयालु, उदार रूप आदि।
	संचारी भाव	–	हर्ष, औत्सुक्य, गर्व।

अलंकार

अलंकार का वाचिक अर्थ है– आभूषण। आभुषण का अर्थ है – सुन्दरता में अभिवृद्धि करने वाला आधार।

परिभाषा

काव्य को शोभा प्रदान करने वाला तत्त्व अलंकार है। आचार्य दंडी ने 'काव्यदर्श' में अलंकार को परिभाषित करते हुए लिखा है– *"काव्यशोभाकरान् धर्मान् अलंकारान् प्रचक्षते।"* अर्थात् काव्य की शोभा करने वाले धर्म को अलंकार कहते हैं।

अलंकारों का वर्गीकरण

आचार्य भरत ने अलंकार वर्गीकरण के संबन्ध में कोई मत नहीं दिया है। 'शब्दाभ्यासस्तु यमकम्' से यमक के शब्दालकार होने की धारणा का केवल अनुमान मात्र ही किया जा सकता है। वस्तुतः भामह ही प्रथम आचार्य हैं, जिन्होंने अलंकारों के वर्गीकरण की दिशा में प्रथम प्रयास किया है।

आचार्य भामह ने अपना आरम्भिक वर्गीकरण शब्दालंकार और अर्थालंकार के रूप में दिया है। अलंकारों की संसुष्टि की बात भी उन्होने कही, परन्तु उभयालंकार वर्ग का निर्देश उन्होंने स्पष्टतया नहीं किया। वस्तुतः शब्दालंकार और अर्थालंकार ही अलंकार वर्गीकरण का प्राथमिक आधारभूत रूप है। यह एक महत्त्वपूर्ण वर्गीकरण है। परन्तु सीधा होने पर और सरल भी विद्वानों की परंपरा में यह बहुत ही विवादग्रस्त रहा है। अनेक अलंकार ऐसे हैं जिनके शब्दालंकार या अर्थालंकार होने के संबन्ध में विवाद बना रहा है। उभयालंकार या शब्दार्थालंकार की मान्यता भी विद्वानों की अपने–अपने प्रकार की रही है। आवश्यक है कि सर्वप्रथम इसी आधारभूत वर्गीकरण के नाम, स्वरूप और परंपरा का विवेचन किया जाए।

शब्दालंकार एवं अर्थालंकार का व्युत्पत्यर्थ

शब्दालंकार और अर्थालंकार के व्युत्पत्यर्थ के सम्बन्ध में आचार्य भोज ने लिखा है कि जो अलंकार शब्द का अलकरण करता है, वह शब्दालंकार है, जैसे जाति आदि। जो अर्थ का अलंकरण करता है वह विद्वानों द्वारा अर्थालंकार कहा जाता है, जैसे जाति (स्वभोवोक्ति) आदि। आचार्य मम्मट ने अन्वय व्यतिरेक का सिद्धान्त ही इनका नियामक माना है। शब्दालंकार में शब्द विशेष से अन्वय व्यतिरेक सम्बन्ध रहता है और अर्थालंकार में शब्द परिवर्तित हो जाने पर भी अर्थ विशेष से अन्वय, व्यतिरेक सम्बन्ध बना रहता है जो अलंकार शब्दार्थ में जिसके आश्रित रहता है, वह उसी का अलंकार होता है।

उभयालंकार

शब्दालंकार एवं अर्थालंकार अपने व्युत्पत्यर्थ और अन्वय–व्यतिरेक की प्रणाली में प्रायः स्पष्ट ही है, परन्तु उभयालंकार के इस नाम और स्वरूप के संबन्ध में मतभेद अधिक है। अतः उभयालंकार का स्वरूप–विवेचन अपेक्षित है।

उभयालंकार का व्युत्पत्यर्थ आचार्य भोज ने ही स्पष्ट रूप से लिखा है। वे कहते हैं– शब्दों एवं अर्थों से प्रतीति होने वाले उपमादि अलंकार ही कवियों के विशिष्टार्थवाची उभयालंकार हैं। इसमें शब्द और अर्थ दोनों के अन्वय–व्यतिरेक सम्बन्ध का अनुकरण भी पूर्णतया होता है।

'उभय' शब्द द्विसंख्यावाची है। इससे यह सिद्धांत माना जाता है कि जहाँ दो अलंकार मिलें वहाँ उभयालंकार होता है। चाहे वे दोनों शब्दालंकार हों या दोनों अर्थालंकार या एक अर्थालंकार दूसरा शब्दालंकार। दो से अधिक भी किसी पद में आ सकते हैं। दो तो न्यूनतम सीमा का स्पर्शक है। आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने भी इसी व्युत्पत्ति को उचित माना है।

संकर तथा संसृष्टि भी उभयालंकार ही है। उनमें यह शर्त नहीं लगाई जा सकती कि उभयालंकार केवल वहाँ ही होता है जहाँ अर्थालंकार और शब्दालंकार दोनों ही रहें। संकर से अलंकार नीर–क्षीरवत् और संसृष्टि में तिलतण्डुल की भाँति मिश्रित रहते हैं। इसलिए इनका दूसरा नाम मिश्रालंकार है। इन्हें शब्दालंकार भी कहा गया है, जो एक यौगिक शब्द है। उभयालंकारों का विस्तृत विवेचन आचार्य भोज ने किया है। अग्निपुराण में भी इनकी चर्चा है। भोज के वर्गीकरण प्रसंग में उनका मत दृष्टव्य है। आचार्य अप्पय दीक्षित ने संसृष्टि तथा संकर को 'नरसिंह न्याय' का रूप दिया है।

रीतिकाल के आचार्यों की सामान्य धारणा शब्द और अर्थालंकारों के मिश्रित रूप को ही उभयालंकार मानने की रही है। बैरीसाल और पदमाकर जैसे आचार्यों ने उभयालंकार का लक्षण संक्षिप्त और सरल रूप से दिया है, जिससे उक्त मत की ही पुष्टि होती है।

वर्तमान युग के समालोचकों ने उभयालंकार के सम्बन्ध में भी यत्र–तत्र विवेचन किया है।

अलंकार परिचय

1. अनुप्रास अलंकार

अनुप्रास का शाब्दिक अर्थ है– एक ही क्रम में एकाधिक बार आना।

परिभाषा

जहाँ स्वरों की भिन्नता होने पर भी व्यंजनों की एक ही क्रम में एकाधिक बार आवृत्ति हो वहाँ अनुप्रास अलंकार होता है। जैसे–

तरनि तनूजा तट तमाल तरुवर बहुछाये।
झुके कूल सों जल परसन हित मनहुँ सुहाये।।

स्पष्टीकरण

प्रस्तुत पंक्ति में 'त' वर्ण की क्रमिक आवृत्ति है। इसलिए यहाँ अनुप्रास अलंकार की योजना है।

अनुप्रास अलंकार के भेद

अनुप्रास अलंकार के पाँच भेद किऐ जाते हैं, जिनमें दो प्रमुख हैं–

(क) छेकानुप्रासः-

जहाँ पर कोई व्यंजन वर्ण दो बार क्रमशः आए, वहाँ छेकानुप्रास होता है, जैसे–

कानन कठिन भयंकर भारी।
घोर घाम वारि बयारी।।

स्पष्टीकरण

यहाँ 'कानन' और 'कठिन' में 'क' वर्ण की, 'भयंकर' और 'भारी' में 'भ' वर्ण की, 'घोर' और 'घाम' में 'घ' वर्ण की एक बार आवृत्ति होने से छेकानुप्रास अलंकार है।

धवल धूसर वत्स समूह भी।
समुद था जिनके संग सोहता।।

स्पष्टीकरण

यहाँ प्रथम पंक्ति के 'धवल' और 'धूसर' में 'ध' वर्ण की और द्वितीय पंक्ति के 'संग' और 'सोहता' में 'स' वर्ण की एक बार आवृत्ति से छेकानुप्रास अलंकार है।

(ख) वृत्यानुप्रास

जहाँ पर किसी व्यंजन वर्ण की क्रमशः आवृत्ति एकाधिक अथवा कई बार हो वहाँ वृत्यानुप्रास अलंकार होता है।

रघुपति राघव राजाराम।
पतित पावन सीताराम।।

स्पष्टीकरण

यहाँ प्रथम पंक्ति में 'र' वर्ण की एकाधिक बार आवृत्ति होने से वृत्यानुप्रास अलंकार है।

रहि रहि राग रचय रसवंत।
रति-रत रागिनि रमन बसंत।।

स्पष्टीकरण

यहाँ प्रथम पंक्तियों में 'र' वर्ण की क्रमशः एकाधिक बार आवृत्ति होने से वृत्यानुप्रास अलंकार है।

2. श्लेष अलंकार

श्लेष का शाब्दिक अर्थ चिपका हुआ है।

परिभाषा

जहाँ किसी शब्द के एक से अधिक अर्थ निकलते हैं, वहाँ श्लेष अलंकार होता है। यथा–

रहिमन पानी राखिए, बिन पानी सब सून।
पानी गए न ऊबरे मोती मानुष चून।।

स्पष्टीकरण

इस दोहे में 'पानी' के माती, मानुष और चून के संदर्भ में क्रमशः तीन अर्थ हैं– चमक, इज्जत और जल।

चरन धरत शंका करत, भावत नींद न शोर।
सुवरण को ढूँढत फिरत, कवि व्यभिचारी चोर।।

स्पष्टीकरण

यहाँ पर 'चरन' और 'सुवरण' शब्दों के कवि, व्यभिचारी और चोर के लिए अलग–अलग अर्थ हैं।

सुवरन

कवि कविता लिखते समय सुन्दर वर्णो की तलाश में रहता है, व्यभिचारी 'सुन्दर रूप' और चोर 'स्वर्ण' की तलाश में रहता है।

चरन

कवि सुन्दर 'पद' का चयन करता है, व्यभिचारी को किसी के चरण चाप के आगमन और चोर को अपने चरण से ही शंका लगी रहती है।

इस प्रकार दोनों शब्दों के तीन–तीन अर्थ निकलने से श्लेष अलंकार है।

3. यमक अलंकार

परिभाषा

वही शब्द फिर-फिर पड़े, अर्थ भिन्न ही होय।
सो यमकालंकार है, जानत है सब कोय।।

जहाँ पर एक शब्द एकाधिक बार प्रयुक्त हो और उनका अर्थ प्रत्येक बार भिन्न हो, वहाँ यमक अलंकार होता है; जैसे–

कनक कनक ते सौ गुनी, मादकता अधिकाय।
वा पाये बौराये जग, वा खाये बौराय।।

स्पष्टीकरण

यहाँ 'कनक' शब्द का दो बार प्रयोग हुआ है। प्रथम कनक का अर्थ सोना है, तो दूसरी बार आए कनक का अर्थ धतूरा है।

जेते तुम तारे, तेते नभ में न तारे हैं।

स्पष्टीकरण

यहाँ तारे शब्द का प्रयोग दो बार हुआ है। प्रथम 'तारे' का अर्थ 'उद्धार किया' है तो दूसरी बार प्रयुक्त तारे का अर्थ आकाश के सितारे हैं।

तीन बेर खाती ते, वे तीन बेर खाती है।

स्पष्टीकरण

यहाँ बेर शब्द का दो बार प्रयोग हुआ है। प्रथम 'बेर' शब्द का अर्थ है; बार और दूसरी 'बेर' शब्द का अर्थ है; जंगली बेर फल।

4. वीप्सा अलंकार

परिभाषा

जहाँ सम्मान आग्रह, करुणा, व्यथा, आश्चर्य, क्रोध आदि भावों के सूचक शब्द का दो या दो से अधिक बार प्रयुक्त होता है, वहाँ वीप्सा अलंकार होता है; यथा–

रीझि-रीझि रहसि-रहसि हँसि-हँसि उठै।
सौंसै भरि आँसू भरि कहत दई-दई।।

स्पष्टीकरण

यहाँ 'रीझि–रीझि', 'रहसि–रहसि', 'हँसि–हँसि' और 'दई–दई' भाव प्रबलता में दो–दो बार प्रयोग से वीप्सा अलंकार है।

राम! राम!! यह क्या कहते हो!!!

स्पष्टीकरण

प्रस्तुत पंक्ति में आश्चर्य के साथ 'राम' शब्द का दो बार प्रयोग करने से वीप्सा अलंकार की योजना है।

चौंकि-चौंकि चकि-चकि औचक उचकि 'देव'
जकि-जकि बकि-बकि परत बई-बई।

स्पष्टीकरण

इन पंक्तियों में भावातुर होकर 'चौकि', 'चकि', 'जकि', 'बकि' और 'बई' शब्दों का दो–दो बार प्रयोग कर मनोभाव का गम्भीर रूप प्रकट किया गया है। इससे वीप्सा अलंकार की सुन्दर योजना की गई है।

5. पुनरुक्तिप्रकाश अलंकार

परिभाषा

जब भाव में रोचकता लाने के लिए एक शब्द का एकाधिक बार प्रयोग किया जाता है, तो पुनरूक्ति प्रकाश अलंकार होता है; यथा–

धाई धाम-धाम तैं अवाई सुनि उद्धव की।
बाम-बाम लाख अभिलाषनि सौंम्वे रही।।

स्पष्टीकरण

यहाँ 'धाम–धाम' और 'बाम–बाम' के प्रयोग से रोचकता बढ़ गई है। अतः पुनरुक्ति प्रकाश अलंकार हुआ।

मधुर-मधुर मेरे दीपक जल।

स्पष्टीकरण

'मधुर शब्द का प्रयोग दो बार हुआ, इससे अर्थ में रोचकता आ गई। इससे पुनरूक्ति प्रकाश अलंकार है।

करत-करत अभ्यास से, जड़मति होत सुजान।
रस्सी आवत जात ते, सिल पर पड़त निशान।।

स्पष्टीकरण

यहाँ 'करत–करत' प्रयोग से अर्थ में रोचकता आ गई। इससे पुनरुक्ति प्रकाश अलंकार की योजना हुई है।

6. उपमा अलंकार

परिभाषा

जब एक व्यक्ति या वस्तु की अन्य व्यक्ति या वस्तु के रूप, गुण, दशा सम्बन्धी विशेषताओं के आधार पर समता बताई जाए, तो उपमा अलंकार होता है।

उपमा के चार अंग माने गए हैं– उपमेय, उपमान, वाचक और धर्म।

(क) उपमेय- जिस व्यक्ति या वस्तु का वर्णन कवि करना चाहता है। उसे उपमेय कहते हैं।

(ख) उपमान- जिस वस्तु के साथ समानता की जाती है, उसे उपमान कहते हैं।

(ग) वाचक- समानता प्रकट करने वाला शब्द वाचक होता है; जैसे– सा, सी, सरिस, सम, समान।

(घ) धर्म(साधारण धर्म)- उपमेय और उपमान के जिस गुण , वर्ण या क्रिया की तुलना की जाती है, उसे धर्म कहते हैं।

उदाहरण:

पीपर पात सरिस मन डोला।

स्पष्टीकरण

उपमेय	–	मन
उपमान	–	पीपरपात
वाचक	–	सरिस (समान)
धर्म	–	डोला (डोलना)

उपमा के दो भेद किए जा सकते हैं–

(क) **पूर्णोयमा अलंकार-** जहाँ पर उपमा के चारों अंग विद्यमान हों, वहाँ पूर्णोयमा अलंकार होता है; यथा–

मोम सा तन घुल चुका अब,
दीप सा मन जल चुका अब।

स्पष्टीकरण

उपमेय	–	तन, मन
उपमान	–	मोम, दीप
वाचक	–	सा, सा
धर्म	–	घुल चुका, जल चुका।

नील गगन सा शान्त हृदय था हो रहा।

स्पष्टीकरण

उपमेय	–	हृदय
उपमान	–	नीलगगन
वाचक	–	सा
धर्म	–	शांत हो रहा था।

(ख) लुप्तोपमा अलंकार- उपमा के चारों अंगों में से जहाँ एक दो अथवा तीन अंग लुप्त हो जाएं, वहाँ लुप्तापमा अलंकार होता है; यथा–

धर्मलुप्तोपमा

हीरे सा हृदय तुम्हारा।

स्पष्टीकरण

उपमेय	–	हृदय
उपमान	–	हीरा
वाचक	–	सा

उपमेयलुप्तोपमा

पड़ी थी बिजली सी विकराल।

स्पष्टीकरण

उपमान	–	बिजली
वाचक	–	सी
धर्म	–	विकराल पड़ी थी।

7. रूपक अलंकार

परिभाषा

जहाँ समानता के कारण उपमेय पर उपमान का आरोप किया जाए, वहाँ रूपक अलंकार होता है; यथा–

चरण-कमल बन्दौ हरि राई।

स्पष्टीकरण

यहाँ सादृश्य के आधार पर उपमेय (चरण) पर उपमान का आरोप कल्पित है।

चरण-सरोज पखारन लागा।

स्पष्टीकरण

यह उपमेय चरण को ही उपमान 'सरोज' बताकर एकरूपता दर्शायी गई है।

उदित उदय गिरि-मंच, पर रघुवर बाल पतंग।
विकसे संत सरोजवन, हरषे लोचन भृंग।।

स्पष्टीकरण

यहाँ उपमेय मंच रघुवर, संत, लोचन को क्रमशः उदयगिर, बाल पतंग, सरोजवन और भृंग बताकर एकरूपता दर्शाने से रूपक अलंकार की योजना है।

8. उत्प्रेक्षा अलंकार

परिभाषा

जहाँ पर गुण के आधार पर उपमेय में उपमान की संभावना व्यक्त की जाती है, वहाँ उत्प्रेक्षा अलंकार होता है।

इसमें मानो, जानो, मानहु, लानहु, जनु आदि वाचक शब्दों का प्रयोग होता है।

पद्मावती सब सखी बुलाई।
जनु फुलवारि सबै चलि आई।।
-जायसी

स्पष्टीकरण

यहाँ उपमेय सखियों में उपमान फुलवारी की संभावना व्यक्त की गई है।

उस असीम नीले अंचल में,
देख किसी की मृदु मुस्कान।
मानो हंसी हिमालय की है,
फूट चली करती कल गान।।

स्पष्टीकरण

यहाँ चाँदनी में अप्रस्तुत उपमान हिमालय की संभावना व्यक्त की गई है।

अति कटु वचन कहत कैकई।

मानहु लोन जरे पर देई।।

स्पष्टीकरण

यहाँ कैकई के कटु वचन में जले पर नमक लगाने की संभावना व्यक्त की गई है।

9. अतिशयोक्ति अलंकार

परिभाषा

जहाँ पर उपमेय अर्थात किसी वस्तु या व्यक्ति की प्रशंसा लोक सीमा से अधिक बढ़ा–चढ़ाकर की जाती है, वहाँ अतिशयोक्ति अलंकार होता है; यथा–

हनुमान की पूँछ में लगन न पाई आग।

लंका सिगरी जल गई, गए निशाचर भाग।।

स्पष्टीकरण

यहाँ जलने की क्रिया को बहुत बढ़ा चढ़ाकर दिया गया है। आग लगने के पूर्व ही लंका जल गई है। अतः अतिशयाक्ति अलंकार है।

देख लो साकेत नगरी है यही।

स्वर्ग से मिलने गगन में जा रही।।

स्पष्टीकरण

यहाँ साकेत नगरी को स्वर्ग पहुँचाने का कल्पनातीत प्रयास है। अतः अतिशयोक्ति अलंकार है।

पत्रा ही तिथि पाइए, का घर के चहुँ पास।

नित प्रति पून्यौ ही रहत, आनन ओप उजास।।

स्पष्टीकरण

यहाँ नायिका के सौन्दर्य से मुहल्ले में सदा पूर्णमासी ही रहती है। तिथि जानने के लिए पंचांग देखना पड़ता है। ऐसे वर्णन में अतिशयाक्ति अलंकार है।

10. मानवीकरण अलंकार

परिभाषा

जहाँ मानवेत्तर प्राणियों पर मानव सुलभ गुणों और क्रियाओं का आरोप किया जाता है, तो मानवीकरण अलंकार होता है; यथा–

ओ चिन्ता की पहली रेखा।
अरी विश्व-वन की व्याली।
ज्वालामुखी-स्फोट के भीषण,
प्रथम कंप सी मतवाली।

स्पष्टीकरण

यहाँ चिंता को संबोधित किया गया है। अतः मानवीकरण अलंकार है।

चुपचाप खड़ी थी वृक्ष पांति
सुनती जैसे कुछ निजी बात।

स्पष्टीकरण

यहाँ वृक्ष पंक्ति में चल रही निजी वार्ता के संकेत से मानवीकरण अलंकार की योजना स्पष्ट है।

हिंदी साहित्य का इतिहास

(आदिकाल, भक्तिकाल, रीतिकाल)

बी.ए. -III हिन्दी (अनिवार्य)

B.A.- III Hindi (Compulsary)

दूरस्थ शिक्षा निदेशालय

महर्षि दयानन्द विश्वविद्यालय

रोहतक-124 001

Copyright © 2004, Maharshi Dayanand University, ROHTAK
All Rights Reserved. No part of this publication may be reproduced or stored in a retrieval system or transmitted in any form or by any means; electronic, mechanical, photocopying, recording or otherwise, without the written permission of the copyright holder.

Maharshi Dayanand University
ROHTAK – 124 001

विषय सूची

अध्याय-1 **हिंदी साहित्य का इतिहास** **5**

1. इतिहास दर्शन और साहित्सेतिहास
2. हिंदी साहित्य के इतिहास लेखन की परम्परा और साहित्येतिहास के पुनर्लेखन की समस्याएं
3. हिंदी साहित्य का इतिहासः काल–विभाजन, सीमा निर्धारण और नामकरण

अध्याय-2 **हिंदी साहित्य का आदिकाल** **15**

4. नामकरण और सीमा
5. आदिकालीन परिवेश
6. अदिकालीन साहित्य वर्गीकरण (सिद्ध साहित्य, जैन सहित्य, नाम साहित्य, रासो साहित्य)
7. आदिकालीन कविता की प्रवृत्तियाँ
8. गद्य साहित्य
9 आदिकालीन प्रतिनिधि रचनाकार

अध्याय-3 **हिंदी साहित्य का भक्तिकाल** **38**

10. भक्तिकालीन परिवेश : ऐतिहासिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, साहित्यिक
11. भक्ति आंदोलन
12. संत काव्य धारा : वैशिष्टय और अवदान
13. सूफी काव्य धारा : वैशिष्टय और अवदान
14. राम काव्य धारा : वैशिष्टय और अवदान
15. कृष्ण काव्य धारा : वैशिष्टय और अवदान
16. गद्य साहित्य
17. भक्तिकालीन काव्य की उपलब्धियां
18. भक्तिकाल ः स्वर्ण युग
19. भक्तिकालीन प्रतिनिधि साहित्यकार

अध्याय-4 **हिंदी साहित्य का रीतिकाल** **69**

20. नामकरण
21 रीतिकालीन परिवेशः ऐतिहासिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, साहित्यिक
22. रीतिकालीन दरबारी संस्कृति और लक्षण–ग्रन्थों की परम्परा
23. रीति के प्रर्वतक आचार्य
24. रीतिकालीन काव्यधाराएँ (रीतिबद्ध, रीतिसिद्ध, रीतिमुक्त)
25. रीतिकालीन काव्य की विशेषताएँ
26. गद्य साहित्य
27. रीतिकालीन प्रतिनिधि रचनाकार

लघूत्तरी प्रश्न **89**

बी.ए. III
हिन्दी साहित्य का इतिहास

पूर्णांकः 100
समयः 3 घंटे

निर्देशः

1. हरियाणवी जनपदीय भाषा और साहित्य पर आधारित पुस्तक से व्याख्या के लिए चार अवतरण पूछे जाएँगे। परीक्षार्थियों को इनमें से दो सप्रसंग व्याख्या करनी होगी। प्रत्येक व्याख्या 8 अंकों की होगी।
2. हरियाणवी जनपदीय भाषा और साहित्य पर आधारित पाठ्य पुस्तक में से किन्हीं दो रचनाकारों का साहित्यक परिचय पूछा जाएगा। जिनमें से परीक्षार्थियों को एक का परिचय देना होगा। यह प्रश्न 10 अंकों को होगा।
3. पाठ्य पुस्तक की अनुशीलनी में निर्धारित प्रश्नों में से कोई दो प्रश्न पूछे जाएँगे, जिनमें से परीक्षार्थियों को एक का उत्तर देना होगा। यह प्रश्न 10 अंकों का होगा।
4. प्रयोजनमूलक हिन्दी और हिन्दी भाषा पर आधारित पाठ्य पुस्तक से चार प्रश्न पूछे जाएँगे, जिनमें से परीक्षार्थियों को दो प्रश्नों के उत्तर देने होंगे। प्रत्येक प्रश्न 10 अंकों का होगा।
5. हिंदी साहित्य का इतिहास (आदिकाल–मध्यकाल) से 4 प्रश्न पूछे जाएँगे जिनमें से परीक्षार्थियों को दो प्रश्नों के उत्तर देने होंगे। प्रत्येक प्रश्न 10 अंकों का होगा।
6. हिन्दी साहित्य का इतिहास (आदिकाल–मध्यकाल) और प्रयोजनमूलक पाठ्य पुस्तक दोनों मे से 5-5 अति लघूतरी प्रश्न पूछे जाएँगे जिनमे से परीक्षार्थियों को किन्हीं सात प्रश्नों के लगभग 50 शब्दों में उत्तर देने होंगे। प्रत्येक प्रश्न 2 अंकों का होगा और पूरा प्रश्न 14 अंकों का होगा।
7. *काव्यांग से दो रसों के और दो अलंकारों के सोदाहरण लक्षण पूछे जाएँगे। परीक्षार्थियों को एक रस और एक अलंकार का लक्षण सोहरण* लिखना होगा। यह प्रश्न 5+5 = 10 अंकों का होगा।

•पाठ्य पुस्तक/पाठ्य विषय

1. हरियाणवी लोकधारा–प्रधान संपादक–डॉ० मीरा गौतम, प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र।
2. प्रयोजनमूलक हिंदी और काव्यांग–डॉ० नरेश मिश्र, प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, महर्षि दयानंद विश्वविद्यालय रोहतक।
3. हिन्दी साहित्य का इतिहस (आदिकाल एवं मध्यकाल)।

अध्याय – 1

हिंदी साहित्य का इतिहास

1. इतिहास दर्शन और साहित्येतिहास

इतिहास की जानकारी साहित्येतिहास की जानकारी को बढ़ाती है। इसलिए साहित्येतिहास को जानने से पूर्व इतिहास–दर्शन को जानना अति आवश्यक है।

1.1 इतिहास अर्थ और परिभाषाएँ

इतिहास शब्द इति+ह+आस से बना हैं जिसका शाब्दिक अर्थ–'ऐसा ही हुआ' है। शाब्दिक अर्थ को देखें तो पता चलता है कि इतिहास का संबंध अतीत से होता है और इसमें वास्तविक घटनाओं का सन्निवेश होता है। भारतीय पाश्चात्य विद्वानों ने इतिहास के व्यापक स्वरूप की विवेचना की है। विभिन्न विद्वानों द्वारा दी गई परिभाषाएं निम्नलिखित हैं–

हीगल ने लिखा है–"इतिहास केवल घटनाओं का अन्वेषण तथा संकलन मात्र नहीं हैं, अपितु उसके भीतर कार्य–कारण संबंध विद्यमान है।"

गणपतिचन्द्र गुप्त के अनुसार–"अतीत के किसी भी तथ्य, तत्त्व या प्रवृत्ति के वर्णन, विवरण, विवेचन, विश्लेषण को, जो कि काल विशेष या कालक्रम की दृष्टि से किया गया हो, इतिहास कहलाता है।"

कालिंगवुड ने कहा है–"इतिहास धर्मशास्त्र या भूत विज्ञान की तरह एक चिन्तन पद्धति है। यह एक प्रकार का शोध है, खोज है, अन्वेषण है।"

गोविन्दचन्द पाण्डे के अनुसार–"इतिहास एक ऐसा ज्ञानमय अनुशासन है जिसके माध्यम से किसी देश की सभ्यता और संस्कृति को देखा, परखा, समझा जाता है।"

इस प्रकार कहा जा सकता है कि इतिहास न केवन हमें घटना, तिथि और नामों का विवरण देता है, बल्कि इसमें घटना, स्थिति, प्रक्रिया और प्रकृति का सम्पूर्ण अनुशीलन किया जाता है। इतिहास से मनुष्य का नाता अत्यन्त पुराना है। मानव की समस्त क्रिया तथा प्रतिक्रिया आदि का समावेश इतिहास में किया जाता है। हमारे सारे संस्कार व्यवहार, संस्कृति सब को हम इतिहास की आँखों से देख सकते हैं। बिना अतीत को जाने वर्तमान स्वरूप को नहीं समझा जा सकता।

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। समाज में अनेक घटनाएं घटती रहती हैं। घटनाओं का इतिहास बनता जाता है और वही इतिहास हमें अतीत से जोड़कर रखता है। इस प्रकार मनुष्य इतिहास–दर्शन और इतिहास–विवेक के नये गवाक्षों को खोलता है। इतिहास के विषय में कुछ भ्रम लोगों के मन में आते हैं कि इतिहास केवल खण्डित शवों, खण्डित जीवन या व्यर्थ बीते समय तक की जानकारी देता है जबकि वास्तविकता यह है कि इतिहास हमें नयी व्याख्या, नयी प्रेरणा और नयी दृष्टि देता है। वह हमारे भावी जीवन का निर्माता होता है।

1.2 इतिहासकार एवं इतिहास बोध

एक सफल इतिहासकार घटनाओं, वृत्तान्तों और तत्कालीन घटनाओं का लेखा–जोखा प्रस्तुत करता है और हमें अतीत की घटनाओं का बोध करवाता है। इतिहासकार अपने अध्ययन कार्य को दो तरह से प्रकट करता है। (i) तथ्यों की जाँच (ii) स्रोतों से तथ्यों का चुनाव। तथ्यों के चयन में इतिहासकार पूरी तटस्थता से कार्य करता है इसमें इतिहासकार जितना तटस्थ होगा, उसका इतिहास उतना ही प्रामाणिक और विश्वसनीय होगा। इतिहासकार की ईमानदारी और तटस्थ रूख उसके सच्चे इतिहास बोध का निर्माण करते हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने साहित्यिक इतिहास के विषय में कहा है कि जबकि प्रत्येक देश का साहित्य वहाँ की जनता की चित्तवृति का संचित प्रतिबिम्ब होता है, तब यह निश्चित है कि जनता की चित्तवृत्ति के परिवर्तन के साथ–साथ साहित्य के स्वरूप में भी परिवर्तन होता जाता हैं। आदि से अन्त तक इन्ही चित्तवृत्तियों की परम्परा को परखते हुए साहित्य–परम्परा के साथ उनका सामजस्य दिखाना ही साहित्य का इतिहास कहलाता है। जनता की चित्तवृत्ति बहुत कुछ राजनीतिक, सामाजिक, साम्प्रदायिक तथा धार्मिक परिस्थिति के अनुसार होती है। साहित्यकार के लिए परम आवश्यक होता है कि वह साहित्य एवं साहित्यिक विधाओं की पूर्ण जानकारी हासिल करके तथा साथ–साथ धर्म, दर्शन, समाज आदि को इतिहास में शामिल करे। तभी वह साहित्य के विश्वसनीय और प्रमाणिक इतिहास की रचना कर सकता है। 'साहित्येतिहास' शब्द का प्रयोग सबसे पहले वाल्तेयर ने 18 वीं शताब्दी में किया था। इसके बाद हीगेल तथा अनेक विद्वानों ने इस शब्द का प्रयोग किया। हीगेल का मानना है कि इतिहास–दर्शन का अर्थ इतिहास

संबंधी चिन्तनयुक्त विचारों के अतिरिक्त कुछ नहीं है। आधुनिक काल में साहित्येतिहास लेखन की परम्परा को विशेष दर्जा दिया गया। जिससे यह एक दर्शन के रूप में माना जाने लगा है। इसके अध्ययन की पूर्व पीठिका को प्रस्तुत करना कोई सरल कार्य नहीं है, क्योंकि पाश्चात्य विद्वानों, दार्शनिक, इतिहासकारों, आलोचकों और भारतीय विद्वानों ने इसके विकास एवं सिद्धांतों पर अलग–अलग मत व्यक्त किए हैं। विकासवादी सिद्धान्तों के अध्ययन में इतिहास की नई व्याख्या प्रस्तुत की गई है। इस सन्दर्भ में दार्शनिक कान्त का मत है कि सृष्टि का बाह्य विकास प्रकृति की आन्तरिक विकास प्रक्रिया का प्रतिबिम्ब मात्र है। हीगल के विचार इस प्रकार प्रस्फुटित हुए हैं–इतिहास केवल विद्यमान है। विश्व इतिहास की प्रक्रिया का मूल लक्ष्य मानव चेतना का विकास है जो द्वन्द्वात्मक पद्धति पर आधारित हैं। यह सिद्धान्त प्रकृति और भौतिक वस्तुओं के पारस्परिक द्वन्द्व को ही मान्यता देता है। इसके अनुसार *दो परिस्थितियों, घटनाओं के परस्पर संघर्ष के पश्चात् जो तीसरी वस्तु सामने आएगी वह पहले से बेहतर अवस्था में होगी। यह* बात समाज व भौतिक संसार की समस्त वस्तुओं पर लागू होती है। इस प्रकार इतिहास–दर्शन का यह विकासशील दृष्टिकोण साहित्येतिहास–दर्शन को जानने के लिए उपयोगी एवं मान्य है। इसके अन्दर मानवीय समाज की समस्त परिस्थितियों का लेखा–जोखा होता है। इसीलिए साहित्य में तत्कालीन इतिहास मुखर हो पाने में समर्थ होता है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि साहित्य का इतिहास मात्र इतिहास ही नहीं होता बल्कि इसके माध्यम से युगीन इतिहास को भी प्रकट किया जाता है। साहित्येतिहास–दर्शन की इस विकासशील परम्परा का उल्लेख अनेक साहित्यकारों ने किया है।

1. **डा० नगेन्द्र के अनुसार**: उन्होंने 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' में कहा है कि "आज साहित्य का अध्ययन विश्लेषण केवल साहित्य तक सीमित रहकर नहीं किया जा सकता उसकी विषयगत प्रवृतियों और शैलीगत प्रक्रियाओं के स्पष्टीकरण के लिए उसे संबंधित राष्ट्रीय परम्पराओं सामाजिक वातावरण, आर्थिक परिस्थितियों, युगीन–चेतना एवं साहित्यकार की वैयक्तिक प्रवृत्तियों का विश्लेषण विवेचन करना पड़ता है।"

2. **डा० विश्वम्भर नाथ उपाध्याय के अनुसार**: "साहित्येतिहास दर्शन सामान्य इतिहास दर्शन के समानान्तर होता है। उनके अनुसार साहित्य के इतिहास लेखक को उस सामाजिक संदर्भ को ध्यान रखना चाहिए जिसमें वह साहित्य प्रादुर्भूत हुआ है।" इस संबंध में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल द्वारा रचित 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' उल्लेखनीय है।

3. **ए० एच० काफे के अनुसार**: "साहित्येतिहास दर्शन के लिए युग–चेतना नामक सिद्धांत दिया है जिसके अनुसार साहित्य के इतिहास की व्याख्या तद्युगीन चेतना के आधार पर की जानी चाहिए। लेकिन इसके साथ ही पूर्ववर्ती परम्पराओं का भी कुछ–न–कुछ प्रभाव होता है।"

4. **तेन के अनुसार**: तेन ने अपने अंग्रेजी साहित्य के इतिहास में यह भली–भाँति स्पष्ट किया है कि "किसी भी साहित्य के इतिहास को समझने के लिए उससे संबंधित जातीय परम्पराओं राष्ट्रीय और सामाजिक वातावरण एवं सामाजिक परिस्थितियों का अध्ययन विश्लेषण आवश्यक है। इसके लिए उसने जाति, वातावरण एवं क्षण विशेष के तीन तत्वों का उल्लेख किया है।"

1.3 साहित्येतिहास दर्शन के तत्व

विभिन्न विद्वानों के मतों को दृष्टिगत रखते हुए साहित्येतिहास–दर्शन में उभरी निम्नलिखित बातों का उल्लेख किया जा सकता है।

(i) **साहित्यकार की प्रतिभा**: साहित्येतिहास की मूल ताकत साहित्यकार की सृजन–शक्ति ही होती है। इसके विकास का यही मूल है। इतिहास की व्याख्या से संबंध है। कई बार एक युग में रहने वाले एक ही प्रकार की परिस्थितियों का सामना करते हुए दो साहित्यकारों की रचना में काफी अन्तर देखने को मिल जाता है। साहित्य सृजन शक्ति साहित्यकार की प्रतिभा से जुड़ी होती है। प्रतिभा व उसके व्यक्तित्व को समझे बिना साहित्यकार की सृजन–शक्ति को पूर्णतः नहीं जाना जा सकता। साहित्य इतिहास दर्शन का विवरण प्रस्तुत करने में साहित्यकार की सृजन–शक्ति व उसकी प्रतिभा का विशेष स्थान होता है।

(ii) **परिवेश तथा वातावरण**: साहित्येतिहास दर्शन में परिवेश तथा वातावरण बहुत–सी परिस्थितियों से निर्मित हुआ करता है। जो बस परिवेश–रचना को प्रभावित कर उसके भावपक्ष को संवारता है। आदिकालीन साहित्य में राष्ट्रीय भावना की कमी देखी जा सकती है, परन्तु तत्युगीन रियासतों में जो दृढ़ राष्ट्रीय भावना बढ़ी उसी के परिणामस्वरूप रासो ग्रन्थ लिखे गये। यद्यपि साहित्यकार राजाश्रय में रचना कर रहा था, फिर भी वह तत्कालीन वातावरण के दायरे मे ही लिख रहा था। जो रचा जा रहा था, वह साहित्य के वातावरण का ही परिणाम रहा था। कहा जा सकता है कि तात्कालिक वातावरण से इस साहित्य का आकार निर्मित हुआ है।

(iii) **साहित्यिक एवं सांस्कृतिक परम्पराएं:** साहित्य की विधाओं एवं कृत्तियों के विकास में साहित्य की सम्यक् व्याख्या उससे संबंधित पूर्ववर्ती परम्पराओं के अध्ययन के बिना संभव नहीं है। साहित्य का उद्‌गम स्रोत खोजने के लिए इतिहासकार को केवल तत्कालीन परिस्थितियों पर ही नहीं, पूर्ववर्ती परम्पराओं पर भी विचार करना चाहिए। यदि हम भक्तिकाल में बहने वाली भक्ति की निर्गुण–सगुण भक्तिधारा का उत्स खोजने का प्रयास करें, तो उसके सूत्र सातवीं–आठवीं शती के दक्षिण में शंकराचार्य के अद्वैतावाद से जुड़े मिलते है। इसी प्रकार रीतिकालीन शृंगार भावना का स्रोत अपभ्रंश के ग्रन्थों व संदेश रासक से अछूता नहीं दिखाई पड़ता। इस प्रकार साहित्येतिहास के दर्शन के विकास में परम्परा का योगदान भुलाया नहीं जा सकता।

(iv) **द्वन्द्वात्मकता:** व्यक्ति संघर्ष के बिना अपना विकास नहीं कर सकता। द्वन्द्वात्मक परिस्थितियाँ ही सृष्टि का मूलाधार है। कवि या साहित्यकार भी किसी न किसी द्वन्द्व से प्रेरित होकर ही साहित्य की रचना करता है। यह द्वन्द्व आन्तरिक भी हो सकता है और बाह्य भी। व्यक्तिगत द्वन्द्व के साथ–साथ आर्थिक द्वन्द्व, पारिवारिक द्वन्द्व सामाजिक द्वन्द्व एवं राष्ट्रीय द्वन्द्व भी साहित्य के विकास मे महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। कबीर की रचनाओं में तत्कालीन सामाजिक द्वन्द्व झलकता है। समस्त भक्ति युग में तात्कालिक विभिन्न भक्ति–धाराओं के द्वन्द्व को देखा जा सकता है जिसमें तुलसी की समन्वय भावना का समावेश दिखाई पड़ता है।

(v) **संतुलन एवं सामंजस्य:** साहित्यकार नैसर्गिक प्रतिभा परम्परा और वातावरण के द्वन्द्व से प्रेरित होकर परम्परा और युगीन वातावरण के अन्तर्विरोध से उत्पन्न द्वन्द्व ही साहित्य के विभिन्न आन्दोलनों, उसकी धाराओं एवं प्रवृतियों को गति देता हुआ साहित्य की विकास प्रक्रिया को संचालित करता है। उपर्युक्त आधारों का अवलोकन करने के पश्चात् हम साहित्येतिहास–दर्शन के संबंध में निम्नलिखित निष्कर्ष निकाल सकते हैं।

साहित्य का इतिहास तत्कालीन सामाजिक एवं राजनीतिक वातावरण का प्रतिबिम्ब होता है। साहित्य की प्रवृत्तियाँ समाज की प्रवृत्तियों पर प्रकाश डालती है। साहित्य का इतिहास साहित्य के उत्थान पतन की कहानी है। साहित्य के इतिहास को समझने के लिए रचनाओं एवं रचनाकारों और उनसे संबंधित स्थितियों, परिस्थितियों और परम्पराओं का ज्ञान होना आवश्यक है। साहित्य के विकास में युगीन–चेतना का ही नहीं, पूर्ववर्ती परम्पराओं का भी न्यूनाधिक योगदान रहता है। साहित्येतिहास, कृतिकारों का ही ग्रन्थ नहीं होता है, अपितु वह काल प्रवाहित मानव समाज के विकास और उसकी विशेषताओं की लिपिबद्ध कथा है। उसे घटनाओं का, व्यक्तियों का, तथ्यों का संकलन मानना असंगत है। साहित्येतिहास के वर्तमान और विगत को जोड़ने वाली, युग चेतना की व्याख्या करने वाली, जनता की संचित मनोवृत्तियों का प्रतिबिम्बन करने वाली, मानव संस्कृति का उद्‌घाटन करने वाली या मानव–प्रगति की निरन्तर विकसित चेतना का अंकन करने वाली ज्ञानात्मक शाखा है। साहित्येतिहास को जानने के लिए डा० नगेन्द्र के इस कथन का उल्लेख किया जा सकता है कि "साहित्य के इतिहास में हम प्राकृतिक घटनाओं व मानवीय क्रिया–कलापों के स्थान पर साहित्यिक रचनाओं का अध्ययन ऐतिहासिक दृष्टि से करते हैं। साहित्यिक रचनाएं भी मानवीय क्रिया–कलापों का ही दर्शन करवाती हैं। इतिहास को समझने से पूर्व उनके रचनाकारों से संबंधित स्थितियों, परिस्थितियों एवं परम्पराओं को जानना भी अति आवश्यक होता है। किसी कृतिकार की वास्तविक शक्ति रचनाओं, रचनाकारों और रचना प्रवृत्तियों के मूल्यांकन में ही प्रकट होती है। साहित्येतिहास–लेखन में अनेक तत्त्व उसके साधक के रूप में कार्य करते हैं। उन तत्त्वों का उल्लेख यहाँ पर समीचीन जान पड़ता है। साहित्येतिहास लेखन में अनेक साधक तत्त्व हो सकते हैं। राजनीतिक तत्त्व, साहित्यिक तत्त्व, सामाजिक तत्त्व, सांस्कृतिक तत्त्व, दार्शनिक तत्त्व, आलोचनात्मक तत्त्व वस्तुतः साहित्येतिहास लेखन में साहित्यिक तत्त्वों की प्रधानता होती है लेकिन अन्य तत्त्वों की सार्थकता और महत्ता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता है। क्योंकि इन्हीं तत्त्वों से साहित्येतिहास प्रामाणिक एवं पूर्ण बनता है। इस सन्दर्भ में डा० मैनेजर पाण्डेय का विचार इस प्रकार रहा है– "उसका कतिपय नियमों द्वारा सरलीकरण करना गलत है। ऐतिहासिक तथ्यों को विकृत न करते हुए साहित्य के इतिहास को समझना ही हमारा ध्येय होना चाहिए। केवल इसी प्रकार हम मानवता की मुक्ति के लिए इस अन्तिम संघर्ष में योग दे सकेंगे। अतीत का अविकृत और सत्यपूर्ण उद्‌घाटन ही वर्तमान में सक्रिय हो सकता है। साहित्येतिहास–लेखन की सामग्री को ही साहित्येतिहास का स्रोत कह सकते हैं। लेखक सामग्री का संकलन और सामग्री का निर्धारण साहित्येतिहास लेखन की अनिवार्यता होती है।" साहित्येतिहास में प्रयुक्त सामग्री को दो वर्गों में रखा जा सकता है। आन्तरिक साक्ष्य से संबंधित सामग्री तथा बाहरी साक्ष्य से संबंधित सामग्री।

आन्तरिक एवं बाह्य परीक्षणों के माध्यम से साहित्येतिहास–लेखक किसी रचना की प्राचीनता और प्रामाणिकता के निर्धारण का प्रयास करता है। उदाहरण के तौर पर चन्दवरदायी कृत 'पृथ्वीराज रासो' नामक कृत्ति ले सकते हैं। आन्तरिक एव बाह्य परीक्षणों के आधार पर ही साहित्येतिहासकार उसकी प्रामाणिकता तथा स्थिति का निर्धारण करते चले आ रहे हैं।

2. हिंदी साहित्य के इतिहास लेखन की परम्परा, साहित्येतिहास के पुनर्लेखन की समस्याएं

हिंदी साहित्य के इतिहास--लेखन की आधार भूमि विभिन्न साहित्यकारों की जीवन वृत्ति संबंधित रचनाएं प्रस्तुत करती है। प्रारम्भ में विभिन्न कवियों का व्यक्तित्व और कृतित्व ही प्रस्तुत किया जाता रहा है। ऐसी प्रारम्भिक कृतियों में 'चौरासी वैष्णवों की वार्ता', 'दो सौ बावन वैष्णव की वार्ता', 'भक्तमाल' आदि प्रमुख हैं। इन संग्रहों में काल--क्रमिक विवेचन न होने के कारण इनको साहित्य इतिहास वर्ग में स्थान नहीं दिया जा सकता।

हिंदी में इतिहास लेखन की परम्परा के विषय में फ्रैंच विद्वान गार्सा–द–तासी का नाम सर्वप्रथम लिया जाता है। इन्होंने 'हिन्दुषी हिन्दुस्तानी साहित्य का इतिहास' लिखा। जिसमें हिन्दी और उर्दू के विभिन्न 738 कवियों को वर्ण क्रमानुसार स्थान मिला। इनमें 72 हिंदी के कवि सम्मिलित किए गये थे। इस ग्रन्थ का सर्वाधिक महत्त्व है कि यह हिंदी साहित्य के इतिहास लेखन का प्रथम प्रयास है। इस कृति में हिन्दी और उर्दू दोनों भाषाओं के कवियों को सम्मिलित किया गया है। डा० नगेन्द्र ने इसके विषय में कहा है कि–"कवियों को कालक्रम के स्थान पर अंग्रेजी वर्णक्रम में प्रस्तुत करना, काल विभाजन, युगीन प्रवृतियों का अभाव और हिन्दी उर्दू कवियों को घुला मिला देना त्रुटिपूर्ण है। अनेक न्यूनताओं के होते हुए भी इतिहास लेखन की परम्परा के प्रवर्त्तक के रूप में गार्सा–द--तासी को गौरव प्राप्त है।"

हिंदी साहित्येतिहास लेखन की परम्परा में शिवसिंह सेंगर का नाम विशिष्टता के साथ लिया जाता हैं। उनका ग्रन्थ 'शिवसिंह सरोज' 1888 ई० में प्रकाशित हुआ। इस ग्रंथ में 998 कवियों का विवरण दिया गया है। शिवसिंह सेंगर ने प्रस्तुत ग्रन्थ की रचना के लिए हिन्दी और संस्कृति के अनेक ग्रन्थों की सहायता ली थी। 'शिवसिंह सरोज' के विषय में कहा का सकता है कि यह हिन्दी का ऐसा पहला ग्रन्थ है जो परवर्ती साहित्येतिहास लेखन का आधार ग्रन्थ बना।

जार्ज इब्राहिम ग्रियर्सन ने सन् 1888 में 'दा मार्डन वर्नाकुलर लिटरेचर आफ हिन्दुस्तानी' नामक कृति की रचना की, जिसका हिन्दी अनुवाद 'हिन्दी साहित्य का प्रथम इतिहास' डा० किशोरी लाल गुप्त ने किया। इसमें विभिन्न साहित्यकारों की विभिन्न प्रवृतियों को दर्शाते हुए उनका काल क्रमानुसार वर्गीकरण किया गया है। हिन्दी के विकासात्मक स्वरूप का निर्धारण यहीं से शुरू हुआ है। इस ग्रन्थ में प्रत्येक खण्ड काल विशेष के सूचक हैं जिनमें चारण काव्य, धार्मिक, काव्य, प्रेम काव्य आदि का आभास होता है। इस कृति में भक्तिकाल को स्वर्ण युग कहने की सुन्दर उक्ति मिली है। अंग्रेजी विषय में संकलित होने के कारण यह ग्रन्थ हिंदी इतिहास लेखकों के लिए विशेष प्रेरक नहीं बन सका।

मिश्रबन्धुओं ने 'मिश्र बन्धु विनोद' नामक पुस्तक में हिन्दी साहित्य का इतिहास लिखा। इस ग्रन्थ के चार भाग दिखाये गये है। तीन भागों का प्रकाशन सन् 1913 ई० तथा चौथे भाग का प्रकाशन 1934 ई० में सामने आया। इस ग्रन्थ की रचना का आधार काशी नागरी प्रचारिणी सभा की खोज रिपोर्ट थी। इस साहित्येतिहास--ग्रन्थ में सम्मिलित कवियों की संख्या पाँच हजार रही हैं मिश्र बन्धुओं ने अपने साहित्येतिहास को आठ कालखण्डों में विभाजित किया है और प्रत्येक युग के रचनाकारों के रचनात्मक योगदान का अनुशीलन किया है। यद्यपि वे हिंदी साहित्य का विधिवत् इतिहास लिखना चाहते थे, किन्तु अपनी चाहत में वे सफल नहीं हो सके। फिर भी ऐतिहासिक महत्त्व की दृष्टि से 'मिश्रबन्धु विनोद' के अस्तित्व को अस्वीकार नहीं किया जा सकता है। साहित्येतिहास की परम्परा में इसे एक सार्थक कदम कहा जा सकता है।

साहित्येतिहास–लेखन की परम्परा में सर्वाधिक उल्लेखनीय नाम आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का रहा है। उन्होंने इस दिशा में महत्त्वपूर्ण कदम उठाते हुए सुव्यवस्थित इतिहास लिखकर इतिहास--लेखन की परम्परा में एक नये युग और नयी चेतना की शुरूआत की। आचार्य शुक्ल का 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' नामक ग्रन्थ पहले 'हिन्दी शब्द सागर' की भूमिका के रूप में लिखा गया था, और फिर 1929 ई० में परिमार्जन के साथ अलग पुस्तक के रूप में प्रकाशित हुआ। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल में रचनाकार--चयन की गहरी दृष्टि थी। चयन--प्रक्रिया का परिचय देते हुए उन्होंने 'मिश्रबन्धु विनोद' के पाँच हजार कवियों में से लगभग एक हजार प्रतिनिधि कवियों को ही अपने इतिहास में स्थान दिया है। वास्तव में, आचार्य शुक्ल ने इतिहासकार की तथ्यपरक दृष्टि की अपेक्षा साहित्यलोचन की गहरी और पारदर्शी दृष्टि को प्रमुखता दी। यही अद्भुत मूल्यांकन की क्षमता ही उनके इतिहास की प्राण शक्ति का पुंज है।

अनेक विशेषताओं के बाद भी शुक्ल के इतिहास में भी कतिपय भ्रान्तियाँ और कमियाँ दिखायी पड़ती हैं। अधुनातन शोधों से वीरगाथा काल के नामकरण सामग्री और प्रवृत्तियों के विषय में आचार्य शुक्ल की मान्यताएँ और धारणाएँ आधारहीन सिद्ध हो चुकी हैं, ऐसे ही और भी स्थलों पर कुछ कमियाँ देखी जा सकती हैं। फिर भी शुक्ल का साहित्येतिहास साहित्येतिहास–लेखन की परम्परा में एक महत्त्वपूर्ण कड़ी का काम करता रहा है। साहित्येतिहास–लेखन की कड़ी में अगला नाम आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का आता है। आचार्य द्विवेदी की कृति 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' एक श्रेष्ठ कृति है। इस ऐतिहासिक कृति से साहित्य इतिहास लेखन के लिए नई दृष्टि, नई सामग्री और नई व्याख्या मिलती है। आचार्य द्विवेदी ने साहित्य की विभिन्न रचना परम्पराओं उनकी शैलियों का

विवरणात्मक और तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है। संत काव्य की सुंदर पृष्ठभूमि के साथ प्रेमाख्यान काव्य पर अनुसंधानात्मक कार्य करके तथ्य प्रतिपादन किया है। इनकी लेखनी से हिन्दी साहित्य उद्‌भव और विकास', 'हिन्दी साहित्य का आदिकाल' जैसी श्रेष्ठ रचनाएँ सामने आई है। निश्चित रूप से इनकी इतिहास दृष्टि हिन्दी साहित्य इतिहास अध्ययनकर्त्ताओं और परवर्ती लेखकों के लिए अपूर्व प्रेरणा स्वरूप है। आचार्य हजारी प्रसाद 'द्विवेदी ने साहित्येतिहास के तीन ग्रन्थों की रचना की है। (i) 'हिंदी साहित्य की भूमिका' संस्करण 1940 ई० (ii) 'हिंदी साहित्य का आदिकाल' 1952 ई० (iii) 'हिंदी साहित्य--उद्‌भव और विकास 1955 ई०। डा० रामकुमार वर्मा ने 1938 ई० में 'हिंदी साहित्य का आलोचनात्मक साहित्य' लिखा। यह ग्रन्थ सात प्रकरणों में विभक्त है। यह वर्गीकरण मूलतः आचार्य शुक्ल के वर्गीकरण पर आधारित है। फिर भी कालों के नये नामोल्लेख के साथ सरल शैली और प्रवाहमय विचारों से ऐतिहासिक तथ्यों का प्रतिपादन किया गया है। उनका भक्तिकाल संबंधी ऐतिहासिक विवेचन विशेष स्मरणीय है। नागरी प्रचारिणी सभा काशी के सौजन्य से हिन्दी साहित्य का वृहत इतिहास प्रकाशित हुआ। यह विस्तृत इतिहास 16 खण्डों में विभक्त किया गया है। इसमें सबसे अधिक लेखकों का योगदान इसकी अपूर्व सफलता ने 100 से अधिक लेखकों और सम्पादकों की भूमिका में हिंदी साहित्य की विविध धाराओं परम्पराओं के विभिन्न सूत्रों का पूर्ण आकर्षण रूप से समायोजन किया गया है। डा० गणपतिचन्द्र गुप्त ने 'हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास' सन् 1965 ई० में लिखा। उनके साहित्येतिहास की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उन्होंने अनेक पाश्चात्य विचारकों और इतिहासकारों के विचारो का मंथन करके इतिहास--प्रक्रिया का वैधानिक अध्ययन प्रस्तुत किया है। डा० गुप्त ने आचार्य शुक्ल द्वारा प्रस्तुत काल--विभाजन में संरचनात्मक परिवर्तन भी किया है। डा० धीरेन्द्र वर्मा ने अनेक विद्वानों के संयोग से इस परम्परा में 'हिंदी साहित्य ग्रन्थ' प्रस्तुत किया। इसमें मुख्यतः आदि, मध्य और आधुनिक तीन कालों की साहित्य--सामग्री का क्रमबद्ध प्रस्तुतीकरण है। अत्याधिक कमियों के होते हुए भी इतिहास लेखन परम्परा में इसका विशेष महत्त्व है। इसमें लेखन की एकरूपता और विषय की अन्विति और संश्लेषण का अभाव अवश्य है। इसमें काव्य परम्पराओं का विवेचन विशेष उल्लेखनीय है।

हिंदी साहित्य के इतिहास लेखन की परम्परा सतत चलती रही है। पूर्वकालीन इतिहास ग्रन्थों से प्रेरणा लेते हुए नई मान्यताओं और मौलिकताओं के साथ नए इतिहास ग्रन्थ सामने आते रहे हैं। हिंदी साहित्य के प्रारम्भिक इतिहास लेखक गार्सा--द-- तासी से लेकर आज तक इस दिशा में क्रमिक विकास चलता रहा है। समय--समय पर नई दृष्टि, नई पद्धति और नए चिन्तन के आधार पर अनुकूल और सन्तोषजनक साहित्य इतिहास के तथ्यों का उद्‌घाटन होता रहा है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि हिंदी साहित्य के इतिहास की सुदृढ़ परम्परा सतत् प्रवाहित होती रही है।

साहित्येतिहास के पुनर्लेखन की समस्याएँ

साहित्येतिहास के स्वरूप का उल्लेख करते हुए आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है कि "जबकि प्रत्येक देश का साहित्य वहाँ की जनता की चित्तवृत्ति का स्थायी प्रतिबिम्ब होता है। तब यह निश्चित है कि जनता की चित्तवृत्ति के परिवर्तन के साथ--साथ साहित्य के स्वरूप में परिवर्तन होता चला जाता है। आदि से अन्त तक इन्हीं चित्तवृतियों की परम्परा को परखते हुए साहित्य परम्परा के साथ सामंजस्य दिखाना ही 'साहित्य का इतिहास' कहलाता हैं। जनता की चित्तवृत्ति बहुत कुछ राजनीतिक, सामाजिक, साम्प्रदायिक, तथा धार्मिक परिस्थिति के अनुसार होती है।"

हिंदी साहित्य के प्रारम्भ का प्रश्न--हिंदी साहित्य के लेखन की पहली समस्या यह है कि इसका प्रारम्भ कब से माना जाए। शिवसिंह सेंगर, जार्ज ग्रियर्सन और मिश्र बंधुओं ने हिंदी साहित्य का प्रारम्भ सातवीं शती से स्वीकार किया है। राहुल सांस्कृत्यान ने सातवी शती के सरहपाद को हिंदी का प्रथम कवि माना है, जबकि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इसका आरम्भ दसवीं शताब्दी माना है। लेकिन शुक्ल ने जिन कृतियों के आधार पर अपने मत का निर्धारण किया था उनका अस्तित्व भी संदेह की नजर में आ गया है। कुछ विद्वानो ने बारहवीं शती से हिंदी का आरम्भ माना है। इसमें डा० गणपति चन्द्र का उल्लेख किया जा सकता है। डा० उदयनारायण तिवारी, डा० नामवरसिंह आदि विद्वानों ने हिन्दी साहित्य एवं भाषा का आरंभ चौदहवीं शती से माना है। इससे स्पष्ट होता है कि हिंदी साहित्य के प्रारम्भ के संबंधों में कई मत प्रचलित हैं। लेकिन 12 वीं शती को विद्वानों ने तर्कसंगत एवं प्रामाणिक माना है।

1 **काल विभाजन की समस्या**: हिंदी साहित्य को आदिकाल, भक्तिकाल, रीतिकाल तथा आधुनिक काल में विभाजित किया गया है। आचार्य शुक्ल ने अपने हिन्दी साहित्य का इतिहास में इसी विभाजन को अपनाया है। लेकिन बाद में यह काल विभाजन भी विद्वानों के संदेहों के घेरे में आ गया। साहित्य की लगातार विकासशील प्रकृति के कारण कोई भी काल अन्तिम सत्य के रूप में नहीं स्वीकार किया जा सकता। इतिहास लेखन के लिए काल--विभाजन जितना महत्त्वपूर्ण है उतना ही समस्यापूर्ण भी है।

2. **नामकरण की समस्या**: हिन्दी साहित्येतिहास के लेखन में काल–विभाजन के साथ ही नामकरण की समस्या भी जुड़ी हुई है। इसके लिए कभी प्रमुख साहित्यिक प्रवृत्ति को आधार बनाया जाता है और कभी साहित्यकार को, कभी पद्धति का आश्रय लिया जाता है और कभी विषय का। आचार्य शुक्ल ने जिन ग्रन्थों के आधार पर आदिकाल को वीरगाथाकाल कहना उपयुक्त समझा था उसके बाद के विचारकों ने उस पर एकदम असहमति व्यक्त की और अपने–अपने मत के समर्थन में विभिन्न प्रकार के तर्क प्रस्तुत किये। उनके अनुसार इन ग्रन्थों में से कुछ तो अप्राप्त हैं और कुछ की प्रामाणिकता संदिग्ध है और कुछ का वीरगाथा–वर्णन से किसी प्रकार का संबंध ही नहीं है।

3. **साहित्यकारों के चयन और निर्धारण की समस्या**: हिंदी साहित्येतिहास लेखन में साहित्यकारों के चयन और उनके निर्धारण की भी गंभीर समस्या रहती है। इतिहास–लेखक के सामने यह संकट बना रहता है कि किस रचनाकार की रचना को वह अपनी कृति में स्थान दे और किस को न दे। इस कार्य–कारण संबंध के बिना इतिहास मे काफी त्रुटियाँ होने की संभावना बनी रहती हैं।

4. **मूल्यांकन की समस्या**: हिंदी साहित्येतिहास लेखन में मूल्यांकन की समस्या भी एक गंभीर समस्या बनी रहती है। इस विषय में डा० नामवर सिंह का मत इस प्रकार प्रतिपादित हुआ है कि साहित्य के इतिहास में काल–विभाजन और नामकरण से अधिक महत्त्वपूर्ण मूल्यांकन की समस्या होती है। किसी इतिहासकार की वास्तविक शक्ति रचनाओं, रचनाकारों और रचना प्रवृत्तियों के मूल्यांकन से ही प्रकाश में आ पाती है। इसके लिए यह आवश्यक हो जाता है कि साहित्यलेखक तटस्थ एवं निष्पक्षतापूर्ण कार्य को सम्पन्न करें।

5. **इतिहास-लेखन की पद्धति संबंधी समस्या**: साहित्येतिहास–लेखन की पद्धति भी साहित्य–इतिहास–लेखन की एक समस्या है। हिन्दी साहित्य के प्रारम्भिक इतिहास ग्रन्थों में इस प्रकार की समस्या संबंधी परिचय प्राप्त होता हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने पहली बार हिंदी साहित्य लेखन को वैज्ञानिक स्वरूप प्रदान करने का सफल प्रयास किया। उनके बाद इतिहासकारों ने इतिहास–लेखन का वैज्ञानिक तरीके से अध्ययन किया। आज तक हिंदी साहित्य में युगपरक विभाजन के आधार पर ही अध्ययन की प्रवृत्तियों की पद्धति प्रचलित रही है। इस पद्धति का प्रमुख दोष यह है कि प्रत्येक युग की साहित्यिक प्रवृत्तियों को उस युग की काल सीमाओं तक ही सीमित मान लिया जाता है।

6. **हिंदी साहित्य के वैचारिक स्रोतों की समस्या**: हिंदी साहित्य के इतिहास–लेखन में साहित्य के वैचारिक स्रोतों की भी एक समस्या आड़े आती है। हिंदी भाषा और हिंदी साहित्य का विकास बारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से माना जाये, किन्तु हिंदी साहित्य में पायी जाने वाली अनेक विचारधाराओं और विशेषताओं के स्रोत पौराणिक भारतीय साहित्य में, संस्कृति में निकाले जा सकते हैं। उदाहरण के तौर पर आदिकालीन जैन धर्म से संबंधित रास काव्य परम्परा के स्रोत महावीर, नेमिनाथ आदि जैन तीर्थकारों के उपदेशों में समाहित हैं। इसी प्रकार भक्तिकालीन साहित्य में विद्यमान दार्शनिक विचारधारा और रहस्यानुभूति का मूल उद्‌गम स्रोत उपनिषदों में देखा जा सकता है।

7. **हिंदी साहित्येतिहास में अन्य भाषाओं का साहित्य**: हिंदी साहित्येतिहास में अन्य भाषाओं के साहित्य का सन्निवेश होना चाहिए या फिर नहीं। यह भी एक गम्भीर समस्या बनी रहती है। हिंदी साहित्य के कतिपय विद्वानों का मानना रहा है कि उर्दू को भी हिंदी साहित्य में समाहित किया जा सकता है। इस विषय में डा० नगेन्द्र का मत रहा है कि हिंदी साहित्य के इतिहास में उर्दू का समावेश एक बरबस प्रयास होगा। मैथिली और राजस्थानी साहित्य का इतिहास आदिकाल से ही हिन्दी साहित्य के साथ सम्बद्ध रहा है और विद्यापति, चन्दवरदायी , पृथ्वीराज आदि कवियों को हिन्दी साहित्य के इतिहास मे निरन्तर महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त रहा है। परन्तु भाषा की कठिनाई के कारण इन भाषाओं के कवि–लेखकों तथा उनकी कृतियों के साथ न्याय नहीं हुआ है। इसी प्रकार गुरूमुखी लिपिबद्ध हिन्दी गद्य–पद्य का प्रचुर साहित्य आज उपलब्ध है जिससे हिन्दी साहित्य का इतिहासकार या तो अनभिज्ञ रहा है या पंजाबी की रचनाएँ समझकर उनकी उपेक्षा करता रहा है। इस सम्पूर्ण वाड्मय का हिंदी साहित्य के इतिहास में विवेकपूर्वक उपयोग करना चाहिए, क्योंकि हिंदी की परिभाषा हमें बताती है कि यह सब हिन्दी साहित्य के ही अभिन्न अंग है।

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि साहित्येतिहास–लेखन का कार्य अति जटिल एवं दुष्कर कार्य है। लेखन में अनेक समस्याओं के बाद यदि साहित्येतिहासकार व्यापक दृष्टि, विवेकपूर्वक सोच, निष्पक्ष एवं तटस्थ रूख अपनाये तो साहित्येतिहास की दिशा में महत्त्वपूर्ण कार्य किया जा सकता है। और साथ ही साथ वह समस्याओं से मुक्ति भी पा सकता है।

3. हिंदी साहित्य का इतिहास : काल-विभाजन, सीमा-निर्धारण और नामकरण

हिंदी साहित्य के इतिहास ग्रन्थों की परम्परा की सुनिश्चित पृष्ठभूमि नहीं है। इसका अधिकांश भाग अब तक भी अप्राप्य ही है। अन्य तथ्य खोज के अभाव में अज्ञात ही रह गए हैं। भारतवर्ष पर अनेक आक्रमणों और देवी प्रकोपों से हिन्दी साहित्य का बहुत बड़ा अंश काल कवलित होकर रह गया है। जो तथ्य हमारे सामने हैं उन्हीं के आधार पर हम काल विभाजन की कोशिश करते हैं।

(क,) काल विभाजन

प्रारम्भ की पुस्तकों में काल विभाजन संबंधी तथ्यों का अभाव रहा है। इनमें उपलब्ध कवियों और उनकी रचनाओं का विवरण ही मिलता है। ऐसे ग्रन्थों में नाभादास के 'भक्तमाल' में 200 भक्तों का चरित्रांकन किया गया है। ब्रज के वार्ता साहित्य में 'चौरासी वैष्णव की वार्ता' और 'दो सौ बावन' वैष्णवों की वार्ता' प्रमुख हैं। यह क्रम काफी लम्बे समय तक चलता रहा है। शिवसिंह सेंगर ने 'शिव सिंह सरोज' में 829 कवियों की कविताओं का संकलन किया है और अन्त में 1003 कवियों के विवरण भी प्रस्तुत किए है। सेंगर ने हिंदी साहित्य के इतिहास को शताब्दियों के आधार पर विभाजित करने का प्रारम्भिक प्रयास किया है। इस विभाजन का कोई विशेष महत्त्व नहीं रहा। डा० ग्रियर्सन ने अपनी रचना 'दी माडर्न वर्नाकुल लिटरेचर ऑफ हिन्दुस्तान' में काल विभाजन करते हुए विभिन्न साहित्यकारों पर विशद् चर्चा की भी की है। उन्होंने हिंदी साहित्य के इतिहास को 12 भागों में विभक्त किया है। यह विभाजन किसी एक आधार से न जुड़कर साहित्यिकता, राजनीतिक, रचना–प्रकृति आदि की विविधता से जुड़ा हैं। इसमें साहित्य इतिहास के विभाजन का प्रयास अवश्य दिखाई देता है किन्तु विभाजन तर्क संगत नहीं है। मिश्र बन्धुओं ने अपने साहित्येतिहास ग्रन्थ 'मिश्रबन्धु विनोद' में काल–विभाजन में नयी दृष्टि और नये विवेक का परिचय दिया है। मिश्र बन्धुओं का प्रयास निश्चित ही सभी दृष्टियों से ग्रियर्सन के काल–विभाजन से बहुत विकसित और वैज्ञानिक है। विभाजन इस प्रकार किया गया है–

1. **आरम्भिक काल**
   (i) पूर्वारम्भिक काल : संवत् 700 से लेकर 1343 तक (ii) उत्तरारम्भिक काल : संवत् 1343 से 1444 तक
2. **माध्यमिक काल**
   (i) पूर्वमाध्यमिक काल : संवत् 1445 से 1560 तक (ii) प्रौढ़ माध्यमिक काल : संवत् 1561 से 1580 तक
3. **अलंकृत काल**
   (i) पूर्वालंकृत काल : संवत् 1681 से 1790 तक (ii) उत्तरालंकृत काल : संवत् 1791 से 1889 तक
4. **परिवर्तन काल** : संवत् 1890 से 1925 तक
5. **वर्तमान काल** : संवत् 1926 से आगे

मिश्र बन्धुओं का काल–विभाजन व्यवस्थित एवं वैज्ञानिक है, परन्तु इस वर्गीकरण में अनेक विसंगतियाँ देखी गई है। पूरे वर्गीकरण में कोई निश्चित आधार नहीं अपनाया गया है। आरम्भिक काल, माध्यमिक काल, वर्तमान काल आदि विभाजन के साथ अलंकृत काल नाम युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता है, क्योंकि यह काल क्रम के आधार से अलग प्रकृतिगत आधार को प्रकट करता है। इसमे पद्धति की दृष्टि से भी एकरूपता का निर्वाह नहीं किया गया है। प्रथम तीन कालों को दो–दो खण्डों में वर्गीकृत किया गया है, किन्तु बाद के दो कालों में यह पद्धति नहीं अपनायी गई है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने हिन्दी साहित्य के इतिहास का काल–विभाजन चार भागों में किया है।

1. आदिकाल – वीरगाथाकाल : संवत् 1050-1375 2. पूर्व मध्यकाल–भक्तिकालः संवत् 1375-1700
3. उत्तर मध्यकाल – रीतिकाल : संवत् 1700- 1900 4. आधुनिक काल – गद्यकाल, संवत् 1900 से अद्यावधि

आचार्य शुक्ल ने आदिकाल में वीरगाथाओं की प्रमुखता को ध्यान में रखकर इसे 'वीरगाथाकाल' के नाम से अभिहित किया। शुक्ल ने इसमें तीन प्रमुख बातों पर ध्यान दिया है– (i) वीरगाथात्मक ग्रंथों की प्रचुरता (ii) जैनों द्वारा प्राचीन ग्रंथों को धार्मिक साहित्य घोषित करके उसे रचनात्मक साहित्य की परिधि से निकाल देना और इसी प्रकार नाथों और सिद्धों की रचनाओं को शुद्ध साहित्य में स्थान न देना (iii) मुख्य बात उन रचनाओं की है, जिनमें भिन्न–भिन्न विषयों पर फुटकर दोहे मिलते हैं। आचार्य शुक्ल ने वीरगाथाकाल का नामकरण करते समय निम्नलिखित रचनाओं का उल्लेख किया है–

1. विजयपाल रासो–नल्लसिंहः संवत् 1355 2. हम्मीर रासो–शार्ङ्गधरः संवत् 1357
3. कीर्तिलता–विद्यापतिः संवत् 1460 4. कीर्तिपताका–विद्यापतिः संवत् 1460

उपर्युक्त रचनाएं अपभ्रंश भाषा में लिखी गई हैं। देशी भाषा में रचित पुस्तकों का ब्यौरा इस प्रकार है।

1. खुमान रासो–दलपति विजयः संवत् 1180-1205
2. बीसलदेव रासो–नरपति नाल्हः संवत् 1292
3. पृथ्वीराज रासो–चन्दवरदाईः संवत् 1225-1249
4. जयचन्द प्रकाश–भट्ट केदारः संवत् 1225
5. जय मयंकजस चन्द्रिका– मधुकरः संवत् 1240
6. परमाल रासो–आल्हा का मूल जगनिकः संवत् 1230
7. खुसरो की पहेलियाँ–अमीर खुसरोझः संवत् 1230
8. विद्यापति पदावली–विद्यापति, संवत् 1460

एक बात यह है कि शुक्ल जी ने जिन ग्रन्थों को धार्मिक कहकर छोड़ दिया था, उन्हें तथा कुछ नव्य प्राप्त ग्रंथों को भी अब साहित्य–परिधि में समाविष्ट कर लिया गया है। डा० श्याम सुंदर दास ने अपने सुप्रसिद्ध ग्रंथ 'हिंदी भाषा और साहित्य' के 'साहित्य' भाग में काल–विभाजन का अद्भुत मार्ग अपनाया है। इन्होंने काल–विभाजन तो शुक्ल के अनुसार ही किया है, परन्तु विवेचन करते समय यह मौलिकता दिखायी है कि हिंदी साहित्य की प्रत्येक प्रधान प्रवृति का विकास एवं इतिहास–आदिकाल से लेकर आधुनिक काल तक था एक साथ प्रस्तुत कर दिया है। पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी ने सम्पूर्ण हिंदी साहित्य के इतिहास को बीज–वपन, अंकुरोद्भव तथा पत्रोद्गम काल के नाम से तीन भागों में विभक्त किया है। परन्तु यह नाम समीचीन मालूम नहीं पड़ता है। साहित्यिक प्रवृत्तियों की दृष्टि से इसे उक्त नाम से पुकारना असंगत है, क्योंकि इस काल में अपने पूर्ववर्ती साहित्य की सभी काव्य रूढ़ियों और परम्पराओं का भी उद्भव हुआ, जो अपने समुचित विकसित रूप में है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने प्रस्तुत काल के साहित्य को अन्तर्विरोधों का साहित्य कहा है, किन्तु घूम फिर कर उन्होंने इस काल को आदिकाल के नाम से पुकारा है। परन्तु आचार्य द्विवेदी ने यह भी स्वीकार किया है कि 'आदिकाल' से आने वाला आदि शब्द सबसे अधिक खतरनाक है। उन्होंने लिखा है, "वस्तुतः हिन्दी का आदिकाल शब्द एक प्रकार की भ्रामक धारणा की सृष्टि करता है और श्रोता के चित्त में यह भाव पैदा करता है कि यह काल कोई आदिम मनोभापन्न, परंपराविनिर्मुक्त, काव्य–रूढियों से अछूते साहित्य का काल है।" यह ठीक बात नहीं है क्योंकि यह काल बहुत अधिक परम्परा प्रेमी, रूढ़िग्रस्त, सजग और सचेत कवियों का काल है।

(ख) आदिकाल अथवा वीरगाथाकाल के नामकरण

हिंदी साहित्य में वीरगाथा काल अथवा आदिकाल के नामकरण तथा काल–विभाजन को लेकर विद्वानों में काफी मत–भेद पाया जाता है। शुक्ल जी ने पहले मिश्र बन्धुओं के आदिकाल को आरम्भिक काल के दो उपखण्डों पूर्व तथा उत्तर में, विभाजित करते हुए इसकी समय–सीमा संवत् 700 से 1343 तथा सवत् 1344 से 1444 निर्धारित की थी। इसमें संशोधन करके आचार्य शुक्ल ने इस काल को समयावधि के आधार पर आदिकाल तथा प्रवृतियों की अधिकता के आधार पर 'वीरगाथाकाल' कहा था तथा इस काल की सीमा रेखा संवत् 1050 वि० से 1375 वि० तक मानी है। शुक्ल ने जिस उपलब्ध साहित्यिक सामग्री के आधार पर प्रवृत्तिमूलक नामकरण तथा काल–विभाजन किया, उसमें अधिकांश कृतियाँ दो प्रकार की भाषाओं में लिखी मिलती है। एक तो अपभ्रंश भाषा की तथा दूसरी देशी भाषा की है।

हिंदी साहित्य काल–विभाजन, सीमा निर्धारण और नामकरण को लेकर विद्वानों में काफी खिंचा–तानी रही है। हिंदी साहित्य के काल–विभाजन तथा नामकरण में किसी ने केवल 'काव्य–प्रवृत्तियों' को देखा है, तो किसी ने उसके निरन्तर होते रहने वाले 'प्रवाह' को। किसी की दृष्टि 'प्रधान रस' और 'युग–धर्म' पर टिकी है, किसी ने भाषा को अपनाया तो किसी ने युग–प्रभाव को। हिंदी साहित्य के इतिहास के अन्तर्गत मानी जाने वाली वार्ता–रचनाओं और प्रथम इतिहास गार्सा–द–तासी के इतिहास में इस बात का उल्लेख ही नहीं किया। जार्ज ग्रियर्सन जिन्होंने अपने समय के हिंदी साहित्य के इतिहास को 12 अध्यायों में बाँटा है और कुछ की कालावधि भी दी है चारणकाल 700-1400 ई०, ब्रज का कृष्णकाव्य 1500-1600 ई०, रीतिकाल 1580-1692 ई०, तुलसीदास के अन्य परवर्ती काव्य 1600-1700 ई० आदि। निःसन्देह ये सभी शीर्षक निबंधात्मक हैं। दूसरे इनका कोई सुनिश्चित आकार भी नहीं है। ये किसी भी काल–विशेष का प्रतिनिधित्व नहीं करते। कुछ शीर्षक एकदम कालावधि शून्य हैं, काल विशेष का सम्यक् प्रतिनिधित्व नहीं करते। जैसे–मलिक मुहम्मद जायसी का प्रेम काव्य, तुलसीदास तथा विविध अज्ञात कवि, तो कुछ एकदम काल–नाम पर ही हैं। हिन्दी साहित्य का सम्भवतः सर्वाधिक बड़ा विभाजन और नामकरण करने वाले हैं– मिश्र बंधु। उन्होंने अपने ग्रंथ 'मिश्र बंधु विनोद' में समस्त हिंदी साहित्य के 6 काल बताएं हैं–

1. प्रारम्भिक काल संवत् 700-1444 ई०
2. माध्यमिक काल संवत् 1445-1680 ई०
3. अलंकृत काल संवत् 1681-1889 ई०
4. अज्ञातकाल
5. परिवर्तनकाल संवत् 1890-1925 ई०
6. वर्तमान काल संवत् 1926 ई० से–

उपर्युक्त भेदों में से भी उन्होंने प्रत्येक काल के कई उपभेद किए है, वह भी विविध आधारों पर। निःसन्देह निश्चित आधारों का अभाव, असंगत मानदण्डों का असंगत प्रयोग, पुनरावृर्ति आदि दोषों से भरपूर उपर्युक्त विभाजन एकदम अधकचरा और अधूरा बनकर रहा

गया है। इसी प्रकार के असफल विभाजन और नामकरण 'श्री रामनेरश त्रिपाठी, वियोगीहरि' आदि ने किए है।

डा० गणपति चन्द्र गुप्त ने हिन्दी साहित्य का सूक्ष्म एवं गहन अध्ययन कर नवीन तथा वैज्ञानिक ढंग से हिन्दी साहित्य का काल–विभाजन किया है

1. प्रारम्भिक काल–सन् 1184-1350 ई०
2. पूर्व--मध्यकाल– सन् 1350-1600 ई०
3. उत्तर मध्यकाल–सन् 1600-1857 ई०
4. आधुनिक काल–सन् 1857- से अब तक

डा० गणपति चन्द्र गुप्त का काल–विभाजन यद्यपि स्पष्ट और व्यापक है, परन्तु यह भ्रमित करने वाला प्रतीत होता है, क्योंकि उन्होने आदिकाल में दो परंपराएँ प्रतिपादित की हैं– (1)धार्मिक रास–काव्य परंपरा तथा (2) संत काव्य परंपरा और मध्यकाल में ११ परंपराएँ–

1. धर्माश्रय में
   - (i) संत–काव्य परम्परा
   - (ii) पौराणिक रीति–परम्परा
   - (iii) पौराणिक प्रबंध–काव्य परम्परा
   - (iv) रसिक भक्ति–काव्य परम्परा
2. राज्याश्रय में
   - (v) मैथिली गीति परम्परा
   - (vi) ऐतिहासिक रास–काव्य परम्परा
   - (vii) ऐतिहासिक मुक्तक परम्परा
   - (viii) ऐतिहासिक--चरित्र काव्य परम्परा
   - (ix) शास्त्रीय मुक्तक परम्परा
3. लोकाश्रय में
   - (x). रोमांटिक कथा–काव्य परम्परा
   - (xi) स्वच्छंद प्रेम–काव्य परम्परा

आधुनिक काल को उन्होंने पाँच भागों में विभक्त किया है–

1. भारतेन्दु युग–सन् 1857-1900 ई०
2. द्विवेदी युग–सन् 1900-1920 ई०
3. छायावादी युग–सन् 1920-1937 ई०
4. प्रगतिवाद युग–सन् 1937-1945 ई०
5. प्रयोग युग–सन् 1945-1965 ई०

डा० नगेन्द्र ने समन्वयात्मक दृष्टिकोण अपनाते हुए तथा ऐतिहासिक कालक्रम व साहित्यिक विद्या दोनों का आधार ग्रहण करते हुए हिंदी साहित्य का काल--विभाजन एवं नामकरण इस प्रकार किया है–

1. आदिकाल–सन् 650 से 1350 ई०
2. भक्तिकाल–सन् 1350 से 1650 ई०
3. रीतिकाल–सन् 1650 से 1850 ई०
4. आधुनिक काल–सन् 1850 ई० से अब तक
1. पुनर्जागरण काल (भारतेन्दु काल)–सन् 1857-1900 ई०

2. जागरण सुधारकाल (द्विवेदी काल)–सन् 1900-1918 ई० 3. छायावाद काल–सन् 1918-1938 ई०

4. छायावादोत्तर काल:

(i) प्रगति–प्रयोगकाल (सन् 1938-1953) (ii) नवलेखन–काल (सन् 1953 अब तक)

डा० नगेन्द्र का काल–विभाजन आचार्य शुक्ल और डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी के अनुसार ही रहा है। अन्तर केवल इतना है कि डा० नगेन्द्र ने आदिकाल का प्रारम्भ सातवीं शती के मध्य से माना है। जबकि शुक्ल ने 1050 ई० से तथा आचार्य द्विवेदी ने 10 वीं शती से विभिन्न विद्वानों के विचारों का मंथन करने के पश्चात् हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि हिंदी साहित्य के काल विभाजन के विषय में विद्वानों में काफी मतभेद रहा है। अब तक की प्राप्त सामग्री के आधार पर कहा जा सकता है कि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी तथा डा० नगेन्द्र का काल–विभाजन अधिक स्पष्ट, वैज्ञानिक और सुव्यवस्थित रहा है। इन तीनों के समन्वयात्मक रूप को ही हमें स्वीकार करना चाहिए। अतः हिंदी साहित्य के इतिहास को निम्नलिखित चार भागों में विभक्त किया जा सकता है। विद्वानों ने भी इस काल विभाजन को उपयुक्त माना है।

1. आदिकाल–सवंत् 1050 से 1375 वि० 2. भक्तिकाल–सवंत् 1375 से 1700 वि०

3. रीतिकाल–सवंत् 1700 से 1900 वि० 4. आधुनिककाल–सवंत् 1900 से अब तक

अनेक विद्वानों ने हिंदी साहित्येतिहास के अन्तर्गत हिंदी साहित्य का काल–विभाजन एवं नामकरण किया है, लेकिन हिंदी साहित्य का वास्तविक काल–विभाजन एवं नामकरण करने वालों में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का नाम ही प्रमुख रहा है। आधुनिक काल में साहित्य की नई–नई प्रवृत्तियाँ विकसित–वर्धित हो रही है; साथ ही अनेकानेक प्राचीन ग्रन्थ भी खोजे जा रहे है। इस प्रकार आज भी विद्वानों के बीच इस नामकरण की आवश्यकता बनी हुई है।

अध्याय – 2

हिंदी साहित्य का आदिकाल

4. नामकरण और सीमा

नामकरण

हिंदी साहित्य के इतिहास के विवादास्पद प्रसंगों में एक हिंदी साहित्य के आदिकाल का भी प्रसंग रहा है। हिंदी साहित्य के इतिहास के अनेक विद्वान लेखकों ने इस संबंध में अपने–अपने मत प्रस्तुत किए हैं।

हिंदी साहित्य के विधिवत् इतिहास लेखन से पूर्व 'भक्तमाल' 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' 'दो सौ वैष्णव' की वार्ता' आदि कतिपय कविवृत संग्रह दो लिखे गए जिनमें काल–विभाजन और नामकरण की खोज की ओर कोई दृष्टि नहीं गई। कुछ विद्वान इसे वीरगाथात्मक रचनाओं की प्रधानता के कारण इसे वीरगाथाकाल कहने के पक्ष में है, लेकिन सिद्धों और नाथों की रचनाएँ इस परिधि में नहीं आ सकती। अतः 'वीरगाथाकाल' न कहकर कुछ ने इसे आदिकाल कहा है, तो किसी ने बीजवपन काल। शृंगार

1. **वीरगाथाकाल**: आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने प्रारम्भिक युग के साहित्य को दो कोटियों–अपभ्रंश और देशभाषा में बाँटा है। उनके मत में सिद्धों और योगियों की रचनाओं का जीवन की स्वाभाविक सरणियों, अनुभूतियों और दशाओं से कोई संबंध नहीं, वे साम्प्रदायिक शिक्षामात्र हैं। अतः शुद्ध साहित्य की कोटि में नहीं आती और जो साहित्य की कोटि में गिनी जा सकी हैं वे कुछ फुटकर रचनाएँ हैं, जिनसे कोई विशेष प्रवृत्ति स्पष्ट नहीं होती है। उनके मत में तत्कालीन साहित्यिक रचनाओं में से केवल 'खुसरो की पहेलियाँ', 'विद्यापति पदावली' तथा 'बीसलदेवरासो' को छोड़कर सभी रचनाएँ वीरगाथात्मक हैं। इस युग में राज्याश्रित कवि अपने आश्रयदाता राजा की वीरता का यशोगान तथा उन्हें युद्धों के लिए उकसाने का काम करते थे। इसलिए उन रचनाओं को राजकीय पुस्तकालयों में रखा जाता था। लेकिन बाद में साहित्य संबंधी जो खोज की गई उसके अनुसार शुक्ल ने जिन रचनाओं के आधार पर इस काल का नाम 'वीरगाथाकाल' रखा है, उनमें से अधिकतर बाद की रचनाएँ हैं और कुछ सूचनामात्र हैं। शुक्ल ने जिन बारह रचनाओं के आधार पर विवेच्य काल का नामकरण वीरगाथाकाल किया है, वे हैं–(i) विजयपाल रासो–नल्हसिंह, (ii) हम्मीर रासो–शार्ङ्गधर, (iii) कीर्तिलता–विद्यापति, (iv) कीर्तिपताका–विद्यापति, (v) खुमानरासो–दलपति विजय, (vi) बीसलदेवरासो–नरपति नाल्ह, (vii) पृथ्वीराज रासो–चन्दवरदाई, (viii) जयचन्द्र प्रकाश–भट्ट केदार, (ix) जयमंथक–जस–चन्द्रिका–मधुकर, (x) परमाल रासो–जगनिक, (xi) खुसरो की पहेलियाँ और (xii) विद्यापति की पदावली।

   इन रचनाओं में से अधिकतर रचनाएँ अप्रामाणिक एवं सूचना मात्र हैं। खुमानरासो को शुक्ल ने पुराना माना था जबकि मोतीलाल में नारिमा ने इसका रचना काल स० 1730 और 1760 के बीच का माना है। इसी प्रकार से 'बीसलदेव रासो' भी सन्देहास्पद है। शुक्ल ने भी इस ग्रंथ को कोई महत्त्व नहीं दिया।

   'पृथ्वीराज रासो' भी अप्रामाणिक रचना है। जगनिक काव्य प्रचलित गीतों के रूप में है, अतः इसे भी सूचना मात्र ही समझना चाहिए। 'हम्मीररासो' तथा भट्ट के द्वारा कृत 'जयचन्द्र प्रकाश' आदि रचनाएँ भी सूचना मात्र है। कहने का तात्पर्य यह है कि जिन ग्रन्थों के आधार पर इनका नाम 'वीरगाथाकाल' रखा गया, वे या तो सूचना मात्र हैं या बाद में लिखे हुए हैं। दूसरे, शुक्ल ने धार्मिक–साहित्य को उपदेशप्रधान मानकर साहित्य की कोटि में नहीं रखा, किन्तु जिस धार्मिक साहित्य में प्रेरक शक्ति हो और जो रचनाएँ मानव–मन को आन्दोलित करने में समर्थ हो उनका साहित्यिक महत्त्व नकारा नहीं जा सकता। इस दृष्टि से अपभ्रंश की कई रचनाएँ, जो धर्म–भावना से प्रेरित होकर लिखी गई हैं, निस्सन्देह उत्तमकाव्य हैं। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के मत में धार्मिक प्रेरणा या अध्यात्मिक उपदेश को काव्यत्व के लिए बाधक नहीं समझना चाहिए। धार्मिक होने से कोई रचना साहित्यिक कोटि से अलग नहीं की जा सकती। यदि ऐसा मानकर चला जाये तो तुलसी का 'मानस' और जायसी का 'पदमावत' भी साहित्य की सीमा में प्रविष्ट नहीं हो सकेंगे। 'भविष्यत कहा' धार्मिक कथा है, लेकिन इस जैसा सुन्दर काव्य उस युग में अन्यत्र कहीं नहीं मिलता है। संक्षेप में कहा जायेगा कि सभी धार्मिक पुस्तकों को साहित्य के इतिहास में से नहीं हटाया जा सकता है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने तत्कालीन उपलब्ध सामग्री के आधार पर ही नामकरण किया था। नवीनतम खोजों मे जो ग्रन्थ उपलब्ध हुए हैं, उनकी प्रवृत्तियों को भी नामकरण निर्धारित करते समय ध्यान में रखना होगा। मोतीलाल मेनारिया का मत रहा है कि जिन रचनाओं के आधार पर 'वीरगाथाकाल' नाम रखा गया है वे किसी विशेष प्रवृत्ति को स्पष्ट नहीं करते, बल्कि चारण–भाट आदि वर्ग विशेष की मनोवृत्ति को ही स्पष्ट करते हैं। यदि इनकी रचनाओं के आधार पर किसी काल का नाम 'वीरगाथाकाल' रखा जाए तो राजस्थान में आज भी वीरगाथाकाल ही है, क्योंकि ये लोग आज भी उत्साह से काम कर रहे हैं।

2. **अपभ्रंश काल**: चन्द्रधर शर्मा गुलेरी और धीरेन्द्र वर्मा ने हिन्दी साहित्य के आदिकाल को 'अपभ्रंश काल' की संज्ञा दी है। आदिकाल के साहित्य में अपभ्रंश भाषा की प्रधानता स्वीकारते हुए उन्होंने इस काल को 'अपभ्रंश काल' कहना अधिक समीचीन समझा है। भाषा के आधार पर साहित्य के इतिहास में काल–विभाजन उपयुक्त प्रतीत नहीं होता। साहित्य के किसी भी काल का नामकरण उस काल की साहित्यिक प्रवृत्तियों अथवा प्रतिपाद्य विषय के आधार पर उचित समझा जाता है। 'अपभ्रंश काल' यह नाम भ्रामक भी सिद्ध होता है क्योंकि इसमें श्रोता या पाठक का ध्यान हिंदी साहित्य की ओर न जाकर अपभ्रंश साहित्य की ओर आकृष्ट होता है। भाषा–शास्त्र की दृष्टि से भी अपभ्रंश और हिंदी दो अलग–अलग भाषाएं है। इसलिए पुरानी हिंदी को अपभ्रंश कहना भी उचित नहीं है।

3. **संधिकाल और चारण काल**: डा० रामकुमार वर्मा ने हिंदी साहित्य के इस प्रारंभिक काल को 'संधिकाल' और 'चारणकाल' इन दो नामों से अभिहित किया है। उनकी सम्मति में हिंदी भाषा का विकास अपभ्रंश से हुआ है किन्तु अपभ्रंश से एक पृथक भाषा के रूप में विकसित होने से पूर्व हिंदी भाषा एक ऐसी स्थिति में भी रही होगी जिसमें वह अपभ्रंश के प्रभावों से सर्वथा मुक्त न हो सकी होगी। अपभ्रंश भाषा के अंत और हिंदी भाषा के आरम्भ की इस स्थिति को स्पष्ट करने के लिए डा० वर्मा ने 'संधिकाल' की कल्पना की है। हिंदी साहित्य के जिस काल को आचार्य शुक्ल ने 'वीरगाथाकाल' कहा है, वहीं पर डा० वर्मा उसे 'चारण काल' कहना उपयुक्त समझते हैं।

4. **सिद्ध सामन्त काल**: विषय वस्तु की दृष्टि से महापण्डित राहुल सांस्कृत्यायन ने इस युग के लिए 'सिद्ध सामन्त युग' नाम प्रेषित किया है। प्रस्तुत नामकरण बहुत दूर तक तत्कालीन साहित्यिक प्रवृत्ति को स्पष्ट करता है। इस काल के साहित्य में सिद्धों द्वारा लिखा गया धार्मिक साहित्य ही प्रधान है। सामन्तकाल में 'सामन्त' शब्द से उस समय की राजनैतिक स्थिति का पता चलता है और अधिकांश चारण–जाति के कवियों की राजस्तुतिपरक रचनाओं के प्रेरणा स्रोत का भी पता चलता है। लेकिन इस 'सिद्ध सामन्त युग' में सभी धार्मिक और साम्प्रदायिक तथा लौकिक रचनाएँ नहीं आती। राहुल सांस्कृत्यायन अपभ्रंश और पुरानी हिन्दी को एक ही मानते हैं, साथ ही इस युग की रचनाओं को मराठी, उड़िया, बंगला आदि भाषाओं की सम्मिलित निधि स्वीकार करते हैं। इस प्रकार कहा जा सकता है कि 'सिद्ध–सामंत–युग' नाम भी साहित्य के लिए उपयुक्त नाम नहीं है।

5. **बीजवपन काल**: आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने इसे बीजवपन काल कहा है। तत्कालीन साहित्य को देखकर यह नाम भी युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता, क्योंकि उसमें पूर्ववर्ती सभी काव्य रूढ़ियों तथा परम्पराओं का सफलतापूर्वक निर्वाह हुआ है और उसके साथ कुछ नवीन प्रवृत्तियों का जन्म हुआ है।

6. **आदिकाल**: आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने इसका नाम 'आदिकाल' सुझाया है। इसे और अधिक स्पष्ट करते हुए कहा है–'वस्तुतः हिन्दी का 'आदिकाल' शब्द एक प्रकार की भ्रामक धारण की सृष्टि करता है और श्रोता के चित्त में यह भाव पैदा करता है कि यह काल कोई आदिम भावापन्न, परम्परा–विनिर्मुक्त, काव्यरूढ़ियों से अछूते साहित्य का काल है, यह बात ठीक नहीं है। यह काल बहुत अधिक परम्परा प्रेमी, रूढ़िग्रस्त और सजग–सचेत कवियों का काल है। वस्तुतः हिंदी साहित्य के आदिकाल के नामकरण का विषय अत्यन्त उलझा हुआ है। जब तक हिंदी की पूर्ण–सीमा निर्धारण नहीं की जाती और जब तक उपलब्ध साहित्य की प्रामाणिकता–अप्रामाणिकता के प्रश्न का समाधान नहीं हो पाता; तब तक किसी निश्चय पर पहुँचना सहज नहीं है। अन्त मे कहा जा सकता है कि किसी निश्चित मत के अभाव में प्रस्तुत काल का नामकरण 'आदिकाल' ही अधिक संगत प्रतीत होता है। यह नाम सर्वाधिक प्रचलित हो गया है।

आदिकाल सीमांकन: प्रस्तुत काल के साहित्य की पूर्वापर सीमा को निर्धारित करने का विचार भी कुछ कम विवादास्पद नहीं है। आचार्य शुक्ल ने इस काल का आरम्भ स० 1050 और अन्त संवत् 1375 (993 से 1318 ई०) माना है। महापण्डित राहुल सांस्कृत्यायन ने 8 वीं शती की अपभ्रंशों को पुरानी हिन्दी कह कर अपने सिद्ध सामन्त युग का आरम्भ इसी काल से मान लिया और इस काल

की अपर सीमा 13 वीं शती मानी। डा० ग्रियर्सन ने आदिकाल की अन्तिम सीमा 1400 ई० तक मानी है। मिश्रबंधुओ ने एतदर्थ 1389 ई० का वर्ष स्वीकार किया है। डा० रमाशंकर शुक्ल 'रसाल' इसे 1343 ई० तक ले गये हैं। अधिकांश इतिहासकार शुक्ल जी से सहमत हैं। यह ठीक है कि शुक्ल ने विद्यापति को आदिकाल के अन्तर्गत रखा है, पर विद्यापति का रचना काल 1375 ई० से 1418 ई० के मध्य माना जाता है और इस दृष्टि से आदिकाल की अन्तिम सीमा 1418 ई० निर्धारित की जा सकती है, किन्तु इसमें भी नहीं की। भक्तिकाल में जिन प्रवृत्तियों का विकास हुआ, उनकी भूमिका विद्यापति के पूर्व ही पूर्ण हो चुकी थी। अतः विद्यापति को भक्तिकाल में रखकर चौदहवीं शताब्दी के मध्य को आदिकाल की अन्तिम सीमा मानना ही समीचीन होगा। दूसरे शब्दों में, शुक्ल द्वारा निर्धारित 1318 ई० के बाद भी तीन दशाब्द तक आदिकालीन साहित्य सामग्री का प्रसार माना जा सकता है। अतः हिंदी साहित्य के इतिहास के सीमांकन को हम निम्नलिखित रूपों में बांट सकते हैं–

1. आदिकाल सन् 1000-1400 ई०
2. मध्यकाल सन् 1400-1850 ई०
   (i) पूर्व मध्यकाल (भक्ति साहित्य) सन् 1400-1650 ई० (ii) उत्तर मध्यकाल (रीतिकाल) सन् 1650-1850 ई०
3. आधुनिक काल सन् 1850 से अब तक।
   (i) हिंदी गद्य (आरम्भ) सन् 1850-1857 ई० (ii) भारतेन्दु काल (पुनर्जागरण) सन् 1857-1900 ई०
   (iii) द्विवेदी काल–जागरण–सुधारकाल सन् 1900-1918 ई०
4. छायावाद काल सन् 1918-1936 ई०
5. छायावादोत्तर काल सन् 1936 से अब तक
   (i) प्रगतिवाद सन् 1936 से 1942 ई० तक (ii) प्रयोगवाद नयी कविता सन् 1942-1953 ई०
   (iii) नवलेखन काल सन् 1953 से अब तक

5. आदिकालीन परिवेश

प्रत्येक काल के परिवेश की अपनी पहचान होती है। समय परिवर्तन के साथ परिवेश में परिवर्तन होना स्वाभाविक है। आदिकालीन परिवेश की कुछ प्रमुख विशेषताएँ रेखांकन योग्य हैं–

5.1 ऐतिहासिक परिवेश

भारतीय इतिहास का यह युग राजनीतिक दृष्टि से एवं ऐतिहासिक दृष्टि से गृह–कलह, पराजय एवं अव्यवस्था कार काल है। एक ओर तो इस युग का क्षितिज विदेशी आक्रमणों के भयावह मेघों में आच्छादित रहा और दूसरी ओर रजवाड़ों की पारस्परिक भीतरी कलह घुन की तरह इसे खोखला करती रही। हर्षवर्द्धन की मृत्यु के पश्चात् भारत की संगठित सत्ता चूर–चूर हो गई तथा भारत मे एक विशाल मुस्लिम साम्राज्य की स्थापना हो गई। आठवीं शताब्दी से लेकर पन्द्रहवीं शताब्दी तक के भारतीय इतिहास की राजनीतिक परिस्थिति हिन्दू सत्ता के विकास की कहानी है।

ग्यारहवीं–बारहवीं शताब्दी में दिल्ली में तोमर, अजमेर में चौहान और कन्नौज मे गाहडवालों के शक्तिशाली राज्य थे। 1150 में अजमेर के बीसलदेव चौहान ने तोमरों से दिल्ली से हिमालय तक अपना प्रभुत्व कायम कर लिया। दूसरी तरफ यवन–शक्तियों के आक्रमण का प्रभाव मुख्यतः पश्चिम एवम् मध्यप्रदेश पर ही पड़ा था। इस क्षेत्र की जनता युद्धों तथ अधिकारियों के अत्याचारों से पीड़ित थी। इसी क्षेत्र में हिंदी भाषा का विकास हो रहा था। इस प्रकार इस काल का समस्त हिन्दी साहित्य आक्रमण तथा युद्ध के प्रभावों की मनः स्थिति का परिणाम रहा है।

आदिकालीन युग में चारों तरफ युद्धों का ही बोलबाला था इसलिए जीवन में कहीं भी सन्तुलन तथा शान्ति के दर्शन नहीं होते। इसी समय मोहम्मद गौरी ने भारत जीतने की लालसा से भारत पर अनेक आक्रमण किए। पृथ्वीराज चौहान उस समय अजमेर का शक्तिशाली राजा था। परन्तु विदेशी आक्रमण के प्रति विशेष जागरूक नहीं था। परिणामस्वरूप कन्नौज के राजा जयचन्द के षडयन्त्र में फँस कर पृथ्वीराज चौहान मोहम्मद गौरी के हाथों पराजित हुआ और मारा गया। जयचन्द तथा परमदिदेव आदि शासकों की पारस्परिक लड़ाइयाँ अन्तहीन कथाएँ बनती चली गई और अन्त में दोनों का पतन हुआ। दिल्ली में तुर्क सल्तनत की स्थापना हुई और धीरे–धीरे उसका विकास तथा विस्तार होता चला गया। अराजकता, गृह–कलह, विद्रोह, आक्रमण और युद्ध के वातावरण में यदि एक कवि आध्यात्मिक जीवन की बातें करता था, तो दूसरा मरते–मरते भी जीवन रस भोगना चाहता था और एक कवि ऐसा भी था जो तलवार के गीत गाकर गर्व से जीना चाहता था। यद्यपि इस युग में विरोध करने वाले भी सर्वत्र थे परन्तु फिर भी मुस्लिम ध्वज प्रायः समस्त उत्तरी भारत में फहराने लगा।

आदिकाल के इस युद्ध प्रभावित जीवन में कहीं भी संन्तुलन नहीं था। अराजकता, गृह–कलह, विद्रोह, आक्रमण और युद्ध के वातावरण में सर्वत्र मारकाट का तांडव फैल चुका था। इसी काल की विचित्र देन है, जिसके फलस्वरूप यदि एक ओर स्त्री–भोग, हठयोग से लेकर आध्यात्मिक पलायन और उपदेशों तक का साहित्य एक ओर लिखा गया, तो दूसरी ओर ईश्वर की लोक–कल्याणकारी सत्ता में विश्वास करने, लड़ते–लड़ते जीने और संसार को सरस बनाने की भावना भी साहित्य रचना के मूल में सन्निहित हुई।

5.2 सामाजिक परिवेश

आदिकालीन राजनीतिक तथा धार्मिक परिस्थितियों का देश की सामाजिक परिस्थितियों पर भी बहुत गहरा प्रभाव पड़ रहा था। जाति–व्यवस्था गुण और कर्म के आधार पर न होकर वर्ण के आधार पर निरूपित की गयी। एक जाति अनेक उपजातियों में विभक्त हो गई। अल्बरूनी ने कहा है "उन्हें (हिन्दुओं को) इस बात की इच्छा नहीं होती कि जो वस्तु एक बार भ्रष्ट हो गयी है, उसे शुद्ध करके फिर ले लें। उस समय के रूढ़िग्रस्त धर्म के समान समाज भी रूढ़िग्रस्त हो चुका था। नारियाँ भी शौर्य–प्रदर्शन में पुरूषों से कम न थी। जौहर उनके आत्म–बलिदान और शौर्य का प्रतीक था। राजाओं का जीवन विलास भरा था। उनका अधिकांश समय उपपत्नियों के साथ रंग रंलियों मे व्यतीत होता था। राजकुमारों को बचपन से ही राजनीति, तर्कशास्त्र, काव्यशास्त्र, नाटक, गणितशास्त्र एवं कामशास्त्र की शिक्षा दी जाती थी। नारियों के संबंध में तत्कालीन समाज की धारणा अच्छी नहीं थी। उसे केवल भोग और विलास की सामग्री मात्र समझा गया। हिंदी के कवियों को जनता की इस स्थिति के अनुसार काव्य–रचना की सामग्री जुटानी पड़ी।

जिस युग में धर्म और राजनीति की दुर्दशा हो उसमें उच्च सामाजिकता की आशा नहीं की जा सकती है। जनता शासन तथा धर्म दोनों ओर से निराश्रित होती जा रही थी। जनता भय तथा निरक्षरता के कारण ईश्वर की ओर दौड़ती थी, परन्तु सर्वत्र भ्रम और असहाय की ही स्थिति मिलती थी। जाँति–पाति के बन्धन मजबूत हो चले थे। एक जाति की अनेक उपजातियाँ होने लगी। छुआछूत के नियम भी सख्त हो गए थे। उच्च वर्ग के लोग भोग करने के लिए तथा निम्न वर्ग के लोग जैसे काम करने के लिए ही पैदा हुए थे। नारी तो केवल भोग की वस्तु मात्र रह गई थी। उसे खरीदा और बेचा भी जाने लगा था। सामान्यजन के लिए सुरक्षा व शिक्षा की कोई व्यवस्था ही नहीं थी। सती प्रथा भी उस समय के समाज का एक भयंकर अभिशाप थी। अनेक प्रकार के अन्धविश्वासों ने इस समाज को जकड़ लिया था। उस समय सर्वत्र वीरता और वंश–कुलीनता का बोलबाला था। वीरता और आत्मबलिदान राजपूत की विशेषता थी। स्वयंवर प्रथा उस युग की एक खास पहचान थी। राजपूत दृढ़–प्रतिज्ञे, स्वामिभक्त, ईमानदार तथा कूटनीतिज्ञ और दूरदर्शी थे, परन्तु उनमें भोग–विलास के प्रति भी खूब आसक्ति थी। राजाओं का जीवन भी विलासप्रिय था। नृपति वर्ग का अधिकांश समय अन्तपुर में महिषियों, उपपत्तियों तथा रक्षिताओं के साथ रंग–रलियों मे बीतता था। राजा बहुपत्नी थे।

प्रसिद्ध धर्म–शास्त्रीय ग्रंथ 'मिताक्षरा' से तत्कालीन पारिवारिक व्यवस्था का अच्छा परिचय प्राप्त होता है। परिवार सम्मिलित, पितसत्तात्मक और पितृस्थानीय था और उसमें सदस्यों की संख्या पर्याप्त रहती थी। उनके धार्मिक, सामाजिक और आर्थिक कर्त्तव्य निर्धारित कर दिये जाते थे। स्मृतियों मे वर्णित ब्राह्म, दैव, आर्ष, प्रजापत्य, गान्धर्व, आसुर, पिशाच और राक्षक ये आठ प्रकार के विवाह सैद्धान्तिक दृष्टि से मान्य थे। किन्तु व्यावहारिक दृष्टि से ब्राह्म विवाह का ही अधिक प्रचार था। क्षत्रियों में राक्षक और गांधर्व विवाह अवश्य प्रचलित थे। निम्न वर्णों में आसुर विवाह की प्रथा थी। स्वयंवर की प्रथा राजपूतों तक ही सीमित रह गयी थी। मुसलमानी आक्रमणों के पश्चात् बाल–विवाह भी प्रचलित हो गया था। विलासिता की प्रवृत्ति बढ़ने और यवन, शक, हूणादि के जिनमें स्त्री का बहुत ऊँचा स्थान नहीं था, सम्पर्क में आने के कारण बाल–विवाह की प्रथा को बल मिला। विधवा–विवाह करना निषेध था। समाज के विभिन्न वर्गों के विविध प्रकार के उत्सवों और वस्त्राभूषणों के प्रति प्रेम प्रचलित था। आखेट, मल्ल–युद्ध, घुड़सवारी, द्युत–क्रीड़ा, संगीत, नृत्य आदि मनोरंजन के साधन थे और कवियों का विशेष आदर था। क्षत्रियों में मदिरा–पान, भाँग और अफीम खाने का प्रचलन था। इस काल का जीवन–क्रम उस समय की वस्तु और मूर्ति–कलाओं मे भली–भाँति प्रतिबिम्बित होता है। जैन मत के गिरिनार तथा आबू, वैष्णव एवं शाक्तों के खजुराहों, भुवनेश्वर और पुरी के मन्दिरों की अद्भुत कला के माध्यम से तत्कालीन जीवन की विविधतापूर्वक प्रेरणा स्पष्ट हो जाती है।

5.3 सांस्कृतिक परिवेश

हिंदी साहित्य में आदिकाल का आरम्भ उस समय हुआ जब भारतीय संस्कृति अपने चरमोत्कर्ष पर थी। आदिकाल हिन्दू–मुस्लिम संस्कृतियों के परस्पर मिलन का काल है। हर्षवर्द्धन के समय हिन्दू संस्कृति प्रत्येक क्षेत्र मे उन्नति के शिखर पर थी। लोगों के आपसी भेद–भाव समाप्त हो गए थे तथा स्वाधीनता व देशभक्ति की भावना को प्रोत्साहन मिल रहा था। संगीत, चित्रमूर्ति एवं भवन–निर्माण इत्यादि कलाओं में ज्यादा रूचि दिखाई देने लगी थी, विशेष रूप से मन्दिरों व मस्जिदों का निर्माण धार्मिक सद्भावना का द्योतक था। भुवनेश्वर, पुरी, खजुराहों, सोमनाथ, बेलोर काँची, तंजौर आदि स्थानों पर अनेक भव्य मन्दिरों का निर्माण आदिकाल के आरम्भ के समय ही बनाए गए थे। आबू का जैन मन्दिर ग्यारहवीं शताब्दी की महत्त्वपूर्ण देन है जो कि भारतीय स्थापत्य का बेमिसाल नमूना है। अरब इतिहासकार अलबरूनी तथा महमूद गजनवी इन मन्दिरों की भव्यता, विशालता तथा भारतीय कलाओं में धार्मिक भावनाओं की ऐसी व्यापक अभिव्यक्ति को देखकर चकित रह गए थे। किन्तु देश के भाग्य की विड़म्बना यह रही है कि शताब्दियों से श्रेष्ठता की साधना में तल्लीन महमूद गजनवी जैसे आक्रान्ताओं की विषयाकांक्षा का यह कोप–भाजन बन गया और शताब्दियों तक उस कोप से मुक्ति नहीं मिली।

अरब के देशों में आठवीं–नवीं शताब्दी में सूफी मत का उदय हो चुका था किन्तु आदिकाल के अन्त तक भी उसके उदार स्वरूप का प्रवेश तक न हो सका। क्योंकि भारत में जो आक्रान्ता आए, वे उदार भावनाओं के समर्थक नहीं थे। इसलिए इस्लाम संस्कृति का पोषक तत्त्व न बन सका। परिणामस्वरूप दो संस्कृतियाँ एक–दूसरे के सामने मानसिक तनाव की स्थिति में खड़ी एक–दूसरे को शंका की दृष्टि से देखती रहीं।

आदिकाल में भारतीय संस्कृति का जो स्वरूप मिलता है, वह परम्परागत गौरव से रहित तथा मुस्लिम संस्कृति के गहरे प्रभाव से निर्मित है। इस काल में हिन्दू–संस्कृति धीरे–धीरे मुस्लिम संस्कृति से प्रभावित होने लगी। भारत के उत्सव, मेलों, त्यौहारों, वेश–भूषा विवाह तथा मनोरंजन आदि पर मुस्लिम रंग मिलने लगा। यहाँ के गायन, वादन तथा नृत्य पर मुस्लिम छाप स्पष्ट है। भारतीय संगीत में सारंगी, तबला तथा अलगोजा जैसे वाधों का समावेश इसका स्पष्ट प्रमाण है। चित्रकला के क्षेत्र में इस काल में जो थोड़ा–बहुत कार्य हुआ, उस पर भी मुस्लिम प्रभाव पाया जाता है। मूर्तिकला को छोड़कर अन्य भारतीय ललित कलाओं में मुस्लिम कला की कलम गहरे रूप में लगी।

5.4 साहित्यिक परिवेश

यह युग पारस्परिक कलह एवं बाह्य संघर्षों का युग था पर संस्कृत साहित्य की रचना अबाध होती रही और ज्योतिष, दर्शन एवं स्मृति आदि विषयों पर टीकाएँ लिखी जाती रहीं। डा० रामगोपाल शर्मा ने लिखा है, कि इस काल में साहित्य–रचना की तीन धारायें बह रही थी। प्रथम संस्कृत साहित्य की थी, जो एक परम्परा के साथ विकसित होती जा रही थी। दूसरी धारा का साहित्य प्राकृत एवं अपभ्रंश में लिखा जा रहा था। तीसरी धारा हिन्दी भाषा में लिखे जाने वाले साहित्य की थी। आनन्दवर्धन, अभिनवगुप्त, कुन्तक, क्षेमेन्द्र, भोजदेव, राजशेखर, तथा जयदेव इसी युग की देन हैं। प्राकृत तथा अपभ्रंश के कवि धर्म–प्रचार में लगे हुए थे, साहित्य तत्त्व उनकी रचनाओं का सहायक अंग था। हिंदी इस काल की ऐसी भाषा थी जिसमें तत्कालीन परिस्थितियों की प्रतिक्रिया प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप में मुखर हो रही थी।

ग्यारहवीं शती उत्तरार्द्ध साहित्य की दृष्टि से विकासशील था। कर्ण के दरबार में अपभ्रंश कवियों का सम्मान था। जैन–भण्डारों में सुरक्षित ग्रन्थों की भाषा परिनिष्ठित अपभ्रंश के निकट की है। उदाहरणार्थ, 'प्राकृत पैंगलम्' की कई कविताओं में कर्ण की प्रशंसा की गई है। ये कविताएं अपभ्रंश की हैं जो हिंदी के चारण कवियों की भाषा का पूर्णरूप है। इन कविताओं की भाषा सुथरी एवं साफ है। इस काल में दो श्रेणियों की रचनाएँ अपभ्रंश और देश्यामिश्रित रचनाएँ मिलती हैं। वे इस युग की सामाजिक, राजनीतिक और धार्मिक अवस्था के अनुरूप ही है।

इस काल में व्रजयानी और सहजयानी सिद्धों, नांथपंथी योगियों, जैनधर्म के अनुयायी संत एवं मुनियों की रचनाएँ धार्मिक उपदेशपूर्ण शैली में मिलती हैं। वीरता तथा शृंगार का चित्रण करने वाले चारणों, भाटों आदि की रचनाएँ भी पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध हैं।

6. आदि कालीन साहित्यः वर्गीकरण (सिद्ध साहित्य, जैन साहित्य, नाथ साहित्य, रासो साहित्य)

6.1 सिद्ध साहित्य

बौद्धमत को मानने वाले ईश्वर की भक्ति का विरोध करते रहे, लेकिन धीरे–धीरे बुद्ध को भगवान के रूप में पूजने लगे। इस धर्म मे जब तान्त्रिक सिद्धों का प्रभाव बहुत बढ़ गया, तो यह धर्म अपने वास्तविक रूप और दिशा से एकदम बदल गया। आठवीं शताब्दी मे तान्त्रिक सिद्धों का प्रभाव बहुत अधिक बढ़ गया था। इन्होंने बौद्ध धर्म के त्याग और संयम के स्थान पर भोग विलास को ही जीवन

का लक्ष्य मान लिया। शराब पीना और नीच वर्ग की स्त्रियों को योगिनी कहकर उनसे भोग करना आवश्यक समझा जाने लगा। मांस, मत्स्य, मदिरा, मैथुन और मुद्रा, इन पाँच मकारों का सेवन इनकी साधना का प्रमुख अंग था। सिद्धों के चमत्कारों का नारी–समाज पर इतना प्रभाव पड़ा कि स्त्रियाँ लोक–लाज, कुल मर्यादा को छोड़कर विपरीत दिशा में जाने लगी। धर्म के नाम पर समाज में वासना अबाध गति से फूट कर बाहर निकल पड़ी। इन क्रियाओं का प्रयोग भी निर्वाण–प्राप्ति समझा जाने लगा। मन की निर्विकार और निश्चल स्थितियों के लिए 'महासुख' और 'सहजयान' की प्रधानता दी जाने लगी। ईश्वर से अद्वैत सम्बन्ध जोड़ने के लिए सिद्धि के लिए 'सरहप्पा' नाम के सिद्ध ने लिखा है कि 'खाते–पीते' सुख से रमण करते हुए ही जीवन व्यतीत करो।'

इन अनाचारी और वाममार्गी सिद्धों के मार्ग में पण्डित लोग और उनके शास्त्र बाधक थे, इसलिए अपने चेलों और चेलियों को ये उनके विरूद्ध शिक्षा देते थे। ये लोग 'निर्वाण साधना' या 'महासुख' का वर्णन बड़ी अश्लील वाणी में कर गए हैं। अपनी इस 'महासुख' अवस्था को ये 'समरस' अवस्था भी कहते थे और अपनी खुली भाषा में आध्यात्मिक पुट देकर उसकी व्याख्या करते थे। इन सहजमानी सिद्धों की संख्या 84 मानी गई। इनमें कुछ संस्कृत के भी अच्छे विद्वान थे। सरहप्पा, शबरप्पा, लुइप्पा, होम्मिप्पा और कण्हप्पा आदि सिद्ध इनमें उल्लेखनीय है।

साहित्यिक योगदान की दृष्टि से सिद्धों का साहित्य दोहा या दूहा नामक मुक्तक रूप में मिलता है। सिद्धों की नीति, रीति, शृंगार एवं धर्म संबंधी मान्यताएँ हिंदी के आदि आदिकाल को तो प्रभावित नहीं करती पर संत साहित्य को अवश्य ही प्रभावित करती है, जिसे सिद्धों का योगदान माना जा सकता है।

कुछ सिद्धों का साहित्यिक परिचय

1. **सरहप्पा**: सिद्धों में सबसे अधिक प्रसिद्ध तो 'सरहप्पा' (सरोज वज्र) ही माने जाते हैं जिनका समय संवत् 690 वि० स्वीकार किया जाता है। 'सरहप्पा' की भाषा को 'संध्या भाषा' माना गया है जो कुछ स्पष्ट तथा कुछ अस्पष्ट होने के करण तथा पुरानी हिंदी तथा अपभ्रंश के बीच की होने के कारण भी संध्या भाषा कही गई है। सरहप्पा ने पंडितों को फटकारते हुए तथा अन्त: साधना पर जोर देते हुए लिखा है–

"पंडिअ सअल सत्त बक्खाणइ। देहहि बुद्ध बसंत न जाणइ।
अमणागमण ण तेन विखंडिअ। तोविणिलज्ज मणइ हउँ पंडिअ।" **सरहप्पा**

अर्थात पंडित सकल तत्त्वों की व्याख्या करता है परन्तु वह यह नहीं जानता कि बुद्ध तत्त्व (ज्ञान) तो शरीर में रहता है। वह पंडित जीवन मरण से मुक्ति पाने में असमर्थ है फिर भी वह निर्लज्ज अपने को पंडित कहता है। इस दोहे का जो भावार्थ है वैसी ही फटकार कबीरदास भी पंडितों को सुनाते है। सरहप्पा का एक और दोहा शरीर में ही वह स्थान बताता है जो मन का विश्राम स्थल है।

"जहि मन पवन न संचरइ, रवि ससि नाहि पवेस।
तहि बट चित्त विसाम करू, सरहे कहिअ उवेस।।" **सरहप्पा**

अर्थात जिस मन में पवन संचारित नहीं होती और जहाँ रवि तथा शशि भी प्रवेश नहीं पा सकते, वहाँ बैठकर चित्त विश्राम करता है। सरहप्पा यही उपदेश देता है।

2. **लूहिया** (संवत् 830 के लगभग): सिद्ध लूइया के 'चर्यागीत' तथा दोहों में भी संध्या भाषा का प्रयोग हुआ है। भाव की दृष्टि से बौद्ध धर्म की मान्यताओं को ही अपने स्वार्थहित घुमा–फिरा कर बताया गया है। जैसे

"काआ तरुवर पंच बिड़ाल। चंचल चीए पइठो काल।

दिढ करिअ महा सुइ परिणाम। लूइ भणइ गुरू पुच्छिअ जाण।।" **- लूइया**

इस दोहे का रहस्यात्मक अर्थ है। इस प्रकार की रहस्यात्मक प्रवृत्ति परवर्ती सन्त–साहित्य को प्रभावित करती है। इन पक्तियों को सरलार्थ है कि काया रूपी वृक्ष को पंच बिडाल नष्ट कर रहे हैं। चंचल चित्त मृत्यु की ओर ले जाने वाला है। इसका परिणाम महाशून्य है। लूइया कहता है कि इसका रहस्य गुरू से जानिए।

3. **कण्हप्पा**: (कृष्णापाद संवत् 900 वि० के उपरान्त) सिद्ध साहित्य में कण्हपा की बानी को भी पर्याप्त महत्त्व प्राप्त है। कण्हपा द्वारा प्रयुक्त सन्ध्या भाषा का उदाहरण इस प्रकार है–

"एक्क णा किज्जइ मंत्र शा तंत्र। णिअ घरणी लइ केलि करंत।
णिअ घरघरणी जाव शा मज्जइ। ताव कि पंचवर्ष विहरिज्जइ।।"

अर्थात् एक व्यक्ति मन्त्र–तन्त्र का जाप न करके नित्य अपनी स्त्री के साथ क्रीड़ा करता रहता है। जब तक घरणी रूप घर की नित्य स्वच्छता नहीं की जाती तब तक पंच विहारों में ही घूमता रहता है। इसका भाव नित्य स्त्री–सेवन को संकेतित करता है। वज्रयानियों की सिद्ध मंडली योग एवं मन्त्र–तन्त्र साधना के लिए मद्य तथा स्त्री (डोमिनी, रजकी आदि) का सेवन आवश्यक बताती रही, इसीलिए सिद्ध कण्हप्पा ने डोमिनी के साथ संभोग क्रीड़ा करने के लिए कुछ गीत गाए, जिन में से एक इस प्रकार से है।

"आलो डोंबि! तोए सम करिब म सांग।
निघिण कण्ह कपाली जोइ लाग।।"
× × × ×
"हालों डोंबी! तो पुछमि सद भावे।
आइससि जसि डोंवी का हरि नावे।।" **- कण्हप्पा**

सिद्ध साहित्य का योगदान

1. भाषा के विकास की दृष्टि से सिद्धों द्वारा प्रस्तुत अपभ्रंश भाषा ने हिंदी को महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है। क्योंकि 'संध्याभाषा' की शब्दावली से बहुत से शब्द–रूप कबीर आदि सतों की बानियों में प्रयुक्त किए गये हैं।
2. शैली की दृष्टि से भी सिद्ध साहित्य के मुक्तक काव्य से दूहा यह दोहा, पद, चर्चा गीत तथा रहस्यात्मक उक्तियों से हिंदी में दोहा पद तथा गीति काव्य रूपों का प्रयोग, मैथिल–कोकिल विद्यापति तथा संतों ने खूब किया है।
3. भाव की दृष्टि से भी सिद्धों की बोलियों ने रागात्मक वृत्ति का विकास करके शृंगारी भाव का सन्देश दिया है।
4. दार्शनिक अथवा रहस्यात्मक दृष्टि से सिद्ध–साहित्य ने शंकर के अद्वैतवाद तथा बौद्ध धर्म के शून्यवाद को मिलाकर शरीर में सारी सृष्टि को बताकर उसका उपभोग करने की प्रवृत्ति जगाई।
5. सिद्धों का प्रभाव वीर–गाथाओं पर तो नगण्य है परन्तु शृंगारी भाव का प्रभाव स्पष्ट रूप से इन पर देखा जा सकता है। आदिकालीन कवि विद्यापति पर यह प्रभाव स्पष्ट रहा है।
6. सिद्ध–साहित्य ने संत–साहित्य को विशेषतः कबीर, दादू तथा रविदास आदि कवियों को रहस्यवाद के क्षेत्र में तथा उलट–बांसियों के क्षेत्र में बहुत प्रभावित किया है।

6.2 जैन साहित्य

भगवान महावीर का जैन साहित्य में महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। भगवान महावीर ने अपने धर्म का प्रचार लोकभाषा के माध्यम से किया। पहले जैनधर्म का प्रचार एवं प्रसार उत्तरी भारत में अधिकाधिक रूप से फैला। गुजरात मे इसकी प्रधानता 8 वीं शताब्दी से 13 वीं शताब्दी तक बनी रही। वहाँ के चालुक्य, राष्ट्रकूट और सोलंकी राजाओं पर इसका पर्याप्त प्रभाव रहा है।

भगवान् महावीर का जैनधर्म हिन्दू के सदाचारों के अधिक समीप है। जैन धर्म का ईश्वर सृष्टिनायमक नहीं है। वह चित् एवं आनन्द का स्रोत है। प्रत्येक व्यक्ति अपनी साधना और पौरूष से परमात्मा का रूप धारण कर सकता है। इस धर्म की महत्त्वपूर्ण विशेषता यह थी कि इसमें ब्रह्मचर्य, अस्तेय और अपरिग्रह का विशेष महत्त्व है। प्रारम्भिक जैन साहित्य में दोहा–चौपाई पद्धति पर चरित–काव्य या आख्यानक काव्य का निर्माण हुआ। यही परम्परा आगे चलकर सूफी कवियों द्वारा ग्रहण कर ली गई। डा० वार्ष्णेय ने लिखा है, "जैनधर्म की दोहा–चौपाई पद्धति आगे चलकर सूफी कवियों, तुलसी आदि द्वारा अपनाई गई। इन प्रारंभिक रचनाओं के आधार पर ही पुरानी हिंदी का जन्म और पीछे खींच ले जाया जाता है।"

जैन आचार्यों ने प्राकृत के अतिरिक्त अपभ्रंश में प्रचुर रचनाएँ लिखी। इनका साहित्य मूलतः धर्म–प्रचार का साहित्य है, किन्तु साहित्यिक सौष्ठव के अंश पर्याप्त मात्रा में मिल जाते हैं। तत्कालीन व्याकरणादि ग्रंथों में इस साहित्य के उद्धरण मिलते हैं। स्वयंभू,

पुष्पदंत, धनपाल जैसे जैन कवियों ने हिन्दुओं की रामायण और महाभारत की कथाओं के राम और कृष्ण के चरित्रों को अपने धार्मिक सिद्धान्तों और विश्वासों के अनुरूप अंकित किया है। इन पौराणिक कथाओं के अतिरिक्त जैन तीर्थकारों एवं महापुरूषों के चरित्र लिखे गये तथा लोक–प्रचलित प्रसिद्ध नैतिकतावादी आख्यान भी जैन धर्म के रंग में रंग कर प्रस्तुत किये गये हैं। जैन–साहित्य में शान्तरस की प्रधानता रही।

साहित्य को जैन-मुनियों का योगदान

हिंदी साहित्य एवं भाषा को जैन आचार्यों ने महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है। अपभ्रंश भाषा को जैन–साहित्य ने न केवल भाषा–विकास की दृष्टि से ही योगदान दिया है, बल्कि भावों, विचारों, जीवन–दर्शन संबंधी भी कुछ ऐसा योगदान दिया है जिससे आदिकालीन हिंदी के रासो ग्रंथों तथा चरित–काव्यों पर विशेष प्रभाव तो काव्य रूप की दृष्टि से पड़ा, साथ ही जैनियों के जीवन–दर्शन ने भी संतों को अन्तर्मुखी प्रवृत्ति की ओर प्रवृत्त किया। जैनाचार्यों की हिंदी भाषा को देन इस प्रकार रही है–

1. **आध्यात्मिक दर्शन संबंधी देन:** जैन मुनियों तथा आचार्यों ने अपनी रचनाओं में आत्मा, परमात्मा, जीव, ब्रह्म, जगत, माया, समाधि तथा मोक्ष आदि का विवेचन किया जिसका प्रभाव परवर्ती भक्ति–साहित्य पर पड़ा। जैनियों ने सिद्धान्त रूप में यह बताया है कि जीवात्मा तथा परमात्मा में तात्विक अन्तर नहीं केवल गुणात्मक अन्तर है। जो भेद आत्मा और परमात्मा में है वह माया के कारण ही है, ऐसी ही मान्यताएं ज्ञानाश्रयी संत–साहित्य की भी हैं।

2. **वर्ण विषय संबंधी योगदान:** ब्रह्म के विषय में जैन–साहित्य की मान्यता है कि वह ब्रह्म व्यापक है, अनिर्वचनीय, अनादि, अनन्त तथा निरंजन है। यही भावना कबीर आदि संतों की भी रही है। कबीर का रहस्यवाद भी इसी अन्तर्मुखी प्रवृत्ति का सूचक है। ब्रह्म तो योगियों के हृदय में रमता है। रमण करने के कारण ब्रह्म को राम भी कहा है। जैन–साहित्य में कर्म संबंधी यह मान्यता है कि समाधि की अवस्था में सभी कर्म विनष्ट हो जाते हैं। इसलिए जैनियों ने समाधि द्वारा कर्म–फल की मुक्ति से निर्वाण पद की प्राप्ति बताई है। जैन मुनियों ने प्रयोगात्मक मुक्ति प्राप्त करने के साधन बताते हुए गृहस्थ धर्म के त्याग की बात कही है। कर्मों के कारण जीवात्मा बन्धनों से मुक्त केवल समाधि अवस्था मे ही हो सकता है। समाधि कष्टसाध्य है इसलिए वह सुख में बाधक है। विषयों के भोग तथा तृष्णादि से समाधि या मुक्ति नहीं मिल सकती। जैन मुनियों में मुनि रामसिंह ने कहा है–

   "मुंडिय मुंडिय मुंडिय।
   सिर मुंडिय चित्त ण मुंडिया।
   चित्तहउ मुंडिय जि कियहु
   संसार खंड णु तिकियउ ।।"

   अर्थात अरे, तुम अपना सिर तथा दाढ़ी–मूँछ तो मुँडवाते हो, परन्तु अपने मन को काबू में नहीं करते। जो अपने चित्त को मुँडता है, अर्थात् मन पर काबू कर लेता है, उसे संसार नहीं मिटा सकता।

   इसी प्रकार की मान्यता कबीरदास की भी रही है जब वह कहते हैं–

   "दाढ़ी मूंछ मुंडाय कै, हुआ जो घोटम घोट।
   मन को क्यों नहिं मुंडिये जामें भरिया खोट।।"

   अर्थात् अरे भोले मनुष्य, तू दाढ़ी, मूँछ तथा सिर मुंडा कर घोटम घोट तो हो गया परन्तु इसमे कोई लाभ नहीं। तू अपने मन को क्यों नहीं मुंडता (काबू करता) तेरे इस मन में ही खोट भरे हुए हैं।

3. **जैन-साहित्य का काव्य रूप:** जैन आचार्यों ने अधिकांश रूप में चरित–काव्यों की रचना की है। इन चरितकाव्यों को लोककथाओं के रूप में ढाला गया है। इसी काव्यरूप ने मध्यकालीन महाकाव्यों को प्रभावित किया है। तुलसी का 'रामचरितमानस' निश्चित रूप से चरित काव्यों की परम्परा का विकसित रूप है। स्वयंभू द्वारा रचित 'पउम चरिउ' से तुलसी तथा जायसी दोनों ही प्रभावित हुए है।

4. **जैन-साहित्य की भाषा एवं वर्णन-शैली:** जैनाचार्यों ने चरित–काव्यों में दोहा, छप्पयों तथा चौपाइयों की छन्दोबद्ध वर्णन–शैली को अपनाया और पच्चीस चौपाइयों के पश्चात् एक दोहा लिखने की शैली अपनाई। 'रामचरित मानस' पर भी इसी वर्णन शैली का प्रभाव देखा जा सकता है। प्रकृति चित्रण, वर्षा, पशु–पक्षी आदि का वर्णन भी जैन मुनियों

ने अपने महाकाव्यों तथा खंडकाव्यों में किया था जिसका प्रभाव हिंदी परवर्ती महाकाव्यों तथा खण्ड काव्यों पर भी देखा जा सकता है। अलंकारों की दृष्टि से भी जैन साहित्य ने हिंदी भाषा के अलंकार विधान को योगदान दिया है।

भाषा प्रयोगिक तौर पर तो जैन–आचार्यों का अपभ्रंश साहित्य अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है ही, क्योंकि जब हिंदी का कोई भाषा वैज्ञानिक व्यावहारिक रूप से शब्दों के किसी रूप का विकास अन्वेषित करना चाहता है तो उसे संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश तथा पुरानी हिंदी के शब्दों, रूपों का ज्ञान प्राप्त करना परमावश्यक है। इसलिए अपभ्रंश साहित्य हिंदी भाषा के विकास क्रम को सम्यक् रूप से समझने के लिए अनिवार्य है।

जैन मुनियों के अपभ्रंश साहित्य ने हिंदी के आदिकाल, भक्तिकाल तथा रीतिकाल को किसी न किसी भांति अवश्य ही प्रभावित किया है। जीवन–दर्शन आध्यात्मिक रहस्यवाद, काव्य रूप, वर्णन शैली तथा भाषागत योगदान को देखकर कहा जा सकता है कि हिंदी भाषा साहित्य को भली भाँति समझने के लिए अपभ्रंश साहित्य का अध्ययन भी कर लेना आवश्यक है, क्योंकि वह अविच्छिन धारा भारतीय वाङ्मय को सुचारू रूप से उजागर करती है।

6.3 नाथ साहित्य

नाथ साहित्य उपदेशात्मक साहित्य ही है जिसे 'धार्मिक साहित्य' भी कहा जा सकता है। नाथों में 'गोरख' एकमात्र ऐसे योगी हैं जो कबीरादि संतों पर विशेष रूप से प्रभाव डालते हैं। गुरू गोरखनाथ ने तथा उनके अनुयायियों ने गद्य तथा पद्य दोनों में ही पुस्तकें लिखी हैं। जो पुस्तकें नाथ साहित्य से संबंधित है, उनके नाम ये है 'गोरखनाथ की बानी' 'गोरख सार' 'गोरख–गणेण गोष्ठी', 'गोरखनाथ', 'की सत्रह कला', 'महादेव गोरख संवाद', 'दत्तात्रेय गोरख संवाद,' 'विराट पुराण', 'नखइ बोध', 'योगेश्वरी साखी', तथा 'गोरख योग',।

महायान से बज्रयान, बज्रयान से सहजयान और सहजयान से नाथ–सम्प्रदाय का विकास हुआ। जीवन को कर्मकाण्ड के जाल से मुक्त कर सहज रूप की ओर ले जाने का श्रेय नाथों को ही जाता है। इस प्रकार यह सम्प्रदाय सिद्ध–सम्प्रदाय का विकसित एवं पल्लवित रूप है। सिद्धों की विचारधारा को लेकर इस सम्प्रदाय ने उसमें नवीन विचारों की प्राण–प्रतिष्ठा की है।

डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी के अनुसार इस सम्प्रदाय के 'सिद्ध–मत', 'सिद्ध–मार्ग', 'योग–मार्ग', 'योग–सम्प्रदाय', 'अवधूत–मत', ' अवधूत–सम्प्रदाय' आदि नाम स्वयं सम्प्रदाय में अधिक प्रचलित है। मनुष्यों में मत्स्येन्द्रनाथ इस परम्परा के सर्वप्रथम आचार्य माने जाते हैं। ये कौल साधक थे। कौल–साधना में साधक का प्रधान कर्त्तव्य जीव–शक्ति को जागृत करना है जो जगत् में व्याप्त है और जो कुण्डलिनी के रूप में मनुष्य शरीर में स्थित है। गोरखपंथी साहित्य के अनुसार आदिनाथ स्वयं शिव थे। उनके पश्चात् मत्स्येन्द्रनाथ हुए.और उनके शिष्य गोरखनाथ थे। नाथों की संख्या प्रधानतः नौ मानी जाती है। नागार्जुन, जड़भरत, हरिश्चन्द्र, सत्यनाथ, गोरखनाथ, चर्पट, जलन्धर और मलयार्जुन, किन्तु नाथ पंथियों के भी 84 सिद्ध कहे जाते हैं।

इस सम्प्रदाय में इन्द्रिय–निग्रह पर विशेष बल दिया गया। इन्द्रियों के लिए सबसे बड़ा आकर्षण नारी है। अतः नारी से दूर रहने की शिक्षा दी गयी है। इस संबंध में डॉ० शिवकुमार ने कहा है "सम्भव है कि गोरखनाथ ने बौद्ध विहारों में भिक्षुणियों के प्रवेश का परिणाम और उनका चारित्रिक पतन देखा हो तथा कौल पद्धति या वज्रयान के वाममार्ग मे भैरवी और योगिनी रूप नारियों की ऐन्द्रिक उपासना में धर्म को विकृत होते देखा हो।"

नाथपंथ की दार्शनिकता सैद्धान्तिक रूप से शैवमत के अन्तर्गत है और व्यावहारिकता की दृष्टि से हठयोग से संबंध रखती है। मूलतः हठयोग देह–शुद्धि का साधन मात्र है। नाथ साहित्य के महत्त्व की ओर संकेत करते हुए आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है, "इसने परवर्ती संतों के लिए श्रद्धाचरण प्रधान धर्म की पृष्ठभूमि तैयार कर दी थी। जिन संत साधकों की रचनाओं से हिंदी साहित्य गौरवान्वित है, उन्हें बहुत कुछ बनी बनायी भूमि मिली थी। डा० रामकुमार वर्मा ने नाथपंथ के चरमोत्कर्ष का समय बारहवीं शताब्दी से चौदहवीं शताब्दी के अन्त तक माना है। उनका मत है कि नाथ–पंथ से ही भक्तिकाल में संत–मत का विकास हुआ था जिसके प्रथम कवि कबीर थे। इस मन्तव्य का समर्थन कथ्य और शिल्प दोनों दृष्टियों से हो जाता है–नाथपंथी रचनाओं की अनेक विशेषताएँ संत–काव्य में यथावत् विद्यमान है। डा० लक्ष्मीसागर ने लिखा है, "यद्यपि कबीर द्वारा प्रवर्तित संत–साहित्य पर सिद्धों का भी प्रभाव है, किन्तु उसकी नींव नाथ–पंत ने ही डाली थी। सिद्ध यदि पूर्वी भारत में क्रियाशील थे, तो नाथ–पंथियों का क्षेत्र राजपूताना और पंजाब अर्थात् पश्चिमी भारत था।"

(i) **गोरखनाथ**: नाथपंथियों में सबसे अधिक प्रभावशाली गोरखनाथ है। ये मत्स्येन्द्रनाथ के शिष्य थे। राहुल सांस्कृत्यायन ने गोरखनाथ का समय 845 ई० माना है। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी उन्हें नवीं शती का मानते हैं और आचार्य रामचन्द्र शुक्ल तेरहवी शती का बतलाते है। डा० पीताम्बरदत्त बडथ्वाल ग्यारहवी शती का मानते हैं तथा डा० रामकुमार वर्मा शुक्ल भी इस मत से सहमत हैं। गोरखनाथ का मुख्य स्थान गोरखपुर माना जाता है किन्तु इनके मत का अधिक प्रचार पंजाब तथा राजस्थान में हुआ।

(ii) **रचनाएँ**: इनके ग्रंथों की संख्या चालीस मानी जाती हैं किन्तु डा० बड़थ्वाल ने केवल चौदह रचनाएँ ही उनके द्वारा रचित मानी हैं, जिनके नाम हैं–सबदी, पद, प्राणसंकली, सिष्यादरसन, नरवै–बौध, अभेमात्रा जोग, आतम–बोध, पन्द्रह तिथि, सप्तवार, मधीन्द्र गोरखबोध, रोमावली, ग्यानतिलक, ग्यानचौंतीस एवं पंचमात्रा। गोरखनाथ ने षट्चक्रों वाला योग–मार्ग हिंदी साहित्य में चलाया था। इस मार्ग में विश्वास करने वाला हठयोगी साधना द्वारा शरीर और मत को शुद्ध करके शून्य में समाधि लगाता था और वही ब्रह्म को साक्षात्कार करता था। गोरखनाथ ने कहा है कि वीर वह है, जिसका चित्त विकार–साधन होने पर भी विकृत नहीं होता।

नौ लख पातरि आगे नाचै, पीछे सहज अखाड़ा।
ऐसे मन लै जोगी खेलै, तब अंतरि बसै भँडारा।
मूर्त जगत् में अमूर्त का स्पर्श करते हुए उन्होंने लिखा है,
अंजनमाँहि, निरंजन चेट्या, तिल मुख भेट्या तेल।
मूरति माँहि अभूरति परस्या, भया निरंतरी खेल।।

चौरासी सिद्धों में सरहप्पा, कण्हप्पा, लूहप्पा तथा नौ नाथों में गोरखनाथ की साहित्यिक देन के आधार पर हम उसे तीन वर्गों मे बाँट सकते हैं

1. जीवनदृष्टि से योगदान। (दार्शनिक)
2. भाषा के विकास की दृष्टि से योगदान (भाषा वैज्ञानिक)
3. काव्यरूपों की दृष्टि से योगदान (काव्यशास्त्रीय)

विचारों की दृष्टि से जो योगदान नाथों ने दिया, वह इस प्रकार रहा है–

1. वैदिक दर्शन के विरोधियों तथा पक्षधरों को मध्यवर्गी विचारधारा से प्रभावित किया है। बौध धर्म तथा शांकर अद्वैत को विचारों के धरातल पर समीप लाकर नाथों ने अपनी योग साधना से शैव तथा शाक्त दर्शन को भी मिलाने का कार्य किया है।
2. इंडा, पिंगला, सुषुम्ना, सुरति, निरति, सूर्य, एवं चन्द्र, नाड़ियों आदि के अशास्त्रीय प्रयोग को लोकशास्त्रीय हठयोगी पारिभाषिक शब्दावली में समाविष्ट करके शरीर में ही सृष्टि की कल्पना की।
3. ब्रह्म कर्मकाण्डीय साधना की अपेक्षा आन्तरिक, सहज अथवा हठयोगी साधना पर बल दिया है, जिसका प्रभाव कबीर आदि संतों की वाणियों में देखा जा सकता है। 'महाकुण्डलिनि' अथवा 'पराशक्ति' तो सारे संसार में व्याप्त है परन्तु स्त्री का प्रतिरूप कुण्डलिनी शक्ति मनुष्य के शरीर में ही व्याप्त है। उसी की साधना करने से मनुष्य आत्मतत्व को पहचान लेता है।
4. ब्रह्मा सृष्टि को मिथ्या बताकर लोगों को शांकर अद्वैत के मायावाद के निकट लाने का कार्य भी नाथों ने किया ।
5. शिव तथा शक्ति की एकता दिखाकर नाथों ने एक नई तथा वांछनीय विचारधारा से लोगों को भारतीय जीवन–दर्शन से जोड़ने को अनुपम कार्य किया। गुरू गोरख तथा उसके गुरू मत्स्येन्द्र नाथ (मछेन्द्र नाथ) के वार्तालाप से यह तथ्य स्पष्ट किया जा सकता है कि नाथों ने शिव एवं शक्ति को कैसे मिलाकर प्रस्तुत किया है।

गुरू गोरख पूछते हैं–
"स्वामि! कहाँ बसे शक्ति और कहाँ बसे सीव?
कहाँ बसै पवना, कहाँ बसे जीव?
कहाँ होइ इनका परचाल है?" **गोरख संवाद**

गुरू मछेन्द्र नाथ उत्तर देते हैं–
"अबधू! अधैं बसै सक्ति, अधैं बसै सीव।
मध्य बसै पवनि, औ अन्तर बसै जीव।
सारे सरीर होत इनका परचाल है।" **गोरख संवाद**

भावार्थ यह है कि वेदान्तीय वाक्यों का अनुवाद करके यह स्थापना की गई कि 'मैं ही ब्रह्म हूँ और सारा संसार ब्रह्ममय है।' शिव तथा शक्ति तो शरीर के आधे–आधे भाग में व्याप्त हैं। इसी विचारधारा ने आगे चलकर शिव का अर्धनारीश्वर रूप भी बनाया। दर्शन की रहस्यात्मक शास्त्रीय मान्यताओं को नाथों ने उन बोलियों में अभिव्यक्त किया जिससे प्रभावित होकर कबीरादि संतों की रहस्योक्तियों तथा विरोधाभासी कथन की उलटबांसियों को प्रेरणा मिली।

6.4 रासो सहित्य

रासो–काव्य' के रचना–स्वरूप के संबंध में विभिन्न विद्वानों ने विभिन्न प्रकार की धारणाओं को व्यक्त किया है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार बीसलदेव रासो में प्रयुक्त 'रसायन' शब्द ही कालान्तर में 'रासो' बना। मोतीलाल मेनारिया के अनुसार– "जिस ग्रंथ में राजा की कीर्ति, विजय, युद्ध तथा वीरता आदि का विस्तृत वर्णन हो, उसे 'रासो' कहते है।"

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार–'रासो' तथा'रासक' पर्याप्त है और वह मिश्रित गेय–रूपक है।" डा० भागप्रसाद गुप्त के अनुसार विविध प्रकार के रास, रासावलय रासा और रासक छन्दों रासक और नाट्य–'रासक, उपनाटकों रासक' रास तथा रासो–नृत्यों से भी रासो–प्रबन्ध–परम्परा का संबंध रहा है– यह निश्चय रूप से नहीं कहा जा सकता।

रास काव्य मूलतः रासक छन्द का समुच्चय है। अपभ्रंश में 29 मात्राओं का एक रासा या रास छंद प्रचलित था। विद्वानों ने दो प्रकार के 'रास' काव्यों का उल्लेख किया है–कोमल और उद्धत। प्रेम के कोमल रूप और वीर के उद्धत रूप का सम्मिश्रण पृथ्वीराज रासो में है।

चारण साहित्य की जिस समय रचना हो रही थी वह समय अनुकूल नहीं था, क्योंकि पूरा देश छोटे–छोटे राज्यों में बंटा हुआ था। प्रत्येक राज्य का राजा अलग होता था। प्रत्येक राज्य मे आये दिन युद्ध हुआ करते थे। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि तत्कालीन सामाजिक स्थिति खंडित पड़ी हुई थी। उस समय एक धर्म के लोग दूसरे धर्म और सम्प्रदाय के लोगों को नीचा दिखाने की चेष्टा में लगे हुए थे।

रासो साहित्य सामंती–व्यवस्था प्रकृति और संस्कार से उपजा हुआ साहित्य है।

(i) **रास काव्य परंपरा का विकासः** रासो–काव्य की परंपरा संस्कृत व प्राकृत में नहीं मिलती। अपभ्रंश वैविध्य में जैसा कि विवेचन मिलता है। रासो ग्रंथों का संक्षेप में विवेचन इस प्रकार है–

(क) ***उपदेश रसायन***–इसके रचनाकार श्री जिनदत्त सुरि हैं। इसका रचनाकाल 1200 वि० के लगभग है। इसका विषय जैसा कि नाम से प्रकट है, धर्मोपदेश है।

(ii) **भरतेश्वर बाहुबली रासः** इसके रचनाकार शलिभद्र सूरि हैं। इसकी रचना संवत् 1241 में की गई। इस ग्रंथ मे भरतेश्वर तथा बाहुबली का चरित्र वर्णन है। कवि ने इन दोनों राजाओं की वीरता युद्ध आदि का विस्तार से वर्णन किया है, किन्तु हिंसा और वीरता के पश्चात् विरक्ति और मोक्ष के भाव प्रतिपादित करना कवि का मुख्य लक्ष्य रहा है। 205 छंदों में रचित यह एक सुन्दर खंडकाव्य है।

(iii) **स्थूलभद्र रासः** जिन धर्म सूरि ने 1209 ई० में इस ग्रंथ की रचना की। इस कृति का नायक स्थलिभद्र कोशा नाम की वेश्या के साथ भोगलिप्त रहता है। अंत में स्थलिभद्र को कवि ने जैन धर्म की दीक्षा लेने के बाद मोक्ष का अधिकारी सिद्ध किया है। इस काव्य की भाषा पर अपभ्रंश का प्रभाव अधिक है फिर भी इसकी भाषा का मूल रूप हिंदी ही है।

(iv) **चंदनबाला रासः** उसके रचियता कवि आसगु है। यह कृति पैंतीस छंदों का एक लघु खंड काव्य है, जिसकी रचना 1200 ई० के लगभग आसगु नामक कवि ने जालौर मे की थी। इसकी कथानायिका चन्दनबाला चम्पा नगरी के राजा दधिवाहन की पुत्री थी। एक बार कौशाम्बी के राजा शतानकि ने चम्पा नगरी पर आक्रमण किया, जिसमें उसका सेनापति चन्दनबाला का अपहरण कर ले गया और एक सेठ को बेच दिया। सेठ की स्त्री ने उसे अपार कष्ट दिए। चन्दनबाला अपने सतीत्व पर अटल रहकर सब दुःख सहती रही और अंत मे महावीर से दीक्षा लेकर मोक्ष को प्राप्त हुई। इस प्रकार लघु कथानक पर आधारित यह जैन रचना करूण रस की गंभीर व्यंजना करती है।

(v) **नेमिनाथ रासः** इस ग्रंथ की रचना सुमति मणि ने 1213 ई० मे की थी। 58 छंदों की इस रचना में कवि ने नेमिनाथ का चरित्र सरस शैली में प्रस्तुत किया है। रचना की भाषा अपभ्रंश से प्रभावित राजस्थानी हिंदी है।

(vi) **रेवतं गिरी रासः** इस काव्य कृति के रचियता विजयसेन सूरि है। उन्होंने इस ग्रंथ की रचना 1231 ई० में की थी। इस काव्य

में तीर्थकर नेमिनाथ का प्रतिमा तथा रेवंतागिरी तीर्थ का वर्णन है। प्रकृति के रमणीक चित्र इस काव्य के भाव पक्ष तथा कलापक्षों का शृंगार करते हैं।

रासो काव्य परंपरा का विकास

छंद वैविध्य परक रासो परंपरा की 'संदेश रासक' सुप्रसिद्ध रचना है।

1. पृथ्वीराज रासो 2. बीसलदेव रासो 3. परमाल रासो
4. खुमान रासो 5. हम्मीर रासो 6. विजयपाल रासो

1. **पृथ्वीराज रासो**: पृथ्वीराज रासो को हिन्दी भाषा एवं साहित्य का 'प्रथम महाकाव्य' होने का गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त है। वीरगाथा कालीन ग्रंथों में यही ग्रंथ सर्वाधिक प्रसिद्ध है। वास्तव में वीरगाथा कालीन साहित्य की प्रतिनिधि रचना होने के कारण इसका महत्त्व साहित्यिक मानदण्ड स्थिर करने में भी सहायक है। इस ग्रंथ के रचियता चन्दवरदाई हैं जो पृथ्वीराज चौहान के सखा, दरबारी कवि तथा एक वीर सेनापति रहे। इस ग्रंथ की कथावस्तु में अग्निकुल के राजपूतों की उत्पत्ति से लेकर मुहम्मद गौरी द्वारा पृथ्वीराज के पकड़े जाने तक का समग्र जीवन तथा ऐतिहासिक घटनाओं के साथ–साथ पृथ्वीराज तथा जयचन्द की शत्रुता एवं संयोगिता स्वयंवर आदि का भी वर्णन किया है। इस ग्रंथ की रचना 69 समयों (अध्यायों) में की गई है।

2. **बीसलदेव रासो**: इस वीर गीत काव्य की रचना संवत् 1212 विक्रमी में हुई थी। इस की रचना करने वाले नरपति नाल्ह है। उन्होंने अपने आश्रयदाता विग्रहराज चतुर्थ उपनाम बीसलदेव के चरित्र का सुन्दर वर्णन किया है। बीसलदेव बड़े वीर तथा पराक्रमी राजा थे उन्होंने यवनों के विरूद्ध कई सफल युद्ध किए।

3. **परमाल रासो**: इस ग्रंथ के रचनाकार जगनिक नामक भाट कवि हैं जिनका समय सवंत् 1230 है। जगनिक ने अपने आश्रयदाता चन्देले राजा परमाल के दरबार में रहते हुए वीर गीत काव्य की (52 लड़ाइयों की) रचना की।

4. **खुमान रासो**: यह प्रबन्धात्मक काव्य दलपति विजय नामक कवि द्वारा रचित है। ऐसा स्वीकार किया जाता है कि इस ग्रंथ की जो मूल प्रति उपलब्ध हुई है। उसमें चितौड़ के द्वितीय खुमान के युद्धों का वर्णन है, जिसका समय 870 तथा 900 सवंत् के बीच माना गया है। जो प्रति वर्तमान युग की लिखी अथवा छपी मिलती हैं, उसमें बहुत परिवर्तन मिलता है। आधुनिक उपलब्ध प्रतियों को देखकर यह निर्णय करना बहुत कठिन हो जाता है कि मूल ग्रंथ की सामग्री क्या है। इस ग्रंथ की भाषा डिंगल ही है जो पुरानी राजस्थानी या मारवाड़ी कही जा सकती है।

रासो साहित्य सामंती व्यवस्था, प्रकृति और संस्कार में उपजा हुआ साहित्य है। जिसका संबंध पश्चिमी हिंदी प्रदेश से है। इसे 'देशभाषा काव्य' नाम से भी अभिहित किया जाता है। इस साहित्य के रचनाकारों को हिन्दू राजपूत राजाश्रय में रहने वाले चारण या भाट समाज में सम्मान का स्थान प्राप्त था। ये चारण कला पारखी और कला–रचना में निपुण होते थे। ये लोग योद्धा भी थे।

जब भी कोई लिपिकार किसी पुरानी पोथी को लिपिबद्ध करता है तो वह अपने समकालीन राजाओं से सम्बद्ध कथानकों को इसलिए जोड़ देता है ताकि उसके आश्रयदाता को भी महत्त्व मिल जाये। यह तथ्य 'खुमाण रासो' में जुड़े बाद के प्रक्षिप्त अंश को देखने से स्पष्ट हो जाता है। डा० नगेन्द्र के शब्दों में "वृत्त–संग्राहकों के पास इतिहास को समझने की पैनी दृष्टि थी, इसीलिए राजस्थान में रहते हुए भी वे आदिकाल की समाप्ति को भक्तिकाल और रीतिकाल के भण्डार में डालने का दुराग्रह करके यश अर्जित कर रहे हैं, जबकि वह सामग्री उन कालों की प्रवृत्तियों से किसी भी रूप में मेल नहीं खाती। इन लोगों ने रचनाकारों के नामों के संबंध में भी भ्रम पैदा कर दिया है।"

इस ग्रन्थ की प्रामाणिक हस्तलिखित प्रति–पूना संग्रहालय में सुरक्षित है। इसमें कुल पाँच हजार छंद हैं। इसमें समकालीन राजाओं के आपसी विवादों के बाद हुई एकता के साथ–साथ अब्बासिया वंश अलमॉमू खलीफा और खुमाण के साथ हुए युद्ध का चित्रण मिलता है। इस कृति का प्रमुख सरोकार राजा खुमाण का चरित्रांकन करना है। उनके चरित्र के दो प्रस्थान बिन्दु हैं– एक युद्ध और दूसरा प्रेम। इसकी भाषा राजस्थानी हिंदी है। यथा–

"पिउ चितौड़ न आविऊ सावण पहिली तीज।
जोवै वाट रति विरहिणी, खिण-खिण अणवै खीज।।
संदेसो पिउ साहिबा, पाछो फिरिय न देह।
पंछी घाल्या पीज्जरे, घूटण रो संदेस"।।

5. **विजयपाल रासो**: मिश्रबंधुओं ने इस परम्परा की एक कृति 'विजयपाल रासो' का उल्लेख किया है जिसके रचियता नल्लसिंह है। इस कृति का नायक विजयपाल सम्भवतः विश्वामित्र गोत्रीय गुहिलवंशीय राजा विजयपाल से भिन्न है जिसने 'काई' नामक वीर योद्धा को पराजित किया था। इस राजा के प्रयौत्र विजय सिंह का एक हिंदी शिलालेख दमोह (म० प्र०) में प्राप्त हुआ है। इस रचना में रचनाकार ने राजा विजयपाल सिंह और बंगराजा के बीच हुए युद्धों को सजीव रूप में चित्रित किया है। इसका रचनाकाल सन् 1298 ई० है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने इसी नाम की दूसरी कृति का उल्लेख भी किया है जिसके रचनाकार मल्लदेव है। शिल्प विधान की दृष्टि से यह आदिकाल के बाद की रचना ठहरती है।

रासो साहित्य की प्रवृत्तियाँ

रासो साहित्य की सामान्य प्रवृत्तियाँ निम्नलिखित हैं–

1. **वस्तुपरक तथा कथ्यपरक प्रवृत्तियाँ**

(i) **वस्तु कथ्य में अतिश्योक्तिपूर्ण वर्णन की अधिकता**: समकालीन कवियों ने अपने आश्रयदाता राजा को श्रेष्ठ वीर, पराक्रमी, सम्राट, दानवीर, दृढ़ प्रतिज्ञा, शरणागत रक्षक और अनुपम सौन्दर्यशाली सिद्ध कर उसका अतिश्योक्तिपूर्ण वर्णन किया है। राजाओं का चरित्रांकन करना ही उस काल के रचनाकारों का मुख्य मकसद रहा था। रचनाकार दिन–रात शूर–वीर राजाओं के साथ रहता था। युद्ध के समय भी वह राजा का साथ नहीं छोड़ता था। वह युद्ध के समय सेना का नेतृत्व करता था और अपनी ओजस्वी कविताओं से सम्पूर्ण वातावरण और परिवेश को वीरोचित भावना से आपूरित करता था। इस उत्साह, संघर्ष और युद्ध के बीच भी वह राजाओं के यशोगान को बढ़ा चढ़ाकर वर्णित करना नहीं भूलता था।

"चढ़ि तुरंग चहुआन, आन फेरीति पर द्धर।
तास युद्ध मंडयौ, जास जानयौ सबर वर"।

2. **सामंती समाज तथा उसमें निहित संस्कृति का चित्रण**: चारण साहित्य प्रमुखतः सामन्तों का साहित्य है। इस साहित्य में सामंती सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक व्यवस्था के जिन सन्दर्भों का वर्णन किया गया है, वे अतिश्योक्तिपूर्ण अवश्य है पर उसमें यथार्थता भी है जिसे नकारा नहीं जा सकता। सामंतों की उपभोक्ता संस्कृति के अनेक चित्र इसमें सरलता से खोजे जा सकते हैं। विलासिता की प्रत्येक वस्तु के प्रति उनका गहरा लगाव है। कंचन और कामिनी के प्रति जितने वे जागरूक है उतने निम्न और निम्न मध्यवर्ग के प्रति नहीं। सामाजिक कुरीतियों के अन्तर्गत बहु–विवाह, अनमेल–विवाह, गन्धर्वविवाह, सतीप्रथा जैसे अनेक रीति–रिवाजों का प्रचलन था। 'पृथ्वीराज रासो' में इन सामाजिक कुरीतियों का सविस्तार वर्णन मिलता है। उस काल में धर्म के नाम पर हिन्दू–मुसलमानों मे आए दिन युद्ध होता रहता था।

"दोउ दीन दीनं कढी बंकि अस्सी।
किधौं मेघ में बीज कोहिन्नि कस्सी।।
किये सिप्परं कोर ता सेल अग्गी।
किधौं बद्दर कोर नागिन्न नग्गी"।।

3. **युद्धों का जीवन्त वर्णन सामान्य जन-जीवन नगण्य**: चारण काल की रचनाओं में सामंती परिवेश ओर जीवन को विभिन्न स्तरों के माध्यम से चित्रित किया है। इसमें सामान्य जन–जीवन का वर्णन नगण्य रहा है। दरबारी रचनाकारों से इस प्रकार की अपेक्षा करना गलत होगा कि वे सामान्य जन–जीवन की व्याख्या करे। उस समय के रचनाकार अपने आश्रयदाताओं को युद्ध के लिए प्रेरित करने वाली कविताओं का सृजन किया करते थे। यथा:

"बज्जिय घोर निसानं रान चौहान चहूँ दिसि।
सकल सूर सामंत समर बल जंत्र मंत्र तिसी"।।
उठ्ठि राज प्रथिराज वाग लग्ग मनहु वीर नट।
कढ़त तेग मन बेगं लगत मनहु बीजु घट्ट"।।

4. **अर्द्धप्रामाणिक रचनाओं की अधिकता**: चारण साहित्य के अन्तर्गत आने वाली अधिकांशतः रचनाएँ अर्द्धप्रामाणिकता के झूले पर झूल रही हैं। 'पृथ्वीराज रासो' प्रामाणिकता के अभाव में पूर्ण प्रतिष्ठा नहीं पा सकी। 'खुमाण रासो' (आल्हाखण्ड) की जो प्रति उपलब्ध है उसका रूप बदला हुआ है। विषयवस्तु और शिल्प की दृष्टि से इन रचनाओं के संबंध में कहा जा सकता है कि इनमें कई शताब्दियों तक परिवर्तन और परिवर्द्धन होते रहे हैं जिसके कारण इनका मूल रूप खत्म--सा हो गया है।

5. **प्रकृति के बहुआयामी स्वरूप की चर्चा**: चारण साहित्य में प्रकृति के भिन्न–भिन्न स्वरूपों की चर्चा की गई है। उनमें प्रमुख ये हैं– आलम्बन, उद्दीपन, परिगणन, आलंकारिक, मानवीकरण आदि। प्रकृति को जहाँ आलम्बन और परिगणन रूप में प्रस्तुत किया गया है वहाँ यथार्थता की प्रधानता है, शेष प्रकृति–प्रसंगों में काल्पनिकता की अधिकता है। इनमें ऋतुओं के जो चित्र उकेरे गए है उनमें अवान्तर रूप से कहीं पुरूष ओर कहीं स्त्री–विरह ही माध्यम बने हुए हैं। भावप्रवणता और प्राकृतिक सौन्दर्य के स्तर पर प्रकृति का उद्दीपन रूप अनुपम है। बसंत ऋतु का चित्रण करते हुए कवि चन्दवरदाई लिखते हैं–

"मवरि अंब फुल्लिंग, कदंब रयनी दिघ दीस।
भंवर भाव भुल्ले, भ्रमंत मकरंदव सीस।
बहत बात उज्जलति, मोर अति विरह अगति किय।
कुलकहंत कल कंठ, पत्र राषस रति अग्गिय"।

भावपरक प्रवृत्तियाँ

1. **वीर तथा शृंगार रस वर्णन**: तत्कालीन साहित्य में दो प्रकार की रचनाएँ लिखी हैं प्रबन्ध काव्य और मुक्तक काव्य। दोनों ही प्रकार की रचनाओं में शृंगार या वीर रस की उद्भावना अवश्य देखी जा सकती है। प्रबन्ध काव्यों में एक साथ दोनों रसो का चित्रण मिलता है। चारणों ने अपनी रचनाओं में एक ओर युद्धों के वर्णन में वीरता और पराक्रम की अद्भुत सृष्टि की है तो दूसरी ओर रूप--सौन्दर्य, वस्तु–सौन्दर्य और प्रेम से परिपूर्ण सरस चित्र भी उतारे हैं। नारी दोनों रसों के केन्द्र में हैं। नारी प्राप्ति के लिए ही युद्ध होता है और उसकी प्राप्ति के बाद वातावरण विलासपूर्ण हो जाता है। 'पृथ्वीरास रासो' एक ऐसा अनूठा ग्रंथ है जिसमें वीर और शृंगार रसों की नियोजना के लिए ही अन्य रसों को भी समाहित किया गया है। शृंगार रस का उदाहरण दर्शनीय है–

"चंद बदन चष कमल, भौंह जनु भ्रमर गंधरत।
कीर नास बिबोष्ठ, दसन दामिनी दमक्कत।
भुज प्रनाल कुच कोक, सिंह लंकी गति वारून।
कनक कंति दुति देह, जंघ कदली दल आसन"।

इन रचनाकारों की रचनाओं का प्रमुख सरोकार सामंतों के विलासपूर्ण जीवन तथा उनकी वीरता और पराक्रम को वर्णित करना था।

2. **विरहानुभूति वर्णन**: इस काल के सांमतों की यह विशेषता थी कि वे एक साथ कई नारियों से प्रेम करते थे। उनके जीवन में नई नारियों का क्रम लगातार चलता रहता था। नई नारियों के आ जाने पर पुरानी नारियों के प्रति सामंतों की प्रीत कमजोर पड़ जाती थी। जिससे वे निरंतर दुःखी रहती थीं। कभी–कभी विरहानुभूति का कारण प्रवास भी हुआ करता था। 'बीसलदेव रासो' एक विरह प्रधान काव्य है जिसमें मान और प्रवास से ही विरह का प्रारम्भ दिखाया गया है। इस काल में नारी की कोई सामाजिक स्थिति नहीं थी। वह मात्र विलासिता की वस्तु थी। उसका समाज में कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं था। 'पृथ्वीराज रासो' में संयोगिता के विरह–वर्णन का दृश्य अनूठा रहा है--

"बढ़ि वियोग बहुबाल, चंद विय पूरन मान।
बढ़ि वियोग बहुबाल, वृद्ध जोवन सम मानं।
बढ़ि वियोग बहुबाल, दीन पावस रिति बढ़्ढै।
बढ़ि वियोग बहुबाल, जज्जि कुल बधु दिन चढ़्ढै"।

उस बाला का वियोग ऐसे बढ़ा जैसे द्वितीया का चन्द्रमा दिन प्रतिदिन बढ़ कर पूर्णिमा तक विकसित होता है या जैसे यौवन वृद्धावस्था की ओर बढ़ने लगता है या जैसे पावस की रात बढ़ती है या दिन चढ़ने पर कुलवधू की लज्जा।

शिल्पगत प्रवृत्तियाँ

1. **रासो काव्य ग्रन्थों का सर्जनः** सामंतों के आश्रय में रहकर चारणों ने जिन काव्य ग्रन्थों की रचना की है। उन ग्रंथों के नाम के साथ 'रासो' शब्द जुड़ा हुआ है। इस रासो शब्द के सन्दर्भ में अनके विचार प्रचलित हो चुके हैं। अनेक विद्वानों ने इस शब्द की व्युत्पति राजसूय (गार्सा द तासी), रासा (डा० हरप्रसाद शास्त्री), रासक (प० चन्द्रबली पाण्डेय) और रसिया शब्दों आदि से मानते है। जो नवीनतम खोजों के आलोक मे समीचीन नहीं है। प० मोहनलाल विष्णुलाल पांड्या के अनुसार--"रासो शब्द संस्कृत के 'रास अथवा रासक' से बना है और संस्कृत भाषा में 'रास' के 'शब्द, ध्वनि, क्रीडा, शृंखला, विलास, गर्जन, नृत्य और कोलाहल आदि के अर्थ और रासक के काव्य अथवा दृश्य काव्यादि के अर्थ प्रसिद्ध हैं। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने 'रासो' शब्द का मूल रूप 'रासक' को माना है। 'रासक' एक छंद भी है और काव्य रूप भी।

2. **काव्य रूपः** चारण साहित्य में सांमतों के चरित्रों को उद्घाटित करने के लिए जिस अतिरंजनापूर्ण शैली को अपनाया गया था, वे प्रबन्ध काव्य के अधिक निकट थी। वीर और पराक्रम के साहसपूर्ण कारनामों और साहसिक कार्यों को मुक्तक काव्य की अपेक्षा प्रबंध काव्य में सफलतापूर्वक वर्णित करने की सम्भावनाएँ अधिक होती हैं। इसलिए इन चरितप्रधान काव्यों में प्रबंधात्मक शैली को ग्रहण किया गया।

3. **अलंकार विधानः** अलंकारों के प्रयोग से काव्यवस्तु की शोभा बढ़ जाती है। चारणों की कविता में अलंकारों का प्रयोग इसी आशय से किया गया है। अलंकार यहाँ अंग न होकर अंगी है। शब्दालंकार के रूप में इन काव्यों में अनुप्रास, यमक, श्लेष, और वक्रोक्ति के अच्छे प्रयोग दिखलाई पड़ जाते हैं। यमक अलंकार का उदाहरण दृष्टव्य है--

"अंग सुलच्छिन हेम तन, नग धरि सुदरि सीस।
गौरी ग्रहि गोरी गयो, बिना जुद्ध बुझि रीस" ।।

इन रासो ग्रंथों मे अर्थालंकार के सफल प्रयोग भी किए गए हैं। उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, संदेह, दीपक, भ्रम, अतिश्योक्ति, प्रतीप दृष्टान्त जैसे अनेक अलंकारों का प्रयोग काव्य--परम्परा को ध्यान में रखकर किया गया है। प्रचलित उपनामों के साथ कुछ नवीन उपनामों के प्रयोग से वस्तु, भाव और शिल्प में रोचकता और प्रभाव बढ़ा है। वे नवीन उपनाम अपनी अर्थ सुलभता और लोक--प्रसिद्धि के कारण अर्थ--गौरव में भी निःसंदेह वृद्धि कर सके हैं। यथा--

"जनु छैलनि कुलटा मिलै। बहुत दिवस रस षंक।।

संागरूपकों के प्रयोग से चारणों ने पुरातन कथासूत्रों, प्राकृतिक सौन्दर्य और मौलिक उद्भावनाओं को साकार रूप दिया है--

"बाल नाल सरिता उतंग। आनंग अंग सुज।।
रूप सु तट मोहन तड़ाग। भ्रम भए कटाच्छ दुज"।।

(i) **छंद विधानः** रासो साहित्य में छंदों के विविधि प्रयोग मिलते हैं जिनमें कुछ ऐसे हैं जिनके रूप का पता नहीं है। छंदों के प्रयोग से रचनाकार की प्रतिभा और दूरदर्शिता का पता चलता है। मात्रा और वृत्त से संबंधित इन छंदों का प्रयोग रासो में अधिक हुआ है। यथा-- आर्मा, दूहा, पद्धरी, चौपाई, रासा, रोला, सोरठा, करषा, साटक, छप्पय, आदि। 'पृथ्वीराज रासो' में अडसठ छंदों का प्रयोग मिलता है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि इस काल में रचनाकारों को छंदों का विशिष्ट ज्ञान था। छंदों के सर्वाधिक प्रयोग के कारण ही तो 'चन्दवरदाई' को 'छप्पय का राजा' कहा गया है।

(ii) **शिल्प विधानः** शिल्प एक गतिशील प्रक्रिया है जो रचना की सृजनात्मकता को सार्थक बनाती है। शिल्प का रचाव बहुत कुछ भाषा के रचाव पर निर्भर करता हैं। भाषा की एक विशेष संरचना होती है। रचनाकार लोक--जीवन से उन सार्थक शब्दों को चुनता है जो उनके वस्तुलोक और भाव लोक को समृद्ध करते हैं। रचना की सम्प्रेषणीयता के आधार यही शब्द हैं। चारणों ने रचना को स्तर पर जिन भाषाओं को प्रयोग किया है वे डिंगल और पिंगल भाषाएँ हैं, ये भाषाएँ लोकजीवन से जुड़ी हुई भाषाएँ है। लोक से जुड़े हुए शब्दों लोकोक्तियों और मुहावरों से भाषा सजीव और जीवंत हो गई है। शैली का जुडाव रचनावस्तु से होता है। रचनावस्तु को प्रभावी बनाने के लिए वह जिस प्रणाली को अपनाता है उसे ही 'शैली' कहते हैं। चारण साहित्य का अपना एक ऐतिहासिक, सांस्कृतिक और साहित्यिक महत्त्व हैं। ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में यह

साहित्य उन सामंतों के शोषण–कर्म को उजागर करता है जिसका संबंध जर, जोरू और जमीन से था। उनके द्वारा जो भी युद्ध किए जाते रहे उनका संबंध केवल उन्हीं से था। सामान्य जनता से इसका दूर तक नाता नहीं था। युद्ध की जीत रूप में हस्तगत नारी केवल सामंतों की भोग्या बन कर रह गई थी। सामान्य जनता के हित–चिन्तन जैसे सरोकारों से उसका कोई संबंध नहीं था। राजनीति के नाम पर जो भी हथकण्डे अपनाए जाते थे उससे मात्र सामंतों का हित–चिन्तन होता था। युद्ध इस काल में सामंतों की प्रसिद्धि और गौरव का कारण बने हुए थे। मानव समाज और सर्वहारा वर्ग के बारे में सोचने के लिए उनके पास अवकाश नहीं था। युद्ध जाति विशेष का पेशा बन गया था। इन सामंतों के दो ही कर्म प्रमुख थे– युद्ध करना और युद्ध से प्राप्त वस्तुओं का उपभोग करना। नारियों को भोग्या वस्तु बनाकर इन सामंतों ने अपने सामाजिक स्तर को और भी गिरा दिया था। बाहरी आक्रमणों ने देश, जाति और समाज की स्थिति को अवन्ति के कगार पर पहुँचा दिया। जातीय अस्मिता आये दिन खतरे में पड़ती थी, क्योंकि सामंतों ने जिस उपभोक्ता (सामंती) संस्कृति को विकसित किया था उससे समूची जनता अलग थी। निरतंर युद्ध की अनुगूँज से देश और जाति की सांस्कृतिक विकास की गति थम–सी गई थी। सांस्कृतिक विरासत के रख रखाव की चाह सामंतों में न थी। युद्ध और विलासिता ही उनके जीवन का मुख्य सरोकार बन गया था। साहित्यिक संरक्षण के रूप में उन्होंने जिन चारण रचनाओं को प्रश्रय दे रखा था उनका कार्य युद्धोन्माद को उत्पन्न कर देने वाली घटना–योजना का आविष्कार था। उन्होंने सामान्य जनता को रचना में स्थान नहीं दिया। सामंत ही उनके लिए सब कुछ थे। सामंतों के चरित्रांकन में ही रचनाकारों की सारी सृजनात्मक की ताकत लगी हुई थी। सामाजिक और सांस्कृतिक कर्म के विविध पहलुओं की ओर उनकी दृष्टि नहीं जा सकी। केवल सामंतों का गुणगान करना ही उस काल के रचनाकारों का मुख्य प्रतिपाद था।

7. आदिकालीन कविता की प्रवृत्तियाँ

आदिकालीन हिंदी कविता की प्रवृत्तियों का अध्ययन करने की सुविधा को ध्यान में रखते हुए इसे चार भागों मे विभाजित किया जा सकता है।

1. विचारात्मक प्रवृत्तियाँ
2. वस्तुपरक प्रवृत्तियाँ
3. भावात्मक प्रवृत्तियाँ
4. शिल्पनात्मक प्रवृत्तियाँ

7.1 विचारात्मक प्रवृत्तियाँ

(क) **आध्यात्मिक क्षेत्र में ब्रह्म का निर्गुण और सगुण रूप:** आध्यात्मिक क्षेत्र को परिपूरित करने के लिए इस काल के रचनाकारों ने ब्रह्म के निर्गुण और सगुण रूप को मान्यता प्रदान की है। सिद्धों और नाथों तथा जैनियों ने ब्राह्मण धर्म के विरोध में सगुण ब्रह्म के स्थान पर निर्गुण ब्रह्म को अपनाने का आग्रह किया है।

सिद्धों ने तंत्र और मंत्र को अपनाने का आग्रह किया है वही नाथों ने योग को महत्ता प्रदान की है। नाथों का योग सामान्य स्तर का नहीं है। चारण कवि चन्दवरदाई और श्रीकृष्ण के उपासक विद्यापति ने सगुण ब्रह्म की साधना के लिए भक्ति को अपनाने का आग्रह किया है। विद्यापति ने उमा–शिव को स्तुतिपरक पदों में पूजा है। शेष पदों में उन्होंने श्री कृष्ण को आराध्य माना है।

(ख) **धार्मिक भावना:** सिद्धों ने रूढ़ियों, पाखण्डों, मिथ्याचारों का खुलकर विरोध किया है। नाथों ने कायासाधना को महत्त्व दिया और इन चीजों एवं कार्यो का विरोध किया क्योंकि इनसे साधना में एकाग्रता नहीं आती, एकाग्रता आती है योग साधना के द्वारा। चारण कवियों, जैन कवियों और विद्यापति ने भी इन ब्राह्य आडम्बरों का विरोध किया और धर्म को लोक से और मानव से जोड़ने का सराहनीय कार्य किया।

(ग) **साहित्यिक क्षेत्र:** सिद्धों की रचनाओं एवं ग्रन्थों में प्रतीकों और उलटबासियों के माध्यम से रहस्यवाद उद्घाटित हुआ है। वह संसार की व्यावहारिक भाषा में व्यक्त नहीं हो सकता। आत्मा और परमात्मा के मिलन की अभिव्यक्ति जहाँ सिद्धों ने प्रतीकों से की है, वहीं नाथो ने पारिभाषिक शब्दावलियों से। सिद्धों ने उलटबासियों का भी प्रयोग किया है।

7.2 वस्तुपरक प्रवृत्तियाँ

(क) **सामंतवादी स्थिति का आंकलन:** सिद्धों नाथों ने सामंतवादी समाज और संस्कृति का आंकलन करते हुए अपने मत प्रस्तुत कर दिये हैं। उनका समाज से कुछ लेना–देना नहीं था। वे पहुँचे हुए साधक थे। जैन और चारण कवियों ने राजाओं के आश्रय में रहकर उनके समाज और संस्कृति को खुली आँखों से देखा था और उसे कविता में ढाला

भी था। इस वर्णन में सच्चाई का बखान अधिक था और काल्पनिकता कम।

(ख) **युद्धों का वर्णनः** सिद्धों नाथों ने न तो युद्धो को महत्त्व दिया है और न सामान्य जनजीवन का। इस कार्य में केवल चारण रचनाकार ही निपुण थे।

(ग) **नारी के प्रति दृष्टिकोणः** सिद्ध कवियों ने पहले तो नारियों की घुसपैठ का विरोध किया लेकिन बाद में तांत्रिक साधना के तहत इनको भी स्थान देना प्रारम्भ कर दिया। बाद में नैतिक बंधन इतने ढीले हो गये थे कि व्यभिचारपरक बातों का खुलासा होता चला गया।

(घ) **प्रकृति का वर्णनः** सिद्धों, नाथों ने प्रकृति को साधना का अंग नहीं बनने दिया। उन्होंने प्रकृति का प्रयोग कहीं-कहीं प्रतीक रूप में अवश्य किया है। जैन कवियों ने प्रकृति को नारी का प्रतीक माना है जो साधना में विघ्न पैदा करती है।

7.3 भावात्मक प्रवृत्तियाँ

(क) **विरह की अनुभूतिः** सिद्धों और नाथों ने साधना के स्तर पर विरह को महत्त्वपूर्ण माना है। आत्मा परमात्मा से अलग होकर जो दुःख की अनुभूति करती है उसे ही विरह कहा है। यह विरह आध्यात्मिक साधना का अंग बनकर इन रचनाओं में व्यक्त हुआ है। जैन कवियों की आध्यात्मिक रचनाओं में भी विरह का यही रूप मिलता है।

(ख) **नारी रूप चित्रणः** सिद्ध साहित्यकारों ने अन्त में भिक्षुणियों को प्रवेश दिलाकर नारी की उपस्थिति को दर्ज करा दिया है। इन नारियों के आगमन से भोग को स्थान मिला जिससे उसमें विकृतियाँ आ गयी। इन विकृतियों के कारण ही इस साहित्य का विकास अवरूद्ध हो गया। नाथों ने नाटियों से अपने-आप को दूर रखा। जैन कवियों ने साधना के क्षेत्र मे साध्वियों के रूप में नारियों को प्रवेश दिलाकर उसे पथ भ्रष्ट कर दिया। स्त्री के विभिन्न अंगों के स्पष्टीकरण के लिए इन कवियों ने प्राकृतिक उपमानों का भरपूर तरीके से उपयोग किया है। चारण कवियों की रचनाओं में नारी-चित्रण की प्रधानता देखी जा सकती है।

(ग) **नायिका-भेद वर्णनः** नायिका-भेद का मिश्रण रास ग्रंथों और मैथिली काव्य की एक विशेषता है। रास-ग्रंथों में जिन नायिकाओं को स्थान मिला है वे गृहस्थिक रूप में है। इन्हें ही शास्त्रीय परिपेक्ष्य मे स्वकीया, नायिका कहा गया है। परकीया नायिका को विद्यापति ने विशेष महत्त्व प्रदान किया है।

7.4 शिल्पनात्मक प्रवृत्तियाँ

(क) **भाषिक प्रयोगः** शिल्प एक प्रक्रिया है वह भी गतिशील जो कि रचना की सृजनात्मकता को सार्थकता प्रदान करती हैं। शिल्प का प्रयोग बहुत कुछ भाषा के रचाव पर निर्भर करता है। रचनाकार शिल्प को मध्य नजर रखकर लोक जीवन से उन सार्थक शब्दों का चुनाव करता है जो उनके वस्तुलोक और भावलोक को समृद्ध करते हैं। सिद्धों नाथों, जैन कवियों, चारण कवियों आदि ने शब्दों का गठंन इसी स्तर पर किया है।

(ख) **छंद-प्रयोगः** सिद्धों की रचनाओं में सृजित चर्चागीत गेय पदों के रूप में प्रकट होते हैं। प्रत्येक चर्चागीत के प्रारम्भ में किसी न किसी राग का उल्लेख मिलता है। इन चर्चागीतों में मात्रिक छंदों का प्रयोग किया गया है।

(ग) **अलंकार-प्रयोगः** सिद्धों की रचनाओं में अन्त्यानुप्रास, उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक आदि अलंकारों का प्रयोग दर्शने मे आता है। नाथ साहित्य में इन अलंकारों के अतिरिक्त श्लेष, वक्रोक्ति, प्रतीक, अपहनुति और उभयालंकार के उदाहरण भरे पड़े हैं। मैथिली साहित्य में शब्दालंकार के साथ अर्थालंकार का प्रयोग भी मिलता है। आदिकालीन काव्यगत प्रवृत्तियों का आंकलन इस प्रकार किया जा सकता है–

संदिग्ध प्रामाणिकता

भाषा शैली और विषय सामग्री की दृष्टि से इस काल की रचनाओं के संबंध में कहा जा सकता है कि इसमें निरन्तर कई शताब्दियो तक परिवर्तन होता रहा है। परिवर्तन का यह कार्य इतनी अधिक मात्रा में हुआ है कि इनका मूल रूप भी दब गया है। खुमान रासो में सोलहवीं शती की सामग्री का समावेश कर लिया गया है। पृथ्वीराज रासो की प्रामाणिकता आज तक भी संदिग्ध है। इसी पकार बीसलदेव रासो, दरमाल रासो आदि की प्रामाणिकता भी संदेह के घेरे में है।

ऐतिहासिकता का अभाव

इन रचनाओं में इतिहास प्रसिद्ध व्यक्तियों को लिया गया है, किन्तु उनका वर्णन शुद्ध इतिहास की कसौटी पर खरा नहीं उतरता। डा० रामकुमार वर्मा का मानना है कि–"यद्यपि ऐतिहासिक घटनाओं का विवरण भी उसमें प्राप्त होता है, पर उनका विस्तार और वर्णन कल्पना के सहारे ही किया जाता था, तिथि पर कोइ ध्यान नहीं दिया जाता था।"

युद्धों का सजीव चित्रण

आदिकालीन कवि अपने आश्रयदाताओं के साथ युद्ध क्षेत्र में जाते और युद्ध करते थे। इसलिए इनके द्वारा वर्णित युद्ध–अत्यन्त सजीव, मार्मिक और यथार्थ बन पड़े हैं।

आश्रयदाताओं की अतिश्योक्तिपूर्ण प्रशंसा

इस काल में अधिकांश साहित्य की रचना राज्याश्रित कवियों के द्वारा हुई है। कवियों ने अपने आश्रयदाता को ही सर्वश्रेष्ठ वीर, पराक्रमी सम्राट, अनुपम दानवीर, दृढ़प्रतिज्ञ सिद्ध कर उनका अतिश्योक्तिपूर्ण वर्णन किया है। डा० रामकुमार वर्मा के अनुसार, "कवि का आदर्श अधिकतर अपने चरित–नायक के गुण वर्णन तक ही सीमित रहता था।"

संकुचित राष्ट्रीयता

अपने आश्रयदाता को ही सर्वोपरि और सर्वश्रेष्ठ मानने और घोषित करने के कारण ही इन कवियों की राष्ट्रीय भावना केवल अपने आश्रयदाता के छोटे–छोटे राज्यों की सीमाओं तक ही सिमटकर रह गयी थी। वीरता का आदर्श रूप निम्न पंक्तियों से स्पष्ट हो जाता है–

बारह बरिस लौं कूकर जीयें, और तेरह लौं जिए सियार।
बरिस अठारह छत्री जीयें, आगे जीवन कौ धिक्कार।।

जन-जीवन की उपेक्षा

इन ग्रंथों में सामंती जीवन उभर आया है। कवि अपने आश्रयदाताओं की वीरता और रसिक–वृत्ति तक ही सीमित रहे हैं, इसलिए इनमें तत्कालीन जन–जीवन उपेक्षित रहा है।

काव्य के रूप

आदिकालीन रचनाएँ प्रबन्ध और मुक्तक दोनों रूपों में मिलती है। प्रथम वर्ग का सर्वाधिक प्राचीन उपलब्ध ग्रंथ है 'पृथ्वीराज रासो' और दूसरा ग्रंथ 'बीसलदेव रासो'। आदिकाल में हमें वीर गीत और वीर–प्रबन्ध काव्य दोनों प्रकार के ग्रंथ मिलते हैं।

वीर और शृंगार रस का समन्वय

आदिकालीन साहित्य में प्रायः वीर और शृंगार रस का सुन्दर सामंजस्य है। उस समय स्त्रियाँ ही प्रायः पारस्परिक वैमनस्य का कारण हुआ करती थी। इसलिए वीर गाथाओं में उनके रूप का वर्णन करना, कवियों को अभिष्ट था। युद्ध के समय ही नहीं, शांति के समय भी वीरों के विलास–प्रदर्शन में शृंगार का आकर्षण चित्रित किया गया है।

भाषाओं के विविध रूप

आदिकालीन रचनाओं के दो रूप ही प्रधान मिलते हैं– अपभ्रंश और अपभ्रंश प्रभावित पिंगल अतिरिक्त युद्ध वर्णनों में एक ऐसी भाषा के दर्शन होते हैं जिसे विद्वानों ने 'डिंगल' कहा है। डा० रामकुमार वर्मा ने लिखा है, ' यह वीर रस के लिए बहुत उपयुक्त थी, इसलिए इसका प्रयोग इस काल में बड़ी सफलता के साथ हुआ।'

छंदों का बहुमुखी प्रयोग

छंदों का जितना बहुमुखी प्रयोग इस साहित्य में हुआ है, उतना इसके पूर्ववर्ती साहित्य में नहीं हुआ। दोहा, तोटक, तोमर, गाथा, गाहा, आर्या सट्टक, उल्लाला और कुंडलियाँ आदि छंदों का प्रयोग बड़ी कलात्मकता के साथ किया गया है। हजारीप्रसाद द्विवेदी, के अनुसार 'रासो के छंद जब बदलते हैं तो श्रोता के चित्त में प्रसंगानुकूल नवीन कम्पन्न उत्पन्न करते हैं।'

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि आदिकालीन साहित्य अपभ्रंश साहित्य के समान्तर विकसित हुआ है। काव्य–शैलियों, काव्य रूपों आदि की विशाल परम्पराओं के अध्ययन की दृष्टि से इस काल के साहित्य का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

8. गद्य साहित्य

आदिकाल में काव्य रचना के साथ–साथ गद्य रचना की दिशा में भी कुछ स्फुट प्रयास लक्षित होते हैं। 'राउलबेल' (चम्पू), 'उक्ति–व्यक्ति–प्रकरण' और 'वर्णरत्नाकर' इस संदर्भ में उल्लेखनीय रचनाएँ हैं।

8.1 राउलबेल

रोडा कृत राउलबेल एक शिलांकित कृति है जिसका पाठ बम्बई के प्रिंस ऑफ वेल्स संग्रहालय से उपलब्ध कर प्रकाशित कराया गया है। विद्वानों ने इसका रचनाकाल दसवीं शताब्दी माना हैं। यह गद्य–पद्य मिश्रित चम्पू काव्य की प्राचीनतम हिंदी कृति है।

इसकी रचना 'राउल' नायिका के नख–शिख वर्णन के प्रसंग में हुई है। आरम्भ में कवि ने राउल के सौंदर्य का वर्णन पद्य में किया है और फिर गद्य का प्रयोग किया गया है। 'राउल बेल' से हिंदी में नख–शिख वर्णन की शृंगार–परम्परा आरंभ होती है। कवि ने विषय–वर्णन बड़ी तन्मयता से किया हैं। नायिका राउल का शृंगार आकर्षण से भरा हुआ है। वह सहज रूप में जितनी सुन्दर है, उतनी ही सहज–सुन्दर उसकी सज्जा भी है। इस सौन्दर्य के अनुकूल ही उसकी भावदशा है। रोडा ने उपमा, उत्प्रेक्षा, अलंकारों का प्रयोग करके रूप–वर्णन को प्रभावशाली बना दिया हैं।

इसकी भाषा में हिंदी की सात बोलियों के शब्द मिलते हैं। जिसमें राजस्थानी प्रधान है।

8.2 उक्ति-व्यक्ति-प्रकरण

दामोद शर्मा इस कृति के रचियता है। वह महाराजा गोबिन्द चन्द्र के सभा पंडित थे। गोबिन्द चन्द्र का शासनकाल 1154 ई० माना गया है। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी के अनुसार "उक्ति–व्यक्ति प्रकरण' एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण व्याकरण ग्रंथ है। इसमें बनारस और आस–पास के प्रदेशों की संस्कृति और भाषा आदि का अच्छा प्रभाव पड़ता है और उस युग के काव्य रूपों के संबंध में भी थोड़ी–बहुत जानकारी होती है।

इस ग्रंथ की भाषा का एक उदाहरण इस प्रकार है–

"वेद पढब, स्मृति अभ्यासिब, पुराण देखण, धर्म करब।"

इससे गद्य और पद्य दोनों शैलियों की हिंदी भाषा में तत्सम् शब्दावली के प्रयोग की बढ़ती हुई प्रवृत्ति का पता चलता है।

8.3 वर्ण रत्नाकर

इस कृति के रचनाकार ज्योतिरीश्वर ठाकुर हैं। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी के मतानुसार इसकी रचना चौदहवीं शताब्दी में हुई होगी।

इसकी भाषा में कवित्व, अलंकार तथा शब्दों की तत्समता की प्रवृत्तियाँ मिलती है। गद्य में नायिका का वर्णन करते हुए ज्योतिरीश्वर लिखते हैं–

"पुनु कयिसनि नायिका। कामदेवक नगर अइसन शरीर निष्कलंक चाँद अइसन मुह।
कंदल खंजीरीर अइसन लोचन। यमुना के तरंग अइसन भुजइ।"

इन पंक्तियों से 'वर्ण रत्नाकर' एक शब्दकोश सा प्रतीत होता है, किन्तु सौन्दर्य ग्रहिणी प्रतिभा भी साथ ही साथ स्पष्ट प्रभाव दिखा रही है। हिंदी गद्य के विकास में 'राउलवेल' के पश्चात 'वर्ण रत्नाकर' का योगदान भी कम नहीं कहा जा सकता। इन कृतियों के अतिरिक्त और भी रचनाएँ इस समय में लिखी गई होंगी, लेकिन किसी कारणवश वे उपलब्ध नहीं हो सकी। ये कृतियाँ गद्य–धारा के प्रवाह की अखंडता को कायम रख सकी हैं।

आदिकालीन साहित्य का जनजीवन जिन अनुभूतियों से प्रकट हुआ था, उनमें पर्याप्त विविधता थी। समाज की विभिन्न स्थितियों पर दृष्टिपात करके सहज जीवन का मार्ग सुलझाने से लेकर हठयोग की साधना तक आदिकाल में मुक्तक काव्य रूप का जो विस्तार हुआ, निश्चय ही उसका पर्याप्त ऐतिहासिक महत्त्व है।

प्राकृत और अपभ्रंश से लेकर 'राउलबेल' तक शृंगार की जो परम्परा आयी थी, वह भक्तिकाल को प्रभावित करती हुई रीतिकाल तक चली आयी।

इस समय में एक साथ धार्मिक मनोवृत्तियों का सात्त्विक चित्रण मिलता है, शृंगार की सहज सरसता दिखाई देती है, वीररस के दृश्य भी मिलते हैं तथा ऐसे चित्र सामने आते हैं जिनसे एक स्वतंत्र जाति के अहंकार का पूरा बिंब उसकी समस्त टूटन के साथ उभरता है।

आदिकालीन साहित्य में छंद–प्रयोग की विविधता देखी गई है। डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने छंद की दृष्टि से कुछ सीमाएँ बनायी हैं। उन्होंने श्लोक को लौकिक संस्कृत का, गाथा को प्राकृत तथा दोहा को अपभ्रंश का मुख्य छंद स्वीकार किया है।

आदिकालीन साहित्यिक रचनाओं की विशेषताएँ

1. **युद्धों का सजीव चित्रण:** आदिकाल के हिंदी साहित्य में युद्धों का ऐसा सजीव, चित्रात्मक, एवं ध्वन्यात्मक वर्णन हुआ है कि उन रासो–ग्रंथों को पढ़ते समय ऐसा प्रतीत होता है मानो तलवारें खडक रही हो।
2. **वीर रस तथा उत्साह की प्रधानता:** आदिकालीन साहित्य में उत्साह जन्य वीर रस की अभिव्यक्ति हुई है जिसे युद्ध के लिए प्रेरित करते हुए क्षत्रिय वीरों को इस प्रकार उत्साहित किया जाता है कि क्षत्रियों का सार्थक जीवन प्रकट हो उठता है।

3. **प्रकृति चित्रण**: प्रकृति के विभिन्न उपादानों यथा पर्वतों, नदियों, वृक्षों, सरोवरों, पशु–पक्षियों, मेघ एवं बिजली आदि का चित्रण एवं वर्णन बहुत ही मार्मिक ढंग से मिलता है।

साधारण लोगों के जीवन चित्रण का अभाव भी आदिकालीन साहित्य की विशेषता है।

डिंगल तथा पिंगल भाषा की प्रधानता ही आदिकालीन साहित्य की भाषागत विशेषता है। वैसे देशी भाषा अवहट्ट तथा शौरसेनी अपभ्रंश का भी प्रयोग मिलता है।

आदिकालीन साहित्य में वीर रस की प्रधानता युद्धों के सजीव चित्रण, आश्रयदाताओं की प्रशंसा, प्रकृति चित्रण ऐतिहासिकता का अभाव, राष्ट्रीयता का अभाव, अतिश्योक्तिपूर्ण कथन, ओजगुण तथा डिंगल भाषा का प्रयोग करने की प्रवृत्तियाँ देखी जा सकती हैं। यद्यपि वीरगाथा काल में साधारण लोगों का जीवन संबंधी साहित्य बहुत ही कम मिलता है परन्तु खुसरो की पहेलियाँ तथा मुकरियाँ इस अभाव की पूर्ति करने वाली हैं।

आदिकालीन साहित्य में प्रबन्धात्मक मुक्तक तथा वीर गीतों संबंधी जो ग्रंथ उपलब्ध हुए हैं उनमें से जो रचनाएँ महत्त्वपूर्ण हैं वे प्रबन्ध काव्यात्मक 'रासो' ग्रंथ ही है। 'रासो' शब्द का संबंध विभिन्न विद्वानों ने रास (आनन्द) रसायन, रहस्य तथा रासक शब्द से जोड़ा है। वास्तव में रासो का एक अन्यार्थ (रारसा झगड़ा) जो राजस्थानी में प्रयुक्त होता है, वह भी, ग्रहणीय है। क्योंकि वास्तव में रासो ग्रंथ में वीर नायक की प्रशस्ति के अतिरिक्त युद्धों का ही वर्णन सांगोपांग हुआ है। इन ग्रंथों में एक राजा का दूसरे राजा या सामन्त से सकारण युद्ध, नखशिख वर्णन तथा प्रकृति चित्रण का सुन्दर समावेश हुआ है।

आदिकालीन साहित्य की कुछ बातें उल्लेखनीय रही हैं–

संदिग्ध रचनाएँ

आदिकाल के अधिकांश रासो–ग्रंथो की ऐतिहासिक प्रामाणिकता संदिग्ध ही है। जैसे हिंदी के प्रथम महाकाव्य 'पृथ्वीराज रासो' की प्रामाणिकता आज तक भी संदिग्ध ही है। इसी प्रकार 'बीसलदेव रासो', 'खुमान रासो' तथा 'परमाल रासो' की प्रामाणिकता भी संदिग्ध है।

ऐतिहासिक तथ्यों का अभाव

आदिकालीन साहित्य में भारतीय ऐतिहासिक घटनाओं, तिथियों तथा पात्रों की नामावली प्रामाणिक सिद्ध नहीं होती।

संकुचित राष्ट्रीयता

आदिकालीन साहित्य में सार्वभौम राष्ट्रीयता का अभाव है क्योंकि छोटे–छोटे राजा अपने ही क्षेत्र को राष्ट्र मान बैठे थे। हिंदी के आदिकाल में साहित्यिक रचनाएँ तीन धाराओं के रूप में प्रवाहित हो रही थी। प्रथम धारा संस्कृत साहित्य की थी। दूसरी धारा का साहित्य प्राकृत एवं अपभ्रंश में लिखा जा रहा था। तीसरी धारा हिंदी भाषा मे लिखे जाने वाले साहित्य की थी। ज्योतिष दर्शन और स्मृति आदि विषयों पर टीकाएँ और टीकाओं पर भी टीकाएँ लिखी जाती थीं। नवीं से ग्यारहवीं शताब्दी तक कन्नौज एवं कश्मीर संस्कृत साहित्य रचना के केन्द्र रहे और इसी बीच अनेक आचार्य, कवि, नाटयकार तथा गद्यकार उत्पन्न हुए। आनन्दवर्द्धन, अभिनव गुप्त, कुन्तक, क्षेमेन्द्र, भोजदेव, मम्मट, राजशेखर विश्वरनाथ भवभूति व जयदेव इसी युग की देने हैं। इसी समय शंकर, भास्कर, रामानुज आदि आचार्य हुए। संस्कृत के अतिरिक्त प्राकृत एवं अपभ्रंश का श्रेष्ठ साहित्य भी प्रभूत मात्रा में इसी युग में लिखा गया। जैन आचार्यों तथा पूर्वी सीमान्त पर सिद्धों ने अपभ्रंश के साथ लोकभाषा को रचनाओं में प्रयुक्त किया। इस काल में बज्रयानी और सहजयानी सिद्धों, नाथों, जैन धर्म के अनुयायी विरक्त मुनियों एवं गृहस्थ उपासकों और वीरता एवं श्रृंगार का चित्रण करने वाले चारणों, भाटों आदि रचनाएँ विशेष रूप से रची गई।

9. आदि कालीन प्रतिनिधि रचनाकार

9.1 चन्दवरदाई

महाकवि चन्दवरदायी, वीरगाथा काल के प्रतिनिधि महाकवि हैं। चन्दवरदायी पृथ्वीराज चौहान के सखा, दरबारी कवि तथा सामन्त थे। ये भट्ट जाति में जगात गोत्र के थे। ऐसा कहा जाता है कि इनका जन्म भी पृथ्वीराज की जन्म तिथि को हुआ ओर मृत्यु भी पृथ्वीराज की पुण्य तिथि के साथ हुई। चन्दवरदायी का जन्म लाहौर में जबकि पृथ्वीराज को अपना दत्तक पुत्र बनाकर दिल्ली का राज्य भी पृथ्वीराज को सौंप दिया तो उसी समय के आस–पास चन्दवरदायी भी दिल्ली आकर पृथ्वीराज के सखा तथा राजकवि बन गए। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है कि चन्दवरदायी का समय (संवत् 1205-1149) के मध्य माना गया है।

चन्दवरदायी षडभाषा, व्याकरण, काव्य साहित्य, छन्द शास्त्र ज्योतिष, पुराण तथा नाटक आदि अनेक विधाओं में पारगंत थे। युद्ध

में, आखेट में, सभा में तथा यात्रा में पृथ्वीराज के साथ ही रहते थे। जब शहाबुद्दीन गोरी पृथ्वीराज को कैद करके गजनी ले गया तो कुछ दिनों पश्चात् चन्दवरदायी भी मुहम्मद गोरी के दरबार में पहुँचा तथा दिल्ली से जाते हुए अपने महाकाव्य का अपने पुत्र जल्हण के हाथ सौंप गया। कहते हैं चन्दवरदायी ने पृथ्वीराज के साथ मिलकर शब्दभेदी बाण की कला में निपुण पृथ्वीराज द्वारा गोरी को मरवाने की सफल योजना बनाई।

वीरगाथाकाल के सर्वश्रेष्ठ कवि चन्द दिल्ली के अन्तिम हिन्दू सम्राट, पृथ्वीराज के राजसामन्त और राजकवि थे। उनके जन्म के विषय में कहा जाता है कि 'रासो' के आधार पर उनका जन्म संवत् 1205 ई० में हुआ था। इनके पिता का नाम बैण अथवा रावबेणु था। चन्द षट्भाषाओं, व्याकरण, काव्य, साहित्य, छन्दशास्त्र, ज्योतिष, पुराण आदि अनेक विषयों के ज्ञाता थे। चन्द के पुत्रों में जल्हण सबसे योग्य था और इसी ने अधूरे रासो को चन्द की मृत्यु के पश्चात् पूरा किया था। ऐसी जनश्रुति प्रचलित है। 'रासो' में चन्द ने अपने आश्रयदाता और मित्र राजा पृथ्वीराज का यशोगान किया है। 'रासो' चन्दवरदाई का अमर काव्य है।

9.2 अमीर खुसरो

अमीर खुसरो भारतवर्ष के बहुत बड़े प्रतिष्ठित कवि रहे हैं। सौन्दर्य, संस्कृति, प्रकृति, हास्य–व्यंग्य आदि विषयों को अपनी अनुभूति के केन्द्र में रखकर उन्होंने भारतवर्ष को कालजयी और उजासमयी रचनाएँ प्रदान की हैं। अमीर खुसरो अनूठी प्रतिभा के अनूठे साहित्य–साधक थे। उनका जन्म 1250 ई० एटा (उत्तर प्रदेश) जिले के पटियाली नामक गाँव में हुआ था। इनके पिता का नाम सैफुद्दीन महमूद था। बाल्यावस्था में ही अमीर खुसरो के पिता का किसी लड़ाई में निधन हो गया था। इसके पश्चात उन्हें अपने नाना के यहाँ आश्रय ग्रहण करना पड़ा। खुसरो के नाना का घर भारतीय सभ्यता और भारतीय संस्कृति का केन्द्र था। वहीं पर उन्होंने हिंदी के साथ, संस्कृत, फारसी, तुर्की, अरबी तथा अन्य प्रादेशिक भाषाओं में कुशलता दक्षता प्राप्त की। 18 वर्ष की कम आयु में ही खुसरो दिल्ली के साहित्यिक गलियारों में चर्चित हो गए।

अमीर खुसरो कई सुल्तानों के आश्रय में रहे। पहला आश्रय उन्हें मलिक छज्जू जो उनका भतीजा था, का मिला। इस आश्रय स्थल पर खुसरो दो वर्ष तक रहे। इसके बाद वे बादशाह बलबन के छोटे पुत्र बुगराखाँ के दरबार में तीन साल तक रहे। तत्पश्चात् खुसरो बलबन के बड़े लड़के सुल्तान हाकिम के दरबार मुलताना में लगभग पाँच वर्ष तक रहे। इसके अतिरिक्त खुसरो सुल्तान अलाउद्दीन खिलजी, सुल्तान कुतुबुद्दीन, सुल्तान मलिक तुगलक, मुहम्मद तुगलक आदि के दरबार में रहे। दरबारों में रहकर उन्होंने अनेक प्रकार के जीवनानुभवों को प्राप्त किया।

प्रख्यात सूफी संत हजरत निजामुद्दीन औलिया अमीर खुसरो के गुरू थे। 1325 ई० में उनका निधन हो गया था। गुरू निधन से अमीर खुसरो पागल से हो जाते हैं और अपना सर्वस्व लुटाकर गुरू की समाधि--सेवा में लीन हो जाते हैं। हजरत निजामुद्दीन की मृत्यु के थोड़े समय पश्चात ही उनका भी निधन हो जाता है। अमीर खुसरो की समाधि हज़रत निज़ामुद्दीन के पैताने बनी हुई है, जो सभी जाति और सभी धर्म के लोगों के लिए पूजनीय है। अमीर खुसरो को अपनी मातृभाषा पर गर्व था। उन्हें हिन्दुस्तानी होने का भी गर्व था। उन्होंने स्वीकार किया कि वे हिंदी को पानी के सहज प्रवाह के समान बोल सकते है–'तुर्क–ए–हिन्दुस्तानयम मन हिन्दवी गोयम चू आब'–उन्होंने हिन्दी को तुर्की और फारसी से भी श्रेष्ठ माना है। यथा–

"इस्बात मुफ्त व हुज्जत कि राजेहू अस्त।
बर पारसी व तुर्की अज़ अल्फाज़े खुशगवार।।

अमीर खुसरो प्रतिभावान विद्वान थे उन्हें लोकशास्त्र ओर लोकसाहित्य का भी सम्यक ज्ञान था। इसीलिए वे अरबी, फारसी, तुर्की हिंदी में पर्याप्त रचनाएँ रचने में समर्थ हो सके। विद्वानों ने अमीर खुसरो की रचनाओं की संख्या 199 बताई है, किन्तु प्राप्त रचनाओं की संख्या 28 के लगभग रही है। खुसरो की प्रसिद्ध फारसी रचनाओं का ब्योरा इस प्रकार है–वस्तुल हयात, गुर्रतुल कमाल, निहायतुल कमाल, वकीयः नकीयः, किरानुस्सादैन, ताजुल–मुफ्तूह, नुह सिपहर, खम्स–ए–खुसरो, खिज्रनामा, तारीख–ए–अलाई, तुगलकनामा आदि।

अमीर खुसरो फारसी के सिद्ध कवि थे, लेकिन उन्होंने हिंदी में भी पर्याप्त रचनाए रची है। उनकी रचनाओं की संख्या निश्चित नहीं कही जा सकती है। उन्होंने हिंदी की वकालत करते हुए अपने ग्रंथ 'गुर्रतुलकमाल' की भूमिका में लिखा है–

"चूं मन तूती-ए-हिन्दम अर रासत पुर्सी
ज़मन हिन्दवी पुर्स ता नग्ज़ गोयम।

अर्थात सही समझों तो मैं हिन्दुस्तान की तूती हूँ। यदि तुम मुझसे मीठी बातें करना चाहते हो तो हिन्दवी में बात करो। अमीर खुसरो की हिंदी में कोई प्रामाणिक रचना नहीं मिलती है। इसका अर्थ यह नहीं लगाया जा सकता कि उन्होंने हिंदी में रचनाएँ ही नहीं की है। डा० भोलानाथ तिवारी ने खुसरो की प्राप्त हिन्दी कविताओं को निम्नलिखित वर्गों में विभाजित किया है। (i) पहेलियाँ, (ii) मुकरियाँ, (iii) निस्बतें, (iv) दो सखुन, (क) हिंदी (ख) फारसी और हिंदी (v) ढकोसले, (vi) गीत, (vii) कव्वाली, (viii) फारसी–हिंदी मिश्रित छंद।

(ix) सूफी दोहे, *(x)* ग़ज़ल, *(xi)* फुटकल छंद, *(xii)* खालिकबारी। अमीर खुसरो की जनसामान्य में अतिशय प्रतिष्ठा का कारण उनकी पहेलियाँ, मुकरियाँ, निस्बतें दो सखुन आदि हैं। ये लोक जीवन से ही केवल सम्बद्ध नहीं है, वरन् लोकजिह्य पर भी विद्यमान हैं। पहेलिया बौद्धिक व्यायाम से सम्बद्ध होती हैं, मुकरियाँ, 'मुकरने' के भाव से जुडी है और निस्बतें शब्दक्रीड़ा से युक्त हैं।

पहेली– (बूझ पहेली) **बीसो का सिर काट लिया। न मारा न खून किया।**

मुकरी– **सगरी रैन मोरे सँग जागा। भोर भयी तो बिछुड़न लागा।**
बाके बिछुडे फाटत हिया। ऐ सखि साजन, न सखि दिया।

अमीर खुसरो प्रेम और सौन्दर्य के विशिष्ट रचनाकार हैं। उनकी प्रेम–चेतना और सौन्दर्य–भावना में भारत के अध्यात्म जगत को देखा जा सकता है। अमीर खुसरो की अध्यात्म चेतना लोक चेतना से भरपूर अभिषिक्त हैं इसमें प्रकृति का, रहस्य का, जीवन का, समाज का सच्चा प्रतिरूप दृष्टिगोचर होता है। अमीर खुसरो द्वारा रचित बाबुल का गीत उनकी सौंदर्य और राग की समग्र अनुभूति को उजागर करता है, यथा–

काहे को बियाहे बिदेस, सुन बाबुल मोरे। हम तो बाबुल तोरे बाग की कोयलिया,
कुहकत घर-घर जाऊँ, सुन बाबुल मोरे। चुग्गा चुगत उड़ि जाऊँ, सुन बाबुल मोरे।

हास्य और व्यंग्य भी अमीर खुसरो की कविता की अन्यतम प्रवृत्ति है। दरबार ने उनकी इस प्रवृत्ति को पैदा किया और उसी ने इसको विकास और प्रकाश भी दिया। हास्य और व्यंग्य के माध्यम से खुसरो ने बन्धुत्व, सद्भाव, निरभिमानता, आशा, आह्लाद, आनन्द, मैत्री आदि को सम्प्रेषित करने का प्रशंसनीय प्रयास किया हैं।

अमीर खुसरो का भाषा पर असाधारण अधिकार था। उन्होंने कविता को लोक से जोड़ने का प्रयास किया। उनकी भाषा हिन्दी या खड़ी बोली है जो उस समय दिल्ली के आसपास बोली जाती थी। इसके साथ ही, उनकी भाषा पर बोलियों का भी प्रभाव देखा जा सकता है। अमीर खुसरो ने अपनी रचनाओं में पद, दोहे गीत, गज़ल आदि काव्य रूपों का विधान किया है। उनके यहाँ अलंकार का अनायास व्यवहार भी देखा जा सकता है। खुसरो की अभिव्यक्ति–शक्ति उनकी संवेदना को और अधिक व्यापक तथा प्रभावशाली बनाने में अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करती हैं।

अमीर खुसरो बड़े ही विनोदप्रिय और सहृदय व्यक्तित्व के स्वामी थे, सामान्य जन–जीवन में विश्वास रखते थे। जन–जीवन के साथ घुल–मिलकर रहना उनका स्वभाव बन चुका था। इसीलिए उनकी रचनायें भी महत्त्वपूर्ण स्थान अर्जित कर पायी।

रचनाएँ

अमीर खुसरो का हिंदी साहित्य के इतिहास में महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है क्योंकि उन्होंने अपनी रचनाओं द्वारा भिन्न–भिन्न विषय प्रस्तुत कर मनोविनोद और मनोरंजन की सामग्री प्रस्तुत की। अपभ्रंश मिश्रित और डिंगल भाषा पर उन्होंने सर्वप्रथम खड़ी बोली और ब्रजभाषा का सफलतापूर्वक प्रयोग किया।

उनकी रचनाओं में भारतीय और इस्लामी संस्कृतियों के समन्वय का पता चलता है। उनकी रचनाओं से लोक–भावनाओं का परिचय प्राप्त हो जाता है। उनकी प्रमुख रचनाएँ इस प्रकार थी–खलिकबारी, पहेलियाँ, मुकरियाँ, दो सुखने, गजल, आदि। सवंत् 1381 ई० में इनकी मृत्यु हो गई थी।

9.3 विद्यापति

जन्म परिचय: विद्यापति का जन्म 1360 ई० के आस–पास मिथिला प्रांत में बिसपी नामक ग्राम में हुआ। इनके पिता गणपति ठाकुर उच्च कोटि के विद्वान तथा राज्यमंत्री थे। इससे विद्यापति को प्राचीन साहित्य एवं भाषाओं के अध्ययन की पूर्ण सुविधा मिलती रही।

रचनाएँ: विद्यापति की प्रमुख रचनाएँ भूपरिक्रमा, पुरूष परीक्षा, लिखनावली, विभागसार, वर्षकृत्य, गंगावाक्यावली, कीर्तिलता, कीर्तिपताका आदि रही हैं।

यद्यपि विद्यापति ने अनेक ग्रथ संस्कृत तथा अवहट्ट भाषा के लिखें, पर इनकी प्रसिद्धि विशेषता 'पदावली' के कारण ही हुई। 'पदावली' के कारण ही विद्यापति मैथिली कोकिल के नाम से प्रसिद्ध है। विद्यापति समय–समय पर जो पद मैथिली भाष' में गाते रहे, उन्हीं का संग्रह 'विद्यापति पदावली' के नाम से प्रसिद्ध है।

'विद्यापति की पदावली' का हिन्दी साहित्य में अपना पृथक महत्त्व रहा है। इसमें ऐसे पद पाए जाते हैं जिनका आदर राजाओं के प्रासादों से लेकर झोंपड़ियों तक समान रूप से है।

विद्यापति के बारे में कहा जा सकता है कि वे शृंगारी कवि थे। विद्यापति शैव थे। इसलिए उनकी शिवस्तुति और दुर्गास्तुति में भक्ति भावना की जो गहनता मिलती है राजा–कृष्ण विषयक कविता में नहीं मिलती। कहा जाता है कि विद्यापति के पदों को सुनकर महाप्रभु चैतन्य भक्ति के आवेश में लोट–पोट हो जाते थे।

विद्यापति का व्यक्तित्व विविधमुखी है। हिन्दी काव्यकारों में विद्यापति का स्थान बहुत ऊँचा माना जाता है। इनकी कविता इतनी लोकप्रिय हुई कि बंगाली, बिहारी और हिंदी प्रदेश के लोग इन्हें अपना–अपना कवि सिद्ध करने लगे। काल के हिसाब से विद्यापति की गणना आदिकाल के अन्तर्गत मानी जाती है।

विद्यापति अनेक राजाओ के आश्रय में रहे। विद्यापति का सारा जीवन राजदरबारों में बीता। वे कीर्तिसिंह, देवसिंह, शिवसिंह, पदमसिंह, हरिसिंह आदि राजाओं के आश्रम में रहे। शिवसिंह ने मिथिला पर अनेक वर्षों तक राज किया। वास्तव म शिवसिंह का शासनकाल विद्यापति के जीवन का उत्कर्ष काल था। राजा शिवसिंह उनके आश्रयदाता ही नहीं, बाल सखा भी थे।

विद्यापति का व्यक्तित्व और कृत्तित्व अन्यतम है। इसीलिए कवि को सम्मान के रूप में अनेक उपधियाँ दी गई। उदाहरणार्थ–अभिनव जयदेव, कविरंजन, कवि शेखर राजपण्डित आदि। विद्यापति अनेक आयामी प्रतिभा के रचनाकार थे। संस्कृत, अवहट्ठ और मैथिली भाषा पर उनका विशेष अधिकार था। इसीलिए तीनों ही भाषाओं में उनकी रचनाएँ प्राप्त होती हैं। रचनाओं का विवरण इस प्रकार है–

संस्कृत रचनाएँ: (i) पुरूष परीक्षा, (ii) भूपरिक्रमा, गंगा वाक्यावली, विभासागर, दानवाक्यावली, दुर्गा भक्तिरंगिणी, गयापत्तलक, वर्णकृत्य, मणिमंजरी।

अवहट्ठ भाषा में रचित पुस्तकें: कीर्तिलता, कीर्तिपताका।

मैथिली की रचनाएँ: इसमें विद्यापति कृत पद आते हैं। इन पदों की संख्या लगभग एक हजार है। विद्यापति ने इन पदों की रचना विविध भाव दशाओं में की है। ये गीत विद्यापति की अमरता को कायम रखे हुए हैं।

विद्यापति की कविताओं मे उनकी भक्ति भावना का सहज सम्प्रसार देखा जा सकता हैं। राधा–कृष्ण, सीता–राम, शिव–शक्ति, गंगा, भैरवी गणेश आदि देवी–देवों से सम्बन्धित अनेक पद उन्होंने लिखे हैं। अनेक विद्वानों ने उन्हें भक्त स्वीकार किया है। उनको भक्त प्रमाणित करने वाली अनेक किंवदंतियाँ भी लोक में व्याप्त हैं। इन विविध आयामों के विकास और विस्तार को देखकर यह स्वीकार करने मे संकोच नहीं रह जाता है कि विद्यापति की कविता–विद्यापति के पद, भक्ति–भावना की सहज प्रकृति से पुष्ट है।

विद्यापति की कविता का दूसरा आयाम श्रृंगार और सौन्दर्य है। विद्यापति का दरबार में रहना, सौंदर्य का शरीरी–सामाजिक वर्णन करना, वयःसन्धि का निरूपण करना, जयदेव की परम्परा में आना विद्यापति को श्रृंगारी कवि की परिधि में लाता है। उन्होंने हरिकथा के समान अनन्त सौंदर्यकथा की अपूर्ण अवतारणा की है। उसके मर्म को समझाते–बुझाते हुए उन्होंने लिखा है–

सखि हे, पुछसि अनुभव मोय।
सेहो पिरीत अनुराग बखाइत।
तिले-तिले नूतन होय।
जनम अवधि हम रूप निहारल।
नयन न तिरपित भेल।।

विद्यापति सौंदर्य के सच्चे सर्जक, साधक और आराधक थे। सौंदर्य की सान्द्रता उनका शील और वही उनकी शक्ति थी। विद्यापति सौंदर्य में खूब रमे थे और सौंदर्य की सजलता ने उनके मन तथा प्राणों को सरसित कर रखा था। इसी कारण वे ऐसे सौंदर्य की सर्जना कर सकने में समर्थ हो सके है जो द्रष्टा को भावक, विस्मित, चकित करता है। विद्यापति के पद, चाहे वे श्रृंगारमूलक हों यह भक्तिमूलक हों, सौंदर्यमूलक हो या सांस्कृतिमूलक, गीतात्मक है। हिंदी जगत् के विद्वानों ने उन्हें हिंदी गीतिकाव्य परम्परा का वास्तविक प्रवर्तक स्वीकार किया है। अपनी गीतिशैली की मधुरता, मदिरता तथा प्रभविष्णुता के लिए विद्यापति हिन्दी साहित्य म अनूठे–अनुपम हैं। वैयक्तिकता, रागात्मकता, काल्पनिकता, भाव एकता, संक्षिप्तता, शैलीगत सुकुमारता, संगीतात्मकता, लोकतत्त्व आदि विशेषताओं से विद्यापति के गीत आनन्दित आन्दोलित है। उनके गीतों में एक गीत अवलोकनीय है–

डम डम डम्फ दिमिक द्रिमि मादल, रूनु झुनु मंजीर बोल।
किंकिनि रनरनि बलआ कनकनि, निधु बने राम तुमुल उतरोल।
बीन खाब मुरज स्वर मंडल, सा रि ग म प ध नि सा बहुविधभाव।
घटिता घटिता धुनि मृदंग गरजनि, चंचल स्वर मण्डल करू राव।।
स्रमभरे गलित लुलित कबरीजुत, मालति माल विथारल मोति।
समय बसंत रास रस वर्णन, विद्यापति मति छोमित होति।

भाषा और शिल्प की दृष्टि से भी विद्यापति की प्रतिभा अनेकोन्मुखी है। संस्कृत, अवहट्ठ और मैथिली में उन्होंने रचनाएं की हैं उनके समस्त गीत, मैथिली भाषा में हैं, जो उनकी कीर्ति की ध्वजाएँ हैं।

विद्यापति का देहावसान: विद्यापति की मृत्यु 1450 ई० में मानते हैं।

अध्याय – 3

हिंदी साहित्य का भक्तिकाल

10. भक्तिकालीन परिवेशः ऐतिहासिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, साहित्यिक

भक्ति काल का उद्‌भव विशेष परिस्थितियों में हुआ है। भारत मुस्लिम शासन में अनेक विषमताओं से जूझ रहा था। ऐसे में जनमानस को आस्था विश्वास और भक्ति से ही जीने का मार्ग मिलता है। इस काल की प्रमुख प्रवृत्तियाँ रेखाकंन योग्य है

10.1 ऐतिहासिक परिवेश

हिंदी साहित्य का मध्यकाल भारत में मुस्लिम साम्राज्य के क्रमिक उत्थान–पतन का युग है। उस समय का शासक दिल्ली का सुलतान मुहम्मद बिन तुगलक उत्तर से दक्षिण तक अपने राज्य का विस्तार करना चाहता था। इसी विचार का लक्ष्य कर उसने दिल्ली की अपेक्षा देवगिरी को अपनी राजधानी बनाया और उसका नाम दौलताबाद रखा। 1375 से 1700 विक्रमी संवत् तक दास, खिलजी, तुगलक, सैयद, लोदी, मुगल आदि वंशों के व्यक्ति दिल्ली की गद्दी पर रहे। जाति और संस्कृति की दृष्टि से ये विदेशी ही बने रहे। भले ही इनमें से अनेक का जन्म भारत में हुआ था। धार्मिक दमन, राज्य विस्तार के लिए निरन्तर युद्ध तथा ऐश्वर्य और विलासिता का जीवन इनकी विशेषताएँ रही जिसके परिणामस्वरूप हिंदी धर्म व वैष्णन भक्ति के पुनर्जागरण को बल मिला। अपने धर्म की रक्षा के लिए एक अखिल भारतीय धार्मिक आन्दोलन, जिसे भक्ति आन्दोलन भी कहा जाता है, प्रारम्भ हुआ। भक्ति आन्दोलन के प्रेणेता दार्शनिक, संत, महात्मा और समाज–सुधारक थे जिन्होंने एक ओर इस्लाम की आक्रामकता के विरूद्ध जन–जन को संगठित किया, वहीं दूसरी ओर सद्‌भाव स्थापित करने का प्रयास भी किया।

सोलहवीं शती के मध्य में बाबर ने मुगल सल्तनत की नींव डाली उसने मेंवाड़ के राणा सांगा को पराजित करके राजपूतों के प्रतिरोध को रोक दिया, किन्तु पठानों ने हिम्मत न हारी। पठान शासक शेरशाह सूरी ने हुमायूँ को पराजित किया। शेरशाह के उत्तराधिकारी अयोग्य निकले ओर मुगलों का नेतृत्त्व अकबर जैसे प्रतिभाशाली व्यक्ति के हाथ में आ गया। कालान्तर में सम्राट अकबर के सामने देश के छोटे–छोटे हिन्दू और मुसलमान शासकों ने एक–एक कर घुटने टेक दिये। अकबर का प्रतिरोध महाराणा प्रताप ने किया और वे आजीवन लड़ते रहे। शाहजहाँ के शासन के अन्तिम दिनों में बुन्देलखण्ड में चंपतराय और महाराष्ट्र में शिवजी ने स्वतन्त्रता का झंडा ऊँचा किया।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भक्तिकाल का सामान्य परिचय देते हुए कहा है, "देश में मुसलमानों का राज्य प्रतिष्ठित हो जाने पर हिंदू जनता के हृदय में गौरव, गर्व और उत्साह के लिए वह अवकाश न रहा गया।" कोई भी साहित्य युग परिस्थितियों से प्रभावित हुए बिना नहीं रहता है। किन्तु भक्तिकालीन साहित्य परिस्थितियों से बहुत कम प्रभावित हुआ। एक भक्तिकालीन कवि ने लिखा है।
'सन्तन कहा सीकरी सों काम।'

वह न तो राजदरबार को महत्त्व देते थे और न प्राकृत–जन का गुणगान करते थे। मुस्लिम शासक केवल अनुदार एवं असहिष्णु ही नहीं कहे जा सकते। उनके शासन–काल में संस्कृत एवं देशी भाषाओं के साहित्य, संगीत और कला को प्रोत्साहन मिला। जौनपुर के सुल्तानों ने शास्त्रीय संगीत का पुनरूदार करवाया तथा 'संगीत शिरोमणि' नामक संस्कृत ग्रंथ का निर्माण कराया। भक्ति काव्य का धर्म विकास मुगल–साम्राज्य के समय में हुआ है, किन्तु राजनीतिक व्यवस्था के प्रति असन्तोष इन कवियों की वाणी में यत्र–तत्र अवश्य मिल जाता है। जैसे–

"म्लेच्छनि भार दुखित मेंदिनी।"

"वेद धर्म दूरि गये, भूमि चोर भूप भये।
साधु सीद्यमान जान रीति पाप पीन की ।।"

10.2 सामाजिक परिवेश

इस युग में सामाजिक परिस्थितियों में क्रान्तिकारी परिवर्तन हुआ। हिन्दू–मुस्लिम संस्कृति में आदान–प्रदान हुआ। उस समय तक हिन्दू–मुसलमानों में परस्पर विवाह हो जाते थे। किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं है कि हिन्दुओं और मुसलमानों में पूर्ण समन्वय स्थापित

हो गया था। कुछ मुसलमान शासक हिन्दुओं के साथ अत्यंत कठोर व्यवहार करते थे। अलाउद्दीन ने दोआब के हिन्दुओं से उपज का 50 प्रतिशत भाग कर के रूप में बड़ी कठोरता से वसूल किया था। उस युग के हिन्दुओं की आर्थिक विपन्नता का चित्र खींचते हुए 'तारीखे फिरोजशाही' के लेखक बर्नियर का कहना है कि "उन हिन्दुओं के पास धन संचित करने के कोई साधन नहीं रह गये थे और उनमें से अधिकांश को निर्धनता, अभावों एवं आजीविका के लिए निरन्तर संघर्ष में जीवन बिताना पड़ता था। प्रजा के रहन–सहन का स्तर बहुत निम्न कोटि का था। करों का सारा भार उन्हीं पर था। राज्य पद उनको अप्राप्त थ।" तुलसीकृत 'कवितावली' की निम्नलिखित पंक्तियों से तत्कालीन समाज की स्थिति स्पष्ट झलकती है–

खेती न किसान को, भिखारी को न भीख बलि।
बनिक को बनिज न चाकर को चाकरी।।

जीविका विहीन लोग सीघमान सोच बस।
कहँ एक एकन सौं, कहाँ जाई, का करी।।

आचार्य परशुराम चतुर्वेदी ने तत्कालीन सामाजिक परिस्थिति का विवेचन करते हुए लिखा है। "दैनिक जीवन, रीति रस्म, रहन–सहन, पर्व–त्यौहार आदि की दृष्टि से तत्कालीन भारतीय समाज, सुविधा–सम्पन्न और असुविधा–ग्रस्त इन दो वर्गों में विभक्त था। प्रथम वर्ग में राजा–महाराजा, सुल्तान, अमीर, सामन्त और सेठ–साहूकार आते थे, जिनमें मनमाने ढग से वैभव प्रदर्शन की उल्लासपूर्ण प्रवृत्ति पायी जाती थी। द्वितीय वर्ग में किसान, मजदूर, सैनिक, राज्य–कर्मचारी और घरेलू उद्योग–धन्धों में लगी सामान्य जनता थी जो प्रथा–परम्परा का पालन कर संतोष की साँस ले लिया करती थी।"

हिन्दुओं में जाति–पाति के बंधन दिन–प्रति–दिन कठोर होते जा रहे थे, किन्तु इनके प्रति आवाज भी उठ रही थी। महाराष्ट्र के नामदेव की भाँति उत्तर भारत में रामानन्द और उनके शिष्य कबीर खुलकर इसका विरोध कर रहे थे। उन्होंने सामाजिक रूढ़ियो का खडन किया। हिंन्दू–मुस्लिम एकता का संतों का प्रयास मुगल–काल में संगीत, कला आदि के क्षेत्रों में दोनों संस्कृतियों के समन्वय में देखा जा सकता है।

तत्कालीन साधु–समाज पर भी पाखण्ड की काली छाया मंडराने लगी थी। भारतीय मुस्लिम समाज की अवस्था हिन्दुओं से अधिक भिन्न न थी। वर्ग–व्यवस्था में आस्था न रखने वालों में भी किसी न किसी प्रकार का आपसी भेदभाव बना हुआ था। इन दिनों दास प्रथा भी प्रचलित थी। हिन्दू कन्याओं को सम्पन्न मुसलमान अधिकाधिक संख्या में क्रय करके अपने घरों में रख लिया करते थे। कुलीन नारियों का अपहरण करवाकर अमीर लोग अपना मनोरंजन करते थे। स्त्रियों को पुरूष जैसा स्तर व सम्मान प्राप्त नहीं था। मुस्लिम महिलाओं की स्थिति हिन्दू स्त्रियों से अधिक भिन्न न थी। बहु विवाह प्रथा के कारण हरमों में इनकी दुर्गति हुआ करती थी। मुस्लिम समाज अपने मूल रूप को खोकर एक प्रकार से भारतीयकरण में प्रचलित हो गया था।

10.3 सांस्कृतिक परिवेश

तत्कालीन समय में हिन्दू और मुस्लिम संस्कृतियाँ एक–दूसरे के निकट आई। संगीत, चित्र तथा भवन–निर्माण कलाओ में दोनों संस्कृतियों के उपकरणों में समन्वय स्थापित हुआ। समन्वयात्मकता भारतीय संस्कृति की मूलभूत विशेषता है। पुराणों में समन्वयात्मकता को जागृत करने व उसे बढ़ावा देने का यथा–सम्भव प्रयास किया गया है। मूर्ति–पूजा तीर्थ यात्रा, धर्म–शास्त्रों का सम्मान, कर्म फल में विश्वास, अवतारवाद अथवा सगुण भक्ति का ही सर्वत्र आधिपत्य दिखाई देता है। भारतीय समाज में समय–समय पर विदेशी और विजातीय तत्त्वों के आते रहने के कारण परस्पर संघात होते रहे हैं। परन्तु इन्हीं में से होकर एक जीवनी–शक्ति का संचार भी होता रहा है कि भारतीय साहित्य डूबते–डूबते उभरकर इस युग की एक अन्य उल्लेखनीय विशेषताओं में गिना जा सकता है, जिनकी धुरी पर हिन्दू जीवन चक्र चलता रहा और इस्लाम के भारत–प्रवेश के पूर्व तक अविकृत रूप में प्रचलित रहा। मध्यकालीन हिन्दू समाज के दो पक्ष उभरकर हमारे सामने आते हैं। एक वह जो शास्त्रों का समर्थक है और दूसरा वह जो परम्परागत विश्वासों तथा मान्यताओं अथवा स्वानुभूति का पक्षधर है। यह दूसरा पक्ष ही पौराणिक पक्ष है। परवर्ती आचार्यों ने इन्हीं मतों की व्याख्या प्रतिव्याख्या के रूप में विशिष्टाद्वैत, केवलाद्वैत, द्वैताद्वैत, शद्धाद्वैत आदि मतों की स्थापना की। इन सभी में ईश्वर को निरपेक्ष मानकर उसकी भक्ति का प्रतिपादन किया गया है, परन्तु आत्मा, परमात्मा, मोक्ष, पुनर्जन्म आदि के सिद्धान्त प्रायः ज्यों के त्यों रह गये हैं।

ईश्वर और मनुष्य के बीच संबंध स्थापित करने का एक माध्यम धर्म है। जाति, कुल, देश–काल और परिस्थितियों से निरपक्ष होकर नैतिक दायित्व का निर्वाह करना धर्म है। धर्माचार अथवा नैतिकता समाज परक है और धर्म साधनाव्यक्तिनिष्ठ। साध्य और साध का एकीकरण साधना के माध्यम से होता है। परन्तु इस काल में धर्म–साधनों की बाढ़ सी आ गई और गुप्त साधनाओं के अन्तर्गत तुच्छ साधनाएँ भी इसमें प्रवेश कर गई। धर्माचार के नाम पर अनाचार, मिथ्याचार और व्याभिचार तक पलने लग गया। फलस्वरूप

ज्ञान–चर्चा की आड़ में पाखण्ड को प्रश्रय मिलने लगा और समाज में एक प्रकार की अराजकता फैल गई।

मध्यकाल में अरूचि और संस्कार का प्राधान्य था। इस कारण बहुधा सामजस्य बिगड़ जाता था। और सन्तुलन बनाये रखने के लिए बार–बार समन्वय की ओर उन्मुख होना पड़ता था। इस प्रकार मध्यकाल में भारत की सामाजिक संस्कृति का रूप और अधिक निखरने लगा। ताजमहल और लाल किला भारतीय तथा ईरानी वास्तुकलाओं के सम्मिश्रण के उत्तम निदर्शन है। नायक–नायिकाओं के नयनाभिराम चित्रों तथा विविध कलाओं के रूप में दोनों जातियों की चित्र कलाओं का समागम दर्शनीय है। एलोरा के समीप कैलास मन्दिर में शिव की मूर्ति के सिर के ऊपर बोधिवृक्ष स्थित है। खजुराहो से उपलब्ध कोक्कल के वैधनाथ मन्दिर वाले शिलालेख में ब्रह्म, जिन, बुद्ध तथा वामन को शिव का स्वरूप कहा गया है।

10.4 साहित्यिक परिवेश

भक्तिकाल में जिस साहित्य की रचना हुई वह अधिकांश पद्य में अर्थात् छन्दोबद्ध काव्य रूप में है। उस समय संस्कृत तो उच्च हिन्दू वर्ग के लोगों की काव्य भाषा थी। शाही दरबारों में अरबी–फारसी को प्रयोग होता था। परन्तु हिन्दी की लोकभाषाओं का, विशेष रूप से अवधी तथा ब्रजभाषा का, काव्य में प्रयोग होता था। कबीर ने तो ऐसी मिली–जुली लोकभाषा का प्रयोग किया है जिसे सधुक्कड़ी खिचड़ी अथवा सन्ध्या भाषा कहा गया है। भक्तिकाल में प्रबन्धकाव्य, मुक्तक काव्य तथा गीतिकाव्य की रचना हुई। संस्कृत भाषा के कुछ ग्रंथों की टीकाएँ भी हुई। हिंदी भाषा और साहित्य ने भक्तिकालीन परिवेश में उच्चकोटि का सहित्य रचने की पृष्ठभूमि नहीं बल्कि चरम विकास प्राप्त किया। कबीर, सूर तथा तुलसी की रचनाएँ साहित्यिक परिवेश की अनुपम देन हैं।

भक्तिकालीन साहित्य चरमोत्कर्ष का साहित्य था। इसकी विशेषताएँ अन्य कालों से कही अधिक चरम सीमा पर थी।

1. **गुरू की महिमा का वर्णन:** सभी संतों तथा भक्तों ने गुरू की महत्ता का स्वीकार किया है, क्योंकि भक्तिमार्ग में वही व्यक्ति दीक्षित होता है जिस पर गुरू की कृपा हो। बिना गुरू के ज्ञान होना संभव नहीं। निर्गुण भक्तिधारा के प्रमुख संत कबीर ने तो गुरू को गोबिन्द अर्थात् ईश्वर से भी पहले पूजने की बात कहीं है जैसे कि–

   "गुरू गोबिन्द दोऊ खड़े, काके लागूं पाय।
   बलिहारी गुरू आपकी, जिन गोबिन्द दियो बताय।।"

   सगुण भक्तिधारा में तुलसीदास ने भी ऐसा ही कहा है–

   "बिना गुरू कहां ते पाऊं, दीजो ज्ञान हरिगुण गाऊं।" अथवा

   रामचरिमानस के आरम्भ में बालकाण्ड में लिखा है।
   "बन्दौं गुरूपद पदुम परागा"।

   सूरदास ने भी गुरू की महत्ता एवं कृपा को स्वीकार किया है। सूफी संत जायसी ने भी भक्तिमार्ग दिखाने वाले गुरू को ही स्वीकारते हुए लिखा है
   "गुरू सूआ जेहि पंथ दिखावा"।

2. **नामकरण अथवा नाम की महत्ता:** ईश्वर को चाहे निर्गुण मानने वाले सन्त हो अथवा सगुण मानने वाले भक्त कवि हो सभी ने राम, कृष्ण तथा अल्लाह के नाम को स्मरण करने की बात कही है। तुलसी ने तो कलियुग में केवल 'राम नाम' को आधार मान कर 'कलियुग केवल नाम अधारा' कहा, संत कवियों ने राम और रहीम में कोई अंतर नहीं माना, परन्तु कबीर के 'राम' और तुलसी के 'राम' में भिन्नता देखी जा सकती है।

3. **भक्तिभावना का प्राधान्य:** सारे भक्ति साहित्य में भक्ति की प्रधानता दिखाई पड़ती है। संत कबीर ने भक्ति के बिना सारे संसार को डूबा हुआ और मरा हुआ ही माना है। वे कहते है–
   "हरि भक्ति जाने बिना बूढ़ि मुआ संसार।"

   भक्तों ने भी उस ज्ञान का खण्डन किया है जो भक्ति के विरूद्ध है। सूरदास ने गोपियों के माध्यम से उद्धव को कहलवाया है–
   "बार-बार वचन निवारो, भक्ति विरोधी ज्ञान तिहारो"।

4. **प्रेमभाव की अभिव्यक्ति**: भक्तिकालीन साहित्य में मनुष्यमात्र तथा ईश्वर के प्रति सच्चे प्रेम की भावना देखी जा सकती है। संत कबीर ने तो पंडित अथवा विद्वान होने की कसौटी ही प्रेम को बताया है।

"पोथी पढ़ि पढ़ि, जग मुआ, पंडित भया न कोय।
ढाई आखर प्रेम का, पढि सो पंडित होय।।

सूफी संतों ने भी प्रेम को भक्ति का आधार माना है।

5. **संसार के बंधनों से मुक्त होने का भाव**: सम्पूर्ण भक्तिसाहित्य में ईश्वर या ब्रह्म के प्रति राग तथा संसार के प्रति वैराग्य की भावना पाई जाती है। भक्ति को ही सांसारिक बधनों से छुटकारा दिलाने का साधन माना है। इसी वैराग्य भाव को मुक्ति अथवा मोक्ष की कामना भी कहा जा सकता है।

6. **सत्संग, भजन-कीर्तन व संगीत का महत्व**: भक्तिकालीन साहित्य में सत्संग की महत्ता स्वीकार करते हुए संतों की संगति को भक्तिभाव तथा शुद्धाचरण के लिए हितकर बताया है। सूर एवं तुलसी ने भी सत्संग की महत्ता स्वीकार की है। भक्ति साहित्य में लोक–संगीत तथा कीर्तन को भी उचित स्थान दिया गया है। तुलसी ने लिखा है
"बिनु सत्संग विवेक न होई"।

कबीर, तुलसी, सूर सभी ने सत्संग की महत्ता पर बल दिया है।

7. **जाति पाँति तथा ऊँच–नीच के भाव का खण्डन**: भक्ति साहित्य के क्षेत्र में जाति–पाँति, ऊँच–नीच तथा छूआ–छूत का सभी संतों, सूफियों तथा भक्त कवियों ने प्रबल खण्डन किया है। यह भी हो सकता है कि अधिकांश सन्त तथा भक्त तथाकथित निम्न जातियों अथवा हीन समझी जाने वाली जातियों से संबंधित थे। इसके अतिरिक्त भगवत् भक्ति में ऊँच–नीच के भाव को सर्वथा त्याज्य ही माना गया हैं क्योंकि ईश्वर की आराधना करने वाले एक समान है। कबीर ने कहा भी है।

"जाति न पूछो साध की, पूछ लीजियों ग्यान।
मोल करो तलवारि का, पड़ी रहन दो म्यान।।

तुलसी का भी मानना है कि
जाति–पांति पूछे नहि कोई, हरि को भजै सो हरि का होई।।

8. **भगवान तथा भक्त संबंधी भाव**: सच्चे भक्त तो भगवान को भी अपने वश में कर लेते है। भगवान से व्यक्तिगत सबंध स्थापित करने की बात संत कवि तथा सूफी भी मानते हैं। ऐसे कई प्रसंग भक्तिकालीन साहित्य में देखे जा सकते है जहाँ भक्त की लाज बचाने को भगवान को किसी न किसी रूप में आकर सहायता करनी पड़ी

"जब जब भीड़ पड़ी संतन पर आकर प्राण बचायें।"

इसी सन्दर्भ में किसी सूफी संत ने कहा है

"खुदी को जो खुद से जुदा देखते हैं
खुदी को मिटाकर खुदा देखते हैं।"

9. **लोक भाषा में लोक जीवन का दर्शन**: भक्तकाल के सभी संतों, भक्तों तथा रचनाकारों ने संस्कृत भाषा को न अपनाकर लोकभाषा ब्रज, अवधी अथवा सधुक्कड़ी मिली जुली साधारण बोलचाल की भाषा को अपने साहित्य का माध्यम बनाया।

11. भक्ति आन्दोलन

भक्ति भगवान के प्रति मानव की प्रेम भावना का प्रवाह है। इस भावना–प्रवाह से वह तो आनन्द की अनुभूति करता ही है जबकि उससे दूसरे लोग भी आनन्द की अनुभूति प्राप्त करते हैं। भक्ति का मूल उद्गम हमें वेदों से ही दिखाई पड़ने लगता है। वह उनकी भक्ति–भावना का ही प्रयास है। जिससे ऋषियों ने गहरी श्रद्धा और अनुरक्ति के द्वारा देवताओं पर ऋचाएँ लिखी हैं। विष्णु को भगवान रूप में प्रतिष्ठा मिल चुकी थी। गीता इसका प्रमाण है। इस कृति में ज्ञान, भक्ति और कर्म का श्रेष्ठ समन्वय भी हुआ है। पुराण साहित्य तो भक्ति की दृष्टि से विशेष महत्त्व रखते है। पुराण–काल में वैष्णव भक्ति का बड़ा ही चमत्कारी वर्णन मिलता है।

भक्ति आंदोलन के उदय का एक कारण मुसलमान आक्रान्ताओं को भी माना जाता है। इस सन्दर्भ में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का मत इस प्रकार है–"देश में मुसलमानों का राज्य प्रतिष्ठित हो जाने पर हिन्दू जनता के हृदय में गौरव, गर्व और उत्साह के लिए अवकाश न रह गया। उसके सामने ही उसके मंदिर गिराये जाते थे, देव मूर्तियाँ तोड़ी जाती थीं और पूज्य पुरूषों का अपमान होता था और

वे कुछ न कर सकते थे। ऐसी स्थिति में अपनी वीरता के गीत न तो वे गा ही सकते थे और न बिना लज्जित हुए सुन ही सकते थे। आगे चलकर जब मुस्लिम साम्राज्य दूर तक स्थापित हो गया तब परस्पर लड़ने वाले स्वतन्त्र राज्य भी नहीं रह गये। इतने भारी राजनीतिक उलटफेर के नीचे हिन्दू जनता पर उदासी छाई रही। अपने पौरूष से हताश जाति के लिए भगवान की शक्ति और करूणा की ओर ध्यान ले जाने के अतिरिक्त दूसरा मार्ग ही क्या था?"

भक्ति आन्दोलन के आचार्यों में शंकराचार्य, रामानुज, निम्बार्क, रामानन्द, महवाचार्य, बल्लभाचार्य, चैतन्य महाप्रभु आदि रहे हैं। हिंदी का भक्ति आन्दोलन संवत् 1400 से 1700 तक का माना गया हैं। इसमें प्रमुख रचनाकार कबीरदास, रैदास, नानक, जायसी, सूरदास, मीरा, तुलसीदास, आदि दिग्गज कवियों ने भक्ति कालीन परिवेश को आन्दोलन के रूप में उद्घाटित किया है।

भक्ति के उत्थान का तृतीय काल 1375 ई० से माना जाता है। इस काल में हिंदी साहित्य भक्ति से ओत–प्रोत था। इसलिए हिंदी–साहित्य के इतिहास में यह काल 'भक्ति–काल' कहलाता है। मध्यकालीन भक्ति का विकास दो शाखाओं में हुआ–निर्गुण तथा सगुण। इनकी भी दो–दो शाखायें है। निर्गुण में ज्ञानाश्रयी तथा प्रेमाश्रयी शाखा एवं सगुण में कृष्ण तथा राम–शक्ति की शाखा। इस प्रकार भक्ति आन्दोलन का संक्षेप में विश्लेषण इस प्रकार किया जा सकता है–

भक्ति दो भागों में प्रवाहित होकर चली

(1) सगुण (2) निर्गुण

सगुण भक्ति आगे दो भागों में विभाजित हुई–

(1) रामभक्ति (2) कृष्ण भक्ति

निर्गुण भक्ति के भी दो भाग इस प्रकार है–

(1) संत मत(ज्ञानाश्रयी) (2) सूफी मत (प्रेमाश्रयी)

भक्ति आंदोलन के विषय में विभिन्न विद्वानों के मत इस प्रकार रहे हैं–

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भक्ति आन्दोलन को पराजित मनोवृत्ति का परिणाम तथा मुस्लिम राज्य की प्रतिष्ठा की प्रतिक्रिया माना है। आचार्य शुक्ल ने लिखा है, "अपने पौरूष से हताश जाति के लिए भगवान की शक्ति और करूणा की ओर ध्यान ले जाने के अतिरिक्त दूसरा मार्ग की क्या था।" डा० ताराचन्द आदि विद्वानों ने माना है कि भारतीय भक्ति आन्दोलन मुस्लिम संस्कृति के सम्पर्क की देन है और शंकराचार्य, निम्बार्क, रामानुज, रामानन्द, वल्लभाचार्य, आलवार, संत तथा लिंगायत आदि सम्प्रदायों की दार्शनिक मान्यताओं पर मुस्लिम प्रभाव है।

प्रायः अधिकांश विद्वानों का मत है कि भक्ति का बिखा ऐसा नहीं है जो विदेशों से लाया गया हो। न ही यह निराशा प्रवृत्तिजन्य है और न ही किसी प्रतिक्रिया का फल। वस्तुतः यह एक प्राचीन दर्शन–प्रवाह और प्राचीन सांस्कृतिक परम्परा की एक अविच्छिन धारा हैं। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने कहा है, "नया साहित्य (भक्ति साहित्य) मनुष्य–जीवन के एक निश्चित लक्ष्य और आदर्श को लेकर चला। यह लक्ष्य हैं भगवद्भक्ति, आदर्श, शुद्ध सात्विक जीवन और साधन, भगवान के निर्मल चरित्र और सरस लीलाओं का गान। इस साहित्य को प्रेरणा देने वाला तत्त्व भक्ति है। इसीलिए यह साहित्य अपने पूर्ववर्ती साहित्य से अति उत्तम है।

मध्यकालीन भक्ति साहित्य प्रायः पद्यमय है और वहाँ साहित्य काव्य का पर्याय है। इसीलिए काव्य रसिकों अथवा साहित्य–पारखियों का ध्यान अचानक ही उन मानदण्डों की ओर आकृष्ट हो जाता है जिन्हें उत्कृष्ट काव्य की कसौटी मान लिया जाता है और जो किसी न किसी काव्यशास्त्र परम्परा का अनुसरण करते हैं। कबीर, जायसी, सूर तथा तुलसी जैसे संवेदनशील इस काल में छाये रहे। इस समय संस्कृत की टीकाओं, व्याख्याओं की सृष्टि होती रही।

धार्मिक संघर्ष के इस युग में तत्कालीन बादशाहों तथा राजाओं के भक्ति कवियों ने प्रशस्ति, श्रृंगार, रीति, नीति आदि से सम्बन्धित मुक्तक और प्रबन्ध दोनों प्रकार की रचनायें की। इस काल में वीर–रस प्रधान काव्यों की रचना हुई तथा इसके साथ–साथ अन्य रसों की भी रचनाएँ लगातार आती रहीं। मुगल बादशाह शेरशाह सूरी और शहजादे तथा अनेक प्रादेशिक मुस्लिम शासकों के अतिरिक्त अनेक हिन्दू राजाओं ने हिंदी भाषा को प्रोत्साहन तो दिया परन्तु संस्कृत के समानान्तर हिंदी को वह सम्मान न मिल सका जो उसे मिलना चाहिए था। राजस्थानी ब्रजभाषा की रचनाएँ अधिकता में देखने को मिलती हैं और इसमें भक्ति–भावना का प्रखर स्वर है। धर्म की व्याख्या करने वाले इन काव्यों में उच्च–कोटि के काव्य के दर्शन होते हैं। उसकी आत्मा भक्ति है, इसका जीवन स्रोत रस है और उसका शरीर मानव है। इस युग का भक्ति साहित्य हृदय, मन और आत्मा को प्रभावित करता है। यह साहित्य लोक तथा परलोक दोनों की ही व्याख्या मार्मिकता के साथ प्रस्तुत करता है।

भक्तिकालीन साहित्यकारों द्वारा उठाये गये आन्दोलनकारी कदम

1. **रूढ़ियों तथा आडम्बरों का विरोधः** प्रायः सभी संत कवियों ने रूढ़ियों, मिथ्या आडम्बरों तथा अन्धविश्वासों की कटु आलोचना की है। इसका कारण इन लोगों का सिद्धों तथा नाथ पन्थियों से प्रभावित होना है। ये लोग तत्कालीन समाज में पाई जाने वाली इन कुप्रवृत्तियों का कड़ा विरोध कर चुके थे। इन कवियों ने मूर्तिपूजा, धर्म के नाम पर की जाने वाली हिंसा, व्रत, रोजा, नमाज, हज्ज इत्यादि विधि–विधानों का कड़ा विरोध किया है।

"बकरी पाती खात है, ताकी काढ़ी खाल।
जो जन बकरी खात है, तिनको कौन हवाल।।"

× × × ×

"पत्थर पूजें हरि मिले तो मैं पूजूं पहार।
ताते वह चक्की भली पीस खाय संसार।।"
"कांकर पत्थर जोरि के, मस्जिद लई बनाय।
ता चढ़ि मुल्ला बांग दे, बहिरा हुआ खुदाय।।"

2. **आत्मसमर्पण की भावनाः** संत एवं भक्ति साहित्य में सभी इतिहासकारों की मान्यता रही है क्योंकि भक्ति के क्षेत्र में जब तक कोई व्यक्ति अपने अहं अथवा 'मैं' की भावना को मिटा नहीं देता, तब तक उसे किसी प्रकार की आध्यात्मिक उपलब्धि नहीं हो सकती। तुलसी ने तो अपनी दास्य भक्ति में किसी प्रकार का अहं नहीं रखा।

3. **भजन तथा नाम की महत्ता पर बलः** संत कवियों ने ईश्वर–प्राप्ति के लिए भजन तथा नाम–स्मरण को परमावश्यक माना है। इसीलिए उन्होंने कहा है कि–

"सहजो सुमिरन कीजिए, हिरदै माहिं छिपाइ।
होठ-होठ सूँ न हिलै, सकै नहीं कोई पाइ।।

संत कवि ब्राह्य–विधानों से परिपूर्ण किसी भी साधना–पद्धति में आस्था नहीं रखते। अपने आराध्य का, मन को एकाग्र कर, स्मरण करना ही उनके लिए यहाँ अभिप्रेत रहा है।

4. **गुरू की महत्ता पर बलः** सभी संतों ने ब्रह्म–साधना के लिए सद्गुरू का पथ–प्रदर्शन अनिवार्य माना है। सद्गुरू ही उन्हें परम तत्त्व के रहस्य से परिचित करा, उनके हृदय में उसके प्रति अनन्य प्रेम की भावना उत्पन्न करता है। नामदेव ने गुरू–महिमा को व्यक्त करते हुए कहा है।

"सुफल जनम मोको गुरू कीना। दुख बिसार सुख अंतरदीना।
ज्ञान जान मोको गुरू दीना। राम नाम बिन जीवन हीना।।"

5. **नारी के प्रति दृष्टिकोणः** संत कवियों ने सती एवं पतिव्रता नारियों की प्रशंसा की है। नारी के सत पक्ष का निरूपण करते हुए कबीर ने लिखा है–

"पतिव्रता मैली भली, काली कुचित कुरूप।
पतिव्रता के रूप, वारौं कोटि सरूप।।"

उन्होंने नारी की कभी भी निन्दा नहीं की है। केवल नारी के कामिनी रूप की निन्दा जरूर की है, उसे माया पथ भ्रष्ट करने वाली माना है।

भक्ति आन्दोलन का उदय दक्षिण–भारत को मानना या न मानना । विद्वानों में चर्चा का विषय रहा है। भक्ति आन्दोलन का उदय बेशक दक्षिण में न माना जाये, लेकिन यह स्वीकार करना पडेगा कि पाँचवी और छठी शताब्दियों में दक्षिण में जैनों और बौद्धों का पतन होता है और शैवों तथा वैष्णवों को अपने कार्य में विजय प्राप्त होती हे। निसंदेह कहा जा सकता है कि, तत्कालीन आलवारों तथा नायनमारों का भक्ति आन्दोलन में विशेष महत्त्व रहा है। इसी महत्त्व को निरूपित करते हुए नन्द लाल सिन्हा ने कहा है–"भारत की एकता तथा हिन्दुत्व का सुधार उपस्थित करने के लिए भक्ति आन्दोलन को प्रवृत्त करके दक्षिण के आलवार तथा नामनमार सतों ने हमें आभारी कर दिया।" भक्ति आन्दोलन के इतिहास में आलवारों और नायनमारों का योगदान चिरस्मरणीय रहेगा। आलवारों

को वैष्णव कहा गया है। इनकी संख्या 12 मानी गयी है। इनकी रचनाएँ 'दिव्य प्रबन्धम्' में संकलित हैं जिसका सम्पादन नाथमुनि ने नौवीं शती के अन्त में किया था। 'दिव्य प्रबन्धम्' में सकलित पदों की संख्या लगभग चार हजार है। नायनमार को शैव कहा जाता है। इनका भी उद्देश्य हिन्दू धर्म की रक्षा करना था। इन्होंने अपनी सारी–अर्चना शिव को ध्यान में रखकर की है। तिरूज्ञान सम्बन्धक, अप्पर, सुंदर मूर्ति नायनमारों में प्रधान है। भक्ति के प्रचार और विस्तार में इनका विशेष महत्त्व है। भक्ति आन्दोलन को तीव्र गति प्रदान करने में आचार्यों की भूमिका महत्त्वपूर्ण रही है। इस आन्दोलन में जिन आचार्यों ने कार्य को गति दी, उनका उल्लेख इस प्रकार किया जा सकता है–

शंकराचार्य

शंकराचार्य का कार्यक्षेत्र सारा भारतवर्ष था। उन्होंने भक्ति का ही प्रचार नहीं किया, वरन् आने वाली पीढ़ी का मार्ग दर्शन भी किया। अद्वैत का प्रचार करना ही उनके जीवन का लक्ष्य था। अनैतिकता अन्धविश्वास तथा हिंसा से भक्ति को मुक्ति दिलाने का श्रेय शंकराचार्य को ही है।

रामानुज

के० एल० नीलकान्त शास्त्री ने लिखा है कि भक्ति आन्दोलन के संगठनात्मक तत्त्वों को बलशाली सिद्ध करने का सबसे बड़ा श्रेय आचार्य रामानुज को है। आचार्य की सबसे महत्त्वपूर्ण देन भक्ति जगत् में बुद्धि पक्ष तथा हृदय पक्ष दोनों का समन्वय करना था। रामानुज का दार्शनिक सिद्धान्त विशिष्टताद्वैतवाद है।

निम्बार्क

निम्बार्क के दार्शनिक सिद्धान्त को द्वैताद्वैत कहते हैं। इनके दो ग्रन्थ बताये जाते हैं–वेदान्त पारिजात सौरभ तथा दशश्लोभी। हिंदी को इस सम्प्रदाय की महत्त्वपूर्ण देते है। घनानंद इसी सम्प्रदाय के अन्तर्गत आते हैं।

रामानन्द

रामानंद के विषय में प्रचलित है कि

"भक्ती द्राविड़ ऊपजी, लाये रामानन्द।
परगट किया कबीर ने, सप्तदीप नवखंड।।"

इस सन्दर्भ में देवीशंकर अवस्थी ने कहा है कि उत्तर भारत में वैष्णव साधना का पहला केन्द्र काशी में श्री वैष्णवों का बना। दक्षिण में भक्ति रामानन्द के गुरू राघवानंद लाए थे। परतु संभवतः दक्षिण की परिस्थितियों में पले–बढ़े राघवानंद उत्तर भारत की मनोवृत्ति के अनुकूल नहीं बन पाये थ, परंतु अपने विद्रोही शिष्य रामानंद को अलग सम्प्रदाय चलाने की आज्ञा देकर एक समुचित कार्य किया था। रामानन्द ने भक्ति के क्षेत्रर में अनेक महत्त्वपूर्ण कार्य किये। उन्होंने भक्ति का द्वार सभी वर्गों और जातियों के लिए खोला, देवासन–पूजासन पर राम–सीता की प्रतिष्ठा की और लोक भाषाओं को मान प्रदान किया। उनकी दो रचनाएँ भी प्राप्त है। 'वैष्णव मताब्ज–भास्कर' तथा 'श्री रामार्चन पद्धति'।

मध्वाचार्य

आचार्य मध्वाचार्य का जन्म 1197 में कर्नाटक में माना जाता है। इन्होंने द्वैतवादी मत का प्रवर्त्तन किया था। गीता भाष्य, विष्णुतत्त्व निर्णय, बाह्मसूत्र भाष्य, उपनिषद् भाष्य, सदाचार स्मृति आदि उनके प्रधान ग्रन्थ हैं। मध्वाचार्य ने मायावाद का विरोध करते हुए उसका खण्डन किया था। चैतन्य सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक चैतन्य महाप्रभु माध्व सम्प्रदाय के भक्त थे।

बल्लभाचार्य

बल्लभाचार्य शुद्धाद्वैतवाद (पुष्टिमार्ग) के प्रवर्त्तक थे। आचार्य बल्लभ मायावादियों तथा नास्तिकों के घोर विरोधी थे। बल्लभाचार्य की भक्ति पद्धति का नूतन रूप और उसमें कृष्ण के माधुर्य भाव की उपासना की स्वीकृति अपनी विशिष्ट देन है जो विष्णु स्वामी के युग में किसी भी रूप में प्रचलित नहीं थी। आचार्य बल्भ ने संवत् 1556 में श्री नाथ के मन्दिर का निर्माण करवाया था। हिंदी भक्ति साहित्य की समृद्धि में इस मन्दिर का बड़ा महत्त्व रहा है। इस सन्दर्भ में देवीशंकर अवस्थी ने लिखा है कि "यह मंदिर आगे चलकर न केवल बल्लभ सम्प्रदाय का ही केन्द्र पीठ बना, बल्कि अष्टछाप के गायक कवियों की सृजन–भूमि भी बनने का गौरव इसी ने प्राप्त किया। हिंदी के भक्ति साहित्य के निर्माण में इस मंदिर का स्थान अक्षुण्य रहेगा।"

चैतन्य महाप्रभु

चैतन्य महाप्रभु प्रभावशाली व्यक्तित्व के स्वामी थे। भक्तिमार्ग में दीक्षित हो जाने के बाद शास्त्रार्थ में उनकी रूचि समाप्त हो गई, उपदेशक बनने की उन्हें याद नहीं रही तथा जयदेव, विद्यापति आदि की कृतियों, ब्रह्म संहिता तथा लीला शुक बिल्वमगल के कृष्णो कर्णामृत' को छोड़कर अपने भावावेश में कुछ पढ़ने का कभी अवसर नहीं मिला। राधा कृष्ण की लीलाओं का स्मरण और भावन, कृष्ण–संकीर्तन एवं हरिबोल का निरन्तर उच्चारण बस यही उनके नैमित्तक कर्म, धर्म, प्रचार या शास्त्रार्थ थे। पर इनके पीछे सघन की सान्द्रता, आत्मा की गहनता एवं गूढ़तम पुकार थी जिसने उन्हें इतना मोहक और प्रभावशाली बना दिया। इसके अतिरिक्त भक्ति आन्दोलन के अन्य आचार्यों में स्वामी हरिदास, गोस्वामी, हित हरिवंश आदि का भी नाम बड़े गौरव से लिया जाता है।

भक्ति आन्दोलन सामाजिक विषमता को मिटाकर सामाजिक समता का सन्देश देता है। वह जाति–पाँति, ऊँच–नीच, अमीर–गरीब में किसी प्रकार का अन्तर नहीं मानता है। भक्ति आंदोलन वैयक्तिक और सामाजिक शुचिता पर भी बल देता है। चारित्रिक उन्नति का पक्ष लेता है। भक्ति आंदोलन धार्मिक उदारता पर टिका हुआ है। यह धार्मिक सद्भाव का पक्षधर है। ब्रह्मचारों–बाह्याडम्बरों का तीव्र विरोध भक्ति–आंदोलन का मूल लक्ष्य रहा है। इसी लक्ष्य के कारण कबीर आदि संतों ने हिन्दू तथा मुसलमान किसी में कोई भेद नहीं माना है। वे दोनों धर्मावलम्बियों को समझाते हुए कहते हैं कि–

"कह हिन्दू राम पियारा, तुरक कहै रहमाना।
आपस में दोउ लरि लरि मुये, मरम न काहू जाना।

हिंदी भाषा एवं साहित्य के लिए भक्ति आंदोलन एक वरदान था। इस आन्दोलन से सम्बद्ध कवियों ने लोक भाषा में काव्य की रचनाएँ की है। कबीर ने एकता स्थापना का बड़ा विनम्र और प्रसन्न प्रयास किया है लेकिन कबीर ने संस्कृत को अस्वीकार करते हुए उसे कूप जल माना है। यथा–

"कबिरा संस्कीरत है कूप जल, भाषा बहता नीर।"

भक्तिकालीन साहित्य सच्चे अर्थों में संवेदनशील रहा है। साहित्यकारों का मानस स्वच्छ और उदार था। इसीलिए उनका साहित्य जन–भावनाओ की सहज, प्रवृत्तियों, परिस्थितियों, विकृतियों और विडम्बनाओं का एक विशाल शब्द–चित्र है। दूसरे शब्दों में उन्होंने तत्कालीन समाज का यथार्थ चित्र अंकित किया है। भक्तिकालीन आन्दोलित साहित्य, आशावाद और आस्था की भावना संस्थापित करने में सहायक साहित्य है। यह जीवन–शक्ति का अजस्र स्रोत है। इसमें युग–बोध और युग–चेतना का व्यापक रूप प्रतिफलित है। भक्तिकालीन साहित्य रचियताओं ने तत्कालीन समाज को दोषमुक्त कर परिष्कृत बनाने की वेष्टा की है।

भक्तिकालीन काव्य धाराएं : संत, सूफी, राम, कृष्ण काव्य

12. संत काव्य धारा वैशिष्ट्य और अवदान

सन्त काव्य में कृत्रिम सौन्दर्य नहीं है, बल्कि उसमें वनराजि का स्वाभाविक सौन्दर्य है। इस काव्य में आध्यात्मिक विषयों की अभिव्यक्ति हुई है। पर वह जन–जीवन में डूबी हुई अनुभूतियों से सम्पन्न है। सन्त काव्य में अनेक धार्मिक सम्प्रदायों के प्रभाव को आत्मसात् किया है, किन्तु इसमें धर्म अथवा साधना की कोई शास्त्रीय व्याख्या नहीं है, इस काव्य में जन–जीवन के सत्य की अभिव्यक्ति अलंकार विहीन सीधी–साधी भाषा में हुई है। सन्त साहित्य साधना, लोक पक्ष तथा काव्य वैभव सभी दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। सन्त–कवियों की विचार सरणि निजी अनुभूतियों पर आधृत है। सन्त साहित्य में एक अद्भुत विचारगत साम्य है।

1. **अवतारवाद का खण्डन:** सभी संतों ने राम कृष्ण अथवा अन्य किसी भी रूप में ईश्वर के अवतार लेने को मिथ्या और भ्रामक बताया है। बहुदेववाद का भी खंडन किया है; सभी संतों ने ब्रह्म, विष्णु तथा महेश की इसीलिए निन्दा की है कि वे भी माया ग्रस्त हैं। इस प्रकार की विचारधारा इस्लाम धर्म के एकेश्वरवाद के भी निकट है तथा शंकर के अद्वैत के अनुरूप भी है हिन्दू–मुस्लिम दोनों जातियों में विद्वेषाग्नि को शान्त करके उनमें एकता की स्थापना के लिए इन्होंने एकेश्वरवाद का संदेश सुनाया–

   "यह सिर नवे न राम कूं, नाहीं गिरियो टूट।
   आन देव नहिं परसिये, यह तन जायो छूट।।"

2. **जाति-पाँति के भेद-भाव का विरोध**: संत कवि जाति–पाँति के नियमों के कट्टर विरोधी थे। इनकी दृष्टि में सब मनुष्य बराबर थे तथा भगवद्–भक्ति का समान अधिकार था।

"जाति पाँति पूछै नहिं कोई, हरि को भजै सो हरि का होई।

संत सामाजिक क्रान्तिकारी थे। उन्होंने सामाजिक अन्याय का विरोध किया था। छुआछूत, हिन्दू–मुसलमान में विद्वेष और भेदभाव की उन्होंने खुलकर निन्दा की थी और मानव–मात्र को समान मानने की आवाज बुलंद की थी।

3. **रहस्यवादी प्रवृत्ति**: संत कवियों की रहस्य भावना सूफी कवियों के रहस्यवाद से भिन्न है, क्योंकि संतों ने आत्मा के संबधों की समानता पति–पत्नी के संबंधों से करते हुए स्पष्ट रूप में यही माना है कि आत्मा परमात्मा से मिलने के लिए आतुर हो उठती है। संतों की रहस्यात्मक पद्धति भारतीय परम्परा के अनुकूल है। इस रहस्यवाद का मूल आधार अद्वैतवादी चिन्तन है। कबीर के कथनानुसार–

"जल में कुम्भ, कुम्भ में जल है, बाहिर भीतर पानी।
फूटा कुम्भ जल जलहिं समाना, यह तत् कहो गयानी।।"

संतों के रहस्यवाद पर योग का भी स्पष्ट प्रभाव है जहाँ इंगला, पिंगला और सहसदल कमल आदि प्रतीकों का प्रयोग है। इनमें रहस्यवाद वहाँ भी मिलता है, जहाँ वे उलटबाँसियों के रूप में गुह्य साधना का वर्णन करते हैं।

4. **संत काव्य में युग चेतना**: संत काव्य की महत्ता प्रतिपादित करते हुए डा० त्रिलोकी नारायण दीक्षित ने कहा है "संतों का व्यक्तित्व सच्चे अर्थों में संवेदनशील था। उनका मानस स्वच्छ और उदार था। इसीलिए उनका साहित्य जन–भावनाओं की सहज, प्रवृत्तियों, परिस्थितियों, विकृतियों, तथा विडम्बनाओं का एक विशाल शब्द–चित्र है। दूसरे शब्दों में, उन्होंने तत्कालीन समाज का यथार्थ चित्र अंकित किया है। संतकाव्य, आत्मविश्वास, आशावाद और आस्था की भावना संस्थापित करने में सहायक साहित्य है। यह जीवन–शक्ति का अजस्र स्रोत है। इस काव्य का प्रमुख प्रयोजन है– त्रस्त, संतप्त, उपेक्षित, उत्पीड़ित मानव को परिज्ञान प्रदान करना। इसमें जीवन का स्वरूप, विश्लेषण और व्याख्या उपलब्ध होती है। संक्षेप में, निर्गुण काव्य आचरण की पवित्रता का संदेश लेकर जनता के सम्मुख आया।

5. **निर्गुण की उपासना**: संत काव्य की मूल भावना निर्गुण की उपासना है। उनका निर्गुण बौद्ध साधकों के शून्य से पृथक है। वह संसार के प्रत्येक कण में व्याप्त है, वही प्रत्येक साँस में है। उसका वर्णन नहीं किया जा सकता, कबीर का कहना है–

"पारब्रह्म के तेज का, कैसा है उनमान।
कहिबे कूँ सोभा नहीं, देख्या ही परवान।।"

यद्यपि संतों ने अपने इस निर्गुण निराकार ब्रह्म को पौराणिक नाम ही प्रदान किया है, जैसे राम, कृष्ण, केशव, गोपाल आदि परन्तु इन पौराणिक महापुरूषों से अन्य बातों में वह इनसे नितान्त भिन्न है। कबीर ने इसी भेद को स्पष्ट करते हुए कहा है–

"राम नाम तिहुँ लोक बखाना।
राम नाम का मरम है आना।।"

6. **गुरू की महत्ता**: सभी संतों ने ब्रह्म–साधना के लिए सद्गुरू का पथ–प्रदर्शन अनिवार्य माना है। सद्गुरू ही उन्हें परम तत्व के रहस्य से परिचित करा, उनके हृदय में उसके प्रति अनन्य प्रेम की भावना उत्पन्न करता है। नामदेव ने गुरू महिमा को व्यक्त करते हुए कहा है–

"सुफल जनम मोको गुरू कीना। दुख बिसार सुख अंतर दीना।
ज्ञान जान मोको गुरू दीना। राम नाम बिन जीवन हीना।।"

7. **रूढ़िवाद और मिथ्याडंबर का विरोध**: भक्ति कालीन सभी संतों ने रूढ़ियों, मिथ्याडंबरों तथा अन्धविश्वासों की कटु आलोचना की है। इसका कारण इन लोगों का सिद्धों और नाथपंथियों से प्रभावित होना है। कबीर ने तिलक, छाया, माला, रोजा, नमाज, योग की क्रिया आदि को व्यर्थ ठहराया और इनके मानने वालों को फटकारा। उनकी भर्त्सना में चिढ या खीझ नहीं, परोक्ष रूप से उपदेश का भाव उभर रहा है–

"दुनिया कैसी बावरी, पाथर पूजन जाय।
घर की चकिया कोई न पूजै, जेहि का पीसा खाय।।"

8. **लोक कल्याण की उत्कट भावना**: संतों की साधना में वैयक्तिकता की अपेक्षा सामाजिकता अधिक है। नाथ सम्प्रदाय की साधना व्यक्तिगत और पद्धति शास्त्रीय थी, जबकि संतो की साधना सामाजिक और पद्धति स्वतंत्र है। इन्होंने जन–समान्य में आत्म–गौरव की दीप्ति भर दी थी, जिसके कारण उन्होंने प्रत्येक प्रकार के अन्याय–अत्याचार का प्रतिरोध करने की शक्ति प्राप्त कर ली थी।

9. **भाषा**: अधिकांश संतों ने अपने काव्य की भाषा में प्रदेश विशेष की बोली के साथ ब्रज, अवधी, राजस्थानी, पजाबी, हरियाणवी आदि शब्दावली को प्रयुक्त किया है, जिसे अधिकांश विद्वानों ने 'सधुक्कड़ी' भाषा कहा है। तत्कालीन परिवेश के अनुरूप संत–वाणी की रचना मुख्यतः जनता के अशिक्षित, उपेक्षित और पिछड़े हुए वर्गों के लिये हुई थी। संतों की भाषा अति सरल, कृत्रिमताविहीन और सहज है।

10. **अलंकार**: संत कवि अलंकारवादी भी नहीं थे, किन्तु उनकी कविता में अनेकानेक शब्दगत और अर्थगत अलंकार सहज रूप से आ गये हैं। उपमा, रूपक, दृष्टान्त, तद्‌गुण, स्वभावोक्ति, सहोक्ति, अत्युक्ति, विशेषोक्ति, अन्योक्ति, उल्लेख, उत्प्रेक्षा, व्यतिरेक, असंगति, श्लेष, यमक, अनुप्रास, काव्यलिंग आदि अलंकार उनके काव्य को चमत्कार प्रदान करते हैं। संतों के रूपक जीवन की सामान्य प्रवृत्तियों एवं घटनाओं पर आधारित हैं। कबीर आदि के रूपक और प्रतीक बड़े सशक्त हैं और जीवन के व्यापक क्षेत्र से लिये गये हैं।

संतों का साहित्य लोक–भावना का यथार्थ बिम्ब प्रस्तुत करता है। जीवन में आस्था और विश्वास का संदश देता है। मध्ययुगीन सामाजिक और सांस्कृतिक समस्याओं के भावात्मक निरूपण में यह काव्य अप्रितम है। संतों ने अपने समय के मानव–समाज को दोषमुक्त कर परिष्कृत बनाने की चेष्टा की है।

13. सूफी काव्य धारा : वैशिष्टय और अवदान

भारत में सूफियों का प्रवेश ख्वाजा मुइनुद्दीन चिश्ती के समय हुआ। इन सूफियों की उदार मनोवृत्ति और आध्यात्मिक प्रेम–साधना से प्रभावित होकर कुछ सहृदय मुसलमान कवि इनके धर्मानुयायी बन काव्य रचना में प्रवृत्त हुए, और इनका काव्य 'सूफी प्रेमाख्यानक काव्य' की संज्ञा से जाना जाने लगा। अन्य देशों के साहित्य की भाँति अरबी–फारसी में भी सर्वप्रथम प्रेमकाव्य और वीरकाव्य की परम्परा उद्‌भूत हुई, किन्तु इस प्रेम परम्परा में परमात्मा के परम प्रेम और आतंरिक अनुभूतियों का चित्रण नहीं था, अरबी साहित्य की अपेक्षा प्रेम और रहस्य तथा सूफी सिद्धान्त का सम्यक् प्रतिपादन फारसी साहित्य में हुआ है। इस समय हिन्दू और मुसलमानों के बीच सामाजिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक संघर्ष का आविर्भाव था, इसलिए सूफियों को अपने प्रयास में अपेक्षित सफलता नहीं मिल पा रही थी। वे राजसत्ता के विरोध में पहले ही परास्त हो चुके थे। हिंदी के सूफी कवियों ने भारतीय लोककथाओं, हिंदी भाषा, हिंदी छंद और भारतीय चरित्रों को अपने काव्य का उपजीव्य बनाकर हिन्दू जनता को सूफी सिद्धान्तों पर विमोहित करके उन्हें इस्लाम की ओर आकर्षित करने का प्रयास किया। हिन्दी के सूफी कवि भारतीयता के पोषक होकर भी इस्लाम के ही समर्थक हैं, क्योंकि यह 'आखिरी कलाम' में उनके वर्णन से ज्ञात हो जाता है। हिन्दू मुसलमान संस्कृतियों के प्रेम–पूर्ण काव्य की अभिव्यक्ति इसमें देखी जा सकती है। हिन्दू धर्म के प्रधान आदर्शों को मानते हुए भी सूफी सिद्धान्तों के निरूपण में मुसलमान साहित्यकारों की कुशलता है। इन दोनों भिन्न सिद्धान्तों के एकीकरण ने प्रेम–काव्य को सजीवता के साथ ही साथ लोकप्रियता भी प्रदान की। फलस्वरूप जिस प्रकार संत–काव्य की परम्परा धार्मिक काल के बाद भी चलती रही, उसी प्रकार प्रेम–काव्य की परम्परा भी धार्मिक काल के बाद भी साहित्य में दृष्टिगोचर होती रही है।

सूफी काव्य में वैशिष्ट्य और अवदान की प्रक्रिया इस रूप में देखी जा सकती है–

1. **लोक-पक्ष एवं हिन्दू संस्कृति का अवलोकन**: सूफी प्रेम–काव्यों में हिन्दू लोक–संस्कृति की वैयक्तिकता एवं सामाजिकता का चित्रण हुआ है। हिन्दू लोक–संस्कृति में व्याप्त अन्ध–विश्वास, जादू–टोना, मन्नत, मनोतियाँ, तीर्थ, व्रत आदि का चित्रण हुआ है। लोकोत्सव, लोक–व्यवहार लोकाचार तथा लोकनाथ द्वारा हिन्दू लोक–संस्कृति में चली आ रही परम्परागत प्रेम कहानियों की पृष्ठभूमि, फारसी की मसनवी शैली तथा इस्लाम धर्म की मान्यताओं को समन्वित करके प्रस्तुत किया गया है। प्रेमकाव्यों में षट् ऋतुओं का वर्णन और बारहमासा आदि का वर्णन भारतीय काव्य–परम्परा के अनुसार हुआ है।

   (i) **नारी के विषय में चित्रण**: सूफियों ने प्रेम द्वारा प्राप्त की जाने वाली सुन्दर नारी को परमात्मा का प्रतीक माना है। प्रेम का प्रमुख पात्र नारी ही वह नूर है जिसके बिना सम्पूर्ण संसार अंधकारमय है। इन कवियों ने नारी का साध्य तथा प्रेम को साधन माना है। नारी का सौन्दर्य ईश्वरीय प्रतिच्छाया है। परशुराम चतुर्वेदी का मत है को "सूफी कवियों ने नारी को यहाँ अपनी प्रेम साधना के साध्य रूप में स्वीकार किया है जिसके कारण वह इनके यहाँ किसी प्रेमी के लौकिक जीवन

की निरी भोग्य वस्तु मात्र नहीं रह जाती। वह उस समय की साधन--सामग्री भी नहीं कहला सकती जिसमें उसे बौद्ध सहजयानियों ने मुद्रा नाम देकर सहज साधना के लिए अपनाया था। वह उन साधनों की दृष्टि में स्वयं एक सिद्धि बनकर आती है और इसी कारण इन प्रेमाख्यानों में उसे प्रायः अलौकिक गुणों से युक्त भी बतलाया जाता है।"

(ii) **मनोवैज्ञानिक पद्धति**: सूफियों ने ज्ञानमार्गी संतों की भाँति धर्म या जाति का खण्डन नहीं किया बल्कि मनोवैज्ञानिक आधार पर हिन्दुओं तथा मुसलमानों को प्रेम मार्ग में एक समान बताया। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है, "प्रेमस्वरूप ईश्वर को सामने लाकर सूफी कवियों ने हिन्दू और मुसलमानों दोनों को मनुष्य के सामान्य रूप में दिखाया और भेदभाव के दृश्यों को हटाकर पीछे पीछे कर दिया।"

2. **सूफी काव्य में प्रेम-पक्ष**: सूफियों का मुख्य प्रतिपाद्य प्रेम है और प्रेम के वियोग पक्ष को इन्होंने अधिक महत्त्व दिया है। सूफी कवियों ने प्रेम का जो चित्रण किया है, उस पर विदेशी और भारतीय दोनों शैलियों की छाप दृष्टिगोचर होती है। जायसी ने फारसी की शैली के अनुसार नायक को प्रेम में विह्वल तथा प्रेमपात्र की प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील दिखाया है। भारतीय धर्म के अनुसार तो आत्मा को पत्नी और परमात्मा को पुरुष मानकर पत्नीरूपी आत्मा को पुरुषरूपी परमात्मा की प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील माना जाता है। सूफी कवियों ने प्रारम्भ में नायक को प्रियतमा (ईश्वर) की प्राप्ति में प्रयत्नशील दिखाने के बाद उपसंहार में नायिका (प्रियतमा) के प्रमोत्कर्ष को भी दिखलाया।

3. **सूफी काव्य में प्रबन्धात्मता**: सूफी रचनाकारों ने लौकिक प्रेम कहानियों के माध्यम से अलौकिक प्रेम की अभिव्यंजना की है। इन कवियों ने जिस प्रबन्धात्मकता को अपनाया है वह भारतीय महाकाव्य तथा फारसी 'मसनवी शैली'' का मिश्रित रूप है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने मसनवी को अन्योक्ति काव्य की संज्ञा दी है। सूफी कवियों के प्रेमाख्यान एक ही प्रकार के साँचे में ढले हुए लगते है, क्योंकि सभी का लक्ष्य प्रेम तत्त्व का निरूपण करना है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का मानना है कि "कथानक को गति देने के लिए सूफी कवियों ने प्रायः उन सभी कथानक रूढ़ियों का व्यवहार किया है जो परम्परा से भारतीय कथाओं में व्यवहृत होती रही हैं, जैसे चित्र, दर्शन, स्वप्न, द्वारा अथवा शुक--सारिका आदि द्वारा नायिका का रूप देख या सुनकर उस पर आसक्त होना, पशु--पक्षियों की बातचीत से भावी घटना का संकेत पाना, मन्दिर या चित्रशाला में प्रिय युगल का मिलन होना इत्यादि।" सूफी काव्य में व्यवहृत कुछ ईरानी साहित्य की रूढ़ियों का भी वर्णन किया है, जैसे प्रेम--व्यापार में पाटियों और देवों का सहयोग आदि।

4. **सूफी काव्य में धार्मिक सहिष्णुता**: धार्मिक दृष्टिकोण से हिन्दूओं के वेदान्त और मुसलमानों के सूफीमत में बहुत साम्य है। मौलाना सैयद सुलेमान नदवी सूफीमत को वेदान्त से प्रभावित मानते है। उनका मत है, "इसमें तो कोई सन्देह नहीं कि मुसलमान सूफियों पर भारत में आने के बाद, हिन्दू वेदान्तियों का प्रभाव पड़ा। इन दोनों धर्म के सिद्धांतों ने प्रेमकाव्य की रूप--रेखा का निर्माण किया। जो प्रेमकथाएँ मुसलमान कवियों द्वारा लिखी गयी है उनमें धार्मिक संकेत अवश्य हैं, पर जो प्रेम--कथाएँ हिन्दू साहित्यकारों द्वारा लिखी गयी है उनमें काव्यत्व और घटना वैचित्र्य ही प्रधान है। इतना अवश्य है कि हिन्दू प्रेम कथाकारों ने मुसलमानों द्वारा चलाई गयी प्रेम--कथा के आदर्शों का पूर्ण रूप से पालन किया हैं।

5. **प्रतीक विधान का मार्मिक चित्रण**: सूफी कवियों ने अपनी रचनाओं में कुछ शब्दों को सांकेतिक रूप में प्रयुक्त किया है, जिन्हें 'प्रतीक विधान' के अनुसार विशिष्ट सन्दर्भ में विशेष अर्थ के लिए प्रयोग किया है। जायसी द्वारा रचित 'पद्मावत' में इस प्रयोग को देखा जा सकता है; यथा

"तन चितउर मन राउर कीन्हा।
हिय सिंघल बुधि-पद्मिनी चीन्हा।।"

तात्पर्य यह है शरीर तो चितौड़ है, मन राजा है, हृदय सिंघल द्वीप है और बुद्धि पद्मिनी है। इसी प्रकार के प्रेमाख्यानों में प्रतीक--विधान देखा जा सकता हैं। संत काव्य धर्माश्रय एवं राजश्रय से दूर लोकाश्रय में मुक्त रूप में पोषित होने वाली यही एक परंपरा है जिसने तत्कालीन जनता की काव्य--रूचि एवं मनोरंजन की अभिलाषा को रोमांचक आख्यानों द्वारा भर दिया है।

सूफी काव्य धारा के प्रमुख कवियों में मौलाना दाऊद, कुतुबन, जायसी, मंझन, उसमान आदि हुए हैं जिन्होंने अपने काव्य में सूफी काव्य परम्परा को अग्रसर किया है।

सूफी कवियों का कथा क्षेत्र ऐतिहासिक और काल्पनिक दोनों ही है। ऐतिहासिक कथानकों के रूप में रत्नसेन एवं पद्मावती रहे है। सूफी कवियों द्वारा समस्त रचनाएँ एक प्रकार से कथा--रूपक के अन्तर्गत आती है।

इनके प्रेमाख्यानों में नायक–नायिका को सांसारिक संबंधों के प्रति उदासीन दिखाया गया है। इन काव्यों में नायकों पर योगियों का प्रभाव दृष्टिगत होता है। नायक को जीवन और नायिका को ब्रह्म का प्रतीक माना गया है।

सूफी कवियों की लौकिक दृष्टि बड़ी सजग थी। अपने आस–––पास के विस्तृत वातावरण को इन्होंने बखूबी प्रकट किया है। उनकी रचनाओं में भारतीय जीवन एवं संस्कृति का बड़ा सजीव चित्रण हुआ है। भारतीय सामाजिक जीवन के प्रतीक त्योहारों, उत्सवों एवं संस्कारों का इनकी रचनाओं में समावेश देखा जा सकता है।

सूफी कवियों का प्रमुख काव्य आदर्श अध्यात्म विरह एवं प्रेम का निरूपण करना था, किन्तु इसके साथ ही यश की लालसा, लोकहित एवं कल्याण की भावना भी इनके काव्य में समाहित अंग है।

14. राम काव्य धारा : वैशिष्ट्य और अवदान

राम काव्य जीवन की आदर्श कथा है। जीवन जैसा विविध और व्यापक है रामकथा या राम काव्य भी उतना ही विस्तृत और बहुमुखी है। राम काव्य में जीवन अपनी विराटता के साथ व्यक्त हुआ है। भक्तिकाल में ऐसे राम काव्य को निम्नलिखित दृष्टिकोणों से देखा गया है।

राम के दो रूप माने गये हैं–एक निर्गुण रूप है तो दूसरा सगुण। निर्गुण रूप से हमारा तात्पर्य देह और दैहिक संबंधों से परे के राम जबकि सगुण राम अवतारी हैं, दशरथ–सुत के रूप में। भक्तिकालीन रामकाव्यधारा के कवियों ने निर्गुण राम की नहीं वरन् सगुण रूप के राम की अवतारणा अपने काव्यों में की है। उन्होंने राम और रामकथा को देशकाल तथा जनजीवन के अनुरूप मानकर प्रस्तुत किया है। रामकाव्यधारा में ऐसे विराट् राम की प्रतिष्ठा हुई है और भक्तों तथा कवियों ने राम के इन्हीं रूपों की अर्चना–वंदना की है। रामकाव्यकारों के लिए राम सर्वत्र विद्यमान रहते हैं।

राम काव्यधारा की दार्शनिक चेतना पर कई दर्शनों का प्रभाव देखा जा सकता है। इसीलिए विद्वान उस पर शंकर के अद्वैतवाद तथा रामानुजाचार्य के विशेष्टता द्वैतवाद का प्रभाव अनुभव करते हैं। रामकथा के कवियों का प्रयोजन रामभक्ति था। वे व्यक्ति के मन की कालुष्य को समाप्त कर देना चाहते थे, इसीलिए रामभक्ति का सहारा लिया। रामभक्त कवियों के उपास्यदेव राम विष्णु के अवतार हैं और परमब्रह्म स्वरूप है। अरण्यकाण्ड में इस प्रकार स्तुति की गई है–

"जेहि श्रुति निरंजन ब्रह्म व्यापक विरज अज कहिं गावहीं।
करि ध्यान-ग्यान विराग जोग अनेक मुनि जेहि पावहीं।।"

इनके राम में शील, शक्ति और सौन्दर्य का समन्वय है। वे मर्यादापुरूषोत्तम है और आदर्श के प्रतिष्ठापक है। यही कारण है कि राम और सीता के नाम पर परवर्ती साहित्य में उच्छृंखल प्रेम उस रूप से चित्रित नहीं हुआ जैसा की राधा और कृष्ण के नाम पर।

1. **राम काव्य धारा में समन्वयात्मकता:** राम काव्य की समन्वयात्मक विचारधारा अत्यन्त उदार है। जिसमें ज्ञान, भक्ति धर्म तथा कर्म का सुन्दर समन्वय तो है ही, साथ ही निर्गुण तथा सगुण में भी एकरूपता प्रकट होती है। तुलसीदास कहते हैं– **"अगुनहिं सगुनहिं नहिं कछु भेदा। गावहिं मुनि पुरान बुध बेदा।।"**

2. **राम काव्य में लोक मंगल की भावना:** राम भक्ति साहित्य में लोक मंगल की भावना को सर्वोच्च स्थान दिया गया है। इसी भावना से राम को आदर्श लोक–सेवक, आदर्श गृहस्थ एवं आदर्श राजा के रूप में प्रस्तुत किया गया है। आदर्श की प्रतिष्ठा राम के जीवन का अर्थ और इति है

   "परहित सरिस धर्म नहिं भाई।
   पर पीड़ा सम नहिं अधमाई।।"

   राम भक्ति काव्य की प्रमुख विशेषता यह भी है कि उसमें साधारण लोगों के कल्याण की भावना को सर्वोच्च स्थान मिला है। लोक मंगल की भावना से ओत–प्रोत होकर राम को आदर्श लोक–सेवक तथा आदर्श गृहस्थ आदि के रूप में प्रस्तुत किया गया है। सारे राम काव्य का केन्द्रीय भाव आदर्श समाज की स्थापना तथा लोक कल्याण की भावना को प्रसारित करना है। तुलसीदास ने रामराज्य की आदर्श कल्पना के लिए ही राम को आदर्श पुत्र तथा आदर्श राजा के रूप में स्थापित किया है। कौशल्या जैसी आदर्श माता, लक्ष्मण तथा भरत जैसे आदर्श भाई, सीता जैसी आदर्श पत्नी, हनुमान जैसे आदर्श सेवक एवं भक्त तथा सुग्रीव जैसे आदर्श मित्रादि की कल्पना एवं स्थापना से लोक संग्रह भावना ही स्पष्ट होती है। राक्षसों को अर्थात् अत्याचारियों का नाश करके आदर्श समाज की स्थापना करना ही ––– की विशेषता है।

3. **आदर्श पात्रों का चरित्र चित्रण**: राम भक्ति साहित्य में ऐसे पात्रों को विशेष महत्त्व दिया गया है जो अपने सदाचार से लोक में मर्यादा तथा आदर्श की स्थापना करने वाले हो। राम काव्य की यह विशेषता है कि उसमें सत् और असत्, सज्जन तथा दुर्जन, अच्छे और बुरे, सतोगुणी रजोगुणी, तथा तमोगुणी सभी प्रकार के पात्रों का चित्रण किया गया है। अन्त में असत्य पर सत्य की अथवा 'रावणत्व' पर 'रामत्व' की विजय दिखाई गई है। अन्त में दुर्जनों को दण्ड तथा सज्जनों को सफलता मिलती दिखाई गई है। राम को स्वयं ब्रह्मस्वरूप होते हुए भी मानव के रूप में लीला करते हुए दिखाकर तुलसी ने सिद्ध किया है कि अन्त में रामत्व की ही विजय होती है क्योंकि पापियों का संहार करने के लिए राम को नर रूप धारण करना पड़ता है।

4. **जगत तथा जीवात्मा संबंधी विचार**: राम काव्य में सारे संसार को ही राम तथा सीता युक्त माना है और इसीलिए तुलसीदास ने कहा है–

"सिया राम मय सब जग जानी, करउँ प्रनाम जोरि-जुग पानी।"

यह सारा संसार ही राम और सीता की लीला–स्थली है। राम परम पुरूष चेतन सीता प्रकृति है। पुरूष तथा प्रकृति से ही यह सारी सृष्टि व्याप्त है। जीवात्माएँ उसी परम पुरूष का अंश है।

5. **वैधी भक्ति का अनुसरण**: रामभक्ति काव्य ऐसी भक्ति का अनुसरण करता है जिसे शास्त्रीय शब्दावली में 'वैधी भक्ति' माना जा सकता है। वैधी भक्ति में श्रद्धा और प्रेम का समन्वय होता है तथा भागवत पुराण में वर्णित नवधा भक्ति के प्रायः अधिकांश लक्षण मिलते है। कीर्तन–भाव से जो नियम बनाये जाते हैं उन्हें 'विधि' माना जाता है और विधि के अनुसार की गई भक्ति को वैधी भक्ति कहते है। वैधी भक्ति में साधक या भक्त शरीर, मन, आत्मा, प्रकृति और समाजगत अनुशीलों द्वारा भगवान का भजन करते हैं। राम भक्तों के इष्ट 'राम' का शील, शक्ति और सौन्दर्य ही ऐसा है जिस पर साधक या भक्त अपने तन–मन और आत्मा से मुग्ध हो जाता है और अपने को राम का सेवक या दास समझकर भक्ति करता है, इसी कारण तुलसी की भक्ति को दास्य भाव की भक्ति भी माना जाता है क्योंकि तुलसीदास ने कहा है– **"सेवक सेव्य भाव बिनु, भव न तरिय उरगारि।"**

वैधी भक्ति में हरि–कीर्तन और सत्संग का विशेष महत्त्व होता है, इसीलिए कहा गया है–

"बिनु सत संग बिबेक न होई।
राम कृपा बिनु सुलभ न सोई।।"

इसी कारण राम भक्ति का अनुसरण करने वाले भक्तों तथा कवियों ने 'राम नाम' के कीर्तन तथा सत्संग करने को भक्ति का एक साधन बताया है। राम भक्ति की सबसे बड़ी विशेषता है कि सामाजिक प्रतिबद्धता और मूल्य–बोध को प्रबल प्रेरणा। यह निश्चित है कि जिस समय बाल्मीकि रामायण की रचना हुई होगी, उस समय समाज व्यवस्था के आधारभूत आदर्शों की स्थापना की बहुत बड़ी आवश्यकता अनुभव की जाती रही होगी। तब से आदि रामायण सभी आदर्शनवेता भक्तों और भक्तकवियों की प्रेरणा का अक्षय स्रोत बनी रही है। इसका चरमोत्कर्ष तुलसी–काव्य में मिलता है। तुलसी ने धर्म की जीवन–सापेक्ष व्यावहारिक व्याख्या प्रस्तुत की है और आचार दर्शन या शील सौन्दर्य और कर्म–सौन्दर्य को ही धर्म कहा है। धर्म सभी सत्कर्मों की समष्टि है, धर्म जीवन की व्यापक व्यवस्था है यह मूल्यबोध विष्णुदास की रामायण–कथा में भी देखने को मिलता है। सूरदास के रामावतार संबंधी पदों में भी पवित्रता सतीत्व और वीरता के उदात्त की अभिव्यक्ति हुई है।

राम काव्य परम्परा की अन्य विशेषता एवं अवदान पाप का सक्रिय प्रतिरोध और शौर्य है। समूचे भक्ति–काव्य में जिसे सच्चे अर्थों में शक्ति काव्य कहा जा सकता है, वह रामकाव्य ही है। इस काव्य में पाप और पतन के विरूद्ध सक्रिय प्रतिरोध और संघर्ष निरूपित किया गया है। रामभक्ति काव्य की धारा में सामाजिक संवेदना बड़ी गहरी है। सामाजिक दृष्टि से रामभक्ति काव्य की महत्ता विशेष रूप से रही है। जिस समय रामभक्ति काव्य का प्रणयन हो रहा था उस समय का समाज अनेक प्रकार की भ्रांतियों का और रूढ़िवादिता का सामना कर रहा था। मुगलों के शासन के कारण भारतीय संस्कृति खतरे में पड़ी थी। ऐसे विषम समय में रामभक्ति काव्य प्रणेताओं ने भारतीय समाज को पुनर्गठित किया।

प्रकृति को मानव की चिर सहचरी माना जाता है। रामभक्ति के कवियों ने राम की उपासना करते हुए प्रकृति के अनेक रूपों को अपनी रचनाओं में पर्याप्त स्थान प्रदान किया है। इन [illegible] में वन, जंगल, पहाड ग्राम, जन–जीवन, सरिता [illegible] समावेश किया है।

रामकाव्य धारा का हिंदी साहित्य जगत् में विशेष स्थान है। रामकाव्यधारा में उपास्य श्री राम हैं जिनका व्यक्तित्व और चरित्र अति उत्तम है। राम शील व संकोच, मर्यादा और महानता की पराकाष्ठा पर आरूढ है। उनके चरित्र में भारतीय संस्कृति–हिन्दू धर्म के दर्शन होते हैं। रामभक्ति काव्य मानवीय मूल्यों की मंजूषा है।

रामभक्ति काव्यधारा की सबसे बड़ी उपलब्धि उसकी समन्वय साधना रही है। समन्वय की अंतत चेष्टा के माध्यम से तुलसी आदि कवियों ने उस समय के मानव–मानव को एक करने के प्रशस्त कार्य को अंजाम दिया। राम को आश्रय बनाकर कवियों ने जीवन–यापन का सफल संदेश दिया है।

15. कृष्ण काव्य धारा : वैशिष्ट्य और अवदान

कृष्ण काव्यधारा के वैशिष्ट्य और अवदान को स्पष्ट जानने के लिए इसे हम तीन भागों में विभाजित कर सकते हैं–

1. वस्तुगत वैशिष्ट्य और अवदान 2. भावगत वैशिष्ट्य और अवदान 3. शिल्पगत वैशिष्ट्य और अवदान

वस्तुगत वैशिष्ट्य और अवदान

1. **निर्गुण के स्थान पर सगुण की आराधना**: कृष्ण काव्य धारा के कवियों ने निर्गुण के स्थान पर सगुण ब्रह्म को प्रमुखता दी है क्योंकि साधना के स्तर पर उसे ज्ञानी ही जान सकते है। भक्तों में ज्ञान का अभाव होता है। वह आँखों के सामने नहीं दिखाई पड़ता। सगुण ब्रह्म निरन्तर उनके सामने दिखाई पड़ता है। इसलिए उसकी साधना सरल होती है।
2. **श्रीकृष्ण का मानवी और अवतारी रूप**: इस काव्य धारा के रचनाकार प्रभु श्री कृष्ण के दो रूपों का चित्रण करते हैं–मानवी और अवतारी। मानवी रूप में वे नन्द यशोदा और देवकी–वासुदेव के पुत्र है। अवतारी रूप में वे एक ईश्वर हैं।
3. **तत्कालीन समाज और संस्कृति**: इस युग के काव्यकारों ने तत्कालीन समाज और उसमें फलती–फूलती संस्कृति का यथार्थ वर्णन किया है।

भावगत वैशिष्ट्य और अवदान

1. **वात्सल्य और शृंगार रस**: कृष्ण काव्य धारा के सभी रचनाकारो ने वात्सल्य और शृंगाररस को प्रमुखता दी है। वात्सल्य प्राणिमात्र के मन की एक वृत्ति होती है। वात्सल्य वर्णन में कृष्णभक्त कवियों ने श्री कृष्ण के बाल्यकाल से लेकर किशोरावस्था की विभिनन क्रीड़ाओं का सफल चित्रण प्रस्तुत किया है। इसमें सूर का वात्सल्य सबसे निराला कहा जा सकता है। यह वर्णन जितना यथार्थ है उतना ही सहज एवं मार्मिक।
2. **विरहानुभूति चित्रण**: कृष्ण काव्य धारा के रचनाकारों ने वियोग शृंगार के अन्तर्गत विरह की विभिन्न भूमियों का सजीव रूप चित्रित किया है। विरह की अनेकों दशाएँ इस काव्य में प्रस्तुत की गई है। इन कवियों का विरह संवेदना जन्य है।

शिल्पगत वैशिष्ट्य और अवदान

1. **मुक्तक काव्य-रचना**: कृष्ण काव्य धारा के रचनाकारों ने प्रबंध रचनाओं का निर्माण न करके मुक्तक काव्यों का निर्माण किया है। कीर्तन भजन–जन्य आतुरता इनके काव्य रूपों में देखी जा सकती है। इन रचनाकारों ने पदों की रचना की है।
2. **बिम्ब तथा प्रतीक विधान**: कृष्ण काव्यकारों ने बिम्बों और प्रतीकों का प्रयोग रसानुभूति के लिए किया है। भ्रमरगीत में सन्दर्भित पदों में 'भ्रमर' का प्रयोग प्रतीक रूप में किया गया है।

कृष्ण भक्ति काव्य में दार्शनिकता

कृष्ण भक्ति काव्य का मुख्य उद्देश्य तो शंकर के अद्वैत दर्शन का खण्डन करके सगुण कृष्ण भक्ति की स्थापना करना है। कृष्ण भक्ति साहित्य की दार्शनिक पृष्ठभूमि स्वामी बल्लभाचार्य तथा स्वामी हितहरिवंश के राधावल्लभी सम्प्रदायों से निर्मित हुई 'पुष्टिमार्गीय', प्रेमा रागानुगा तथा माधुर्य भाव की मधुरा भक्ति माना है। उस भक्ति की दार्शनिक मान्यताएँ तो भागवत पुराण में वर्णित पुष्टिमार्गी जीवन दर्शन है।

कृष्ण काव्य के वैशिष्ट्य और अवदान को इस रूप में प्रकट किया जा सकता है।

भक्ति का स्वरूप प्रेम: कृष्ण भक्ति का आधार प्रेम है। इस प्रकार उनकी भक्ति को प्रेमा–भक्ति अथवा रागानुगा–भक्ति की ज्ञाता है। जब कृष्ण के प्रति अगाध प्रेम अथवा आसक्ति हो जाती है, तब स्वाभाविक रूप से सांसारिक भोग–विलास राम काव्यों से विरक्ति हो जाती है। अतः कृष्ण भक्ति में प्रवृत्ति तथा निवृत्ति दोनों वृत्तियाँ ही कलात्मक रूप में

समन्वित दिखाई देती हैं कृष्ण–भक्तों की ऐसी 'प्रेमा–भक्ति' वात्सल्य, सख्य तथा माधुर्य आदि तीनों रूपों को धारण करने वाली त्रिवेणी है। वास्तव में यदि मनोवैज्ञानिक तथा काव्य शास्त्रीय दृष्टि से देखा जाये तो उपर्युक्त तीनों भाव शृंगार रस के तीन पृथक–पृथक स्थायी भाव हैं। जैसे पुत्र–विषयक रति से वात्सल्य रस, मित्र–विषयक रति से शृंगार एवं माधुर्य रस तथा गुरू विषयक रति से भक्ति रस निष्पन्न होता है। प्रेम का चरम रूप माधुर्यमयी मधुरा भक्ति में देखा जा सकता है क्योंकि ऐसी स्थिति में भक्त तथा भगवान् में कोई भेद नहीं रहता है।

2. **जीव तथा ब्रह्म के रूप की चर्चा:** आचार्य बल्भ के दार्शनिक विचारों के अनुसार ब्रह्म के अतिरिक्त और कुछ नहीं है, जीव और जगत् उसी ब्रह्म के सत् और चित्त अंश है। वही ब्रह्म आनन्दमय श्री कृष्ण के रूप में नित्य लीलामय है। वल्लभ का सिद्धान्त दार्शनिक शब्दावली में शुद्धाद्वैतवाद माना जाता है। इस दर्शन के अनुसार ब्रह्म सगुण है जो साक्षात् कृष्ण के रूप में देखा जा सकता है। कृष्ण पूर्ण रूप से सोलह कला पूर्ण रसमय है। श्रीकृष्ण का धाम गोलोक है तथा गोपों, गोपियों, यमुना, वृन्दावन, लताएँ, कुंजे आदि सभी जगतवादी जीवात्माएँ कृष्ण का ही अंश है। राधा–कृष्ण ही इष्टदेव हैं।

3. **वेद-मर्यादा तथा कर्मकाण्ड पर चर्चा:** कृष्ण भगतजनों का जीवन–दर्शन है कि समस्त प्राणी चेतना का रागमय अथवा कृष्णमय हो जाना ही सच्चा ज्ञान है, जो प्रेमा–भक्ति से सभी कृष्ण–भक्तों को सुलभ है। इसलिए कृष्ण भक्त वैदिक मर्यादा जप, तप, योग तथा कर्मकाण्ड को महत्त्व न देकर केवल 'प्रेम' पर बल देते हैं।

4. **निवृत्ति और प्रवृत्ति के बारे में विचार:** बल्लभाचार्य द्वारा स्थापित दर्शन में निवृत्ति तथा प्रवृत्ति दोनों ही जीवन मार्गों का अनुपम योग है। मुख्य रूप से प्रवृत्ति का पोषक होते हुए भी स्वाभाविक निवृत्ति को अपनाया जाना कृष्ण–भक्तों की विशेषता है। मनोविकारों और मन की सभी प्रवृत्तियों को कृष्णोन्मुख करना तो प्रवृत्ति मार्ग है तथा कृष्णलीला उस प्रवृत्ति मार्ग का साधन है। स्वाभाविक रूप में जब भक्त प्रेम से उन्मुक्त होकर कृष्णमय हो जाता है तो वह संसारी क्रियाकलापों से विरक्त हो जाता है जिसे निवृत्ति मार्ग कहा है। नवधा–भक्ति में प्रवृत्ति तथा निवृत्ति दोनों मार्गों का सम्मिश्रण है।

5. **श्रीकृष्ण के विभिन्न नामों का उल्लेख:** श्री कृष्ण जो स्वयं ब्रह्म–स्वरूप है उनका सौन्दर्य अद्वितीय है। उन्हें लीलाधारी, नटवर नागर, श्याम मुरारी, गोविन्द, गिरिधर, घनश्याम, राधेश्याम, बांकेबिहारी, रसीले कृष्ण आदि अनेक नामों से संबोधित करते हुए कृष्ण भक्ति में नाम स्मरण का भी विशेष महत्त्व है, क्योंकि भक्त को अपनी इच्छानुसार जो नाम प्रिय लगे उसी का स्मरण करे।

6. **सत्संग तथा गुरू की महिमा:** कृष्ण–भक्ति दर्शन में सत्संग, कीर्तन, संगीत तथा रासलीलाओं पर विशेष बल दिया जाता है। गुरू की महिमा तो सभी कृष्ण भक्तों ने गाई है। गुरू–कृपा से ही भक्त, प्रेमा–भक्ति में अनुरक्त होता है।

7. **लोकमंगल की अपेक्षा लोकरंजन को प्रमुखता:** पुष्टिमार्गीय कृष्ण–भक्तजनों तथा अन्यों ने लोकमंगल की भावना को अधिक महत्त्व नहीं दिया जितना महत्त्व उन्होंने लोकरंजन को दिया है। लोकरंजन की भावना पर अधिक बल इसलिए भी दिया गया क्योंकि प्रवृत्ति मार्ग के अनुसार लोक मनोरंजन, ऐन्द्रिय आकर्षण तथा तुष्टि से ही भक्त को प्रेम का अद्भुत आनन्द मिलता है।

8. **रासलीलाओं के भिन्न-भिन्न रूपों की चर्चा:** कृष्ण भक्ति के क्षेत्र में कृष्ण की जीवन संबंधी अनेक प्रकार की लीलाओं को चित्रित करके पुष्टिमार्गीय जीवन दर्शन की ख्याति फैलाई है। इसीलिए, भगवान कृष्ण को गोपियों के साथ नृत्य करते हुए भी दिखाया जाता है और ग्वालों के साथ माखन–चोरी करते हुए भी दिखाया है। लगभग कृष्ण सभी लीलाएँ करके भी उनसे निर्लिप्त रहते हैं। इनके अनेक रूपों का चित्रण इस प्रकार किया जा सकता है–

   (i) **ब्रह्म को सगुण तथा साकार रूप में मानना:** कृष्ण भक्ति साहित्य में सगुण ब्रह्म की उपासना करने ही रीति है। कृष्ण भक्तों की मान्यता है कि कृष्ण ही ब्रह्म अथवा ईश्वर है जो साकार एव सगुण है। कृष्ण को नित्य अजर–अमर है। अतः कृष्ण काव्य की यही प्रमुख विशेषता है कि उसमें कृष्ण एवं राधा को ही इष्ट माना है।

   (ii) **अवतारवाद:** कृष्ण–भक्तों में विष्णु के अवतार कृष्ण को दुष्टों का संहार तथा सज्जनों का उद्धार करते हुए दिखाने की प्रवृत्ति है। जब अधर्म तथा पाप चरम सीमा पर पहुँच जाते हैं तब वैकुण्ठ–धाम से विष्णु को कृष्ण के रूप में अवतार लेना पड़ता है। अपनी लीला का प्रदर्शन करना भी अवतार का स्वभाव है।

   (iii) **प्रेम-भाव का निरूपण:** कृष्ण–भक्तों ने भक्ति का आधार एकमात्र प्रेम तत्त्व ही माना है। प्रेम की उच्चतम कोटि मधुरा भक्ति है। कृष्ण के प्रति प्रकट किया गया सच्चा प्रेम ही शृंगार रस का स्थायी भाव 'रति' है जो भक्तों की भावनानुसार 'वात्सल्य' 'सख्य' तथा 'माधुर्य' भाव में परिणत होता है। इसीलिए शृंगारी भाव ही प्रधान है।

(iv) **ब्राह्याडम्बरों का विरोध**: कृष्ण भक्ति में प्रेम का पंथ ही अनूठा रहा है। इसमें जप, तप, योग तथा वैदिक कर्मकाण्ड की आवश्यकता नहीं। प्रेम को किसी ब्रह्याडम्बर की आवश्यकता नहीं, वह तो हृदय की अनुभूति कही जा सकती है।

(v) **वात्सल्य, शृंगार तथा शान्त रस की प्रधानता**: सम्पूर्ण कृष्ण काव्य में प्रमुख रूप से वात्सल्य शृंगार तथा माधुर्य जन्य शांत रस की अभिव्यक्ति मिलती है।

(vi) **संगीत की ओर प्रवृत्ति**: कृष्ण–भक्ति साहित्य में संगीत–माधुरी को महत्त्व प्रदान करने के लिए ही अधिकांश भक्ति पद राग–रागिनियों में निबद्ध है। सूरदास, नन्ददास तथा मीरा के पद संगीतमय साहित्य के प्रमाण है।

(vii) **प्रकृति चित्रण**: कृष्ण भक्ति साहित्य भावात्मक काव्य है। ब्रह्म प्रकृति का चित्रण इसमें या तो भाव की पृष्ठभूमि में हुआ है या उद्दीपन भाव के लिए। डा० ब्रजेश्वर ने लिखा है, "दृश्यमान जगत् का कोई भी सौन्दर्य उनकी आँखों से छूट नहीं सका। पृथ्वी, आकाश, जलाशय, वन–प्रान्त तथा कुंज–भवन की सम्पूर्ण शोभा इन कवियों ने प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में निःशेष कर दी है।"

(viii) **काव्य रूप**: कृष्ण काव्य का सृजन प्रायः मुक्तक शैली में हुआ है। कृष्ण काव्य में एक प्रबन्ध काव्य भी मिलता है, जिसकी रचना शुद्ध ब्रजभाषा में हुई। ग्रंथ का नाम है, 'ब्रज विलास' नन्ददास के भँवरगीत, रास पंचाध्यायी आदि में कथात्मकता की मनोवृत्ति देखी जा सकती है।

16. भक्ति कालीन गद्य साहित्य

भक्तिकालीन समय में गद्य साहित्य के क्षेत्र में भी उत्थान का काल रहा है। इसमे अनेक रचनाकारो ने अपनी कृतियों से इस काल को सुशोभित किया है। भक्ति कालीन गद्य साहित्य को हम चार वर्गों में विभाजित कर सकते हैं–

1. ब्रजभाषा में रचित गद्य साहित्य
2. खड़ीबोली में रचित गद्य साहित्य
3. दक्खिनी में रचित गद्य साहित्य
4. राजस्थानी में रचित गद्य साहित्य

1. **ब्रजभाषा में गद्य साहित्य**: भक्तिकालीन समय में गद्य साहित्य में उल्लेखनीय कार्य किया गया। इसमें इतिहास, भूगोल, सामाजिक, संदर्भित विषयों में कार्य किया गया। गद्य के इतिहास में गोरखपंथी ग्रंन्थों की चर्चा मिलती है।

2. **खड़ी बोली में गद्य साहित्य**: उत्तर भारत में खड़ी बोली में रचित गद्य रचनाओं का इतिहास बहुत पुराना नहीं है। प्रामाणिक रचनाएँ 17 वीं शताब्दी से प्राप्त होती है। इस काल की जो रचनाएँ मिलती है, वह इस प्रकार हैं–कुतुबशतक, भागलु पुरान, गणेस गोसठ, पोथी सचुषुंड।

3. **दक्खिनी में गद्य साहित्य**: दक्खिनी का अविर्भाव सूफियों और संतों के द्वारा हुआ। इन रचनाओं का विषय प्रेमाख्यानक रहा है। इसका आदि कवि गेसूदराज बन्दानवाज माना जाता है। दक्खिनी गद्य की कृतियों में वजही कृत 'सबरस' का विशेष महत्त्व रहा है। इसका गद्य कवित्वमय है।

4. **राजस्थानी में गद्य साहित्य**: राजस्थानी का गद्य इतिहास काफी पुराना है। मारवाड़ी बोली में गद्य का पुष्कल साहित्य प्राप्त होता है। इस गद्य में अनेक विषयों को अपने वर्णन का विषय बनाया है। राजस्थानी गद्य की प्रमुख भक्तिकालीन गद्य कृतियॉ–तत्त्व विचार पृथ्वीचन्द चरित्र, धनपाल कथा, अंजनासुंदरी कथा' आदि है। इन कृतियों में कुछ कृतियां जैन धर्म से संबंधित भी रही हैं।

भक्तिकालीन राजस्थानी गद्य की और भी रचनाएँ है। उनमें से कुछ रचनाओं के नाम ये हैं–आदिनाथ चरित्र, कालिकाचार्य कथा, श्रावक व्रतादि अतिचार, कल्याण मंदिरस्रोत की अवचूरी यानी व्याख्या, गणितसार, मुग्धावबोध मौक्तिक टीका (टीका ग्रंथ) कोकशास्त्र बालावबोध, उक्ति संग्रह भाष्य आदि।

राजस्थानी मारवाडी भाषा की गद्य रचनाएँ भी शामिल की जाती है उनमें वंशावली, पट्टावली, पीढावली रचनाएँ ऐतिहासिक तथ्यों का उल्लेखपरक हैं। कुछ आज्ञापत्र, ताम्रपत्र, प्रशस्ति पत्र भी गद्य से मिलते है। संस्कृत–प्राकृत ग्रंथों की व्याख्याएं मिलती है। 'बेली किसन रूक्मणी री टीका' इस काल की प्रसिद्ध टीका है। ये सब गद्य रचनाएँ अललित गद्य की कोटि की है। ललित गद्य की रचनाएँ भी है पर वे परिमाण में कम है।

भक्तिकालीन गद्य साहित्य की विशेषताएँ

1. भक्तिकालीन गद्य साहित्य की प्रवृत्ति प्रायः आदिकालीन गद्य साहित्य की तरह पद्यानुकारी गद्य जैसी रही है। पद्य में तुक का जो महत्त्व था वह इस समय के गद्य में भी देखने में आता है। एक तरह से यह पद्य को गद्य की ओर ले जाने का प्रयास है; जैसे "महाराज मांगियों सो पाओ" गद्य साहित्य के जो अंश मिलते है वे गद्य खंडो के रूप में ही जानने चाहिए। सम्पूर्ण गद्य रचना रचने का अभी चलन नहीं हुआ था। जो रचनाएँ ऐसी मिलती है जो कि गद्य में है और पूरी रचना गद्य में है, उनकी प्रामाणिकता संदिग्ध है। इस तरह की एक रचना 'चंद छंद बरनन की महिमा' है, 'इसके रचयिता गंग कवि है। वस्तुतः यह पृथ्वीराज रासो की महत्ता को प्रतिपादित करने के उद्देश्य से लिखी गई परवर्ती रचना है। इसकी प्रामाणिकता में संदेह है।

2. **भक्तिकाल के गद्य के कई रूप मिलते हैं**: ब्रजभाषा गद्य, खड़ी बोली गद्य, दक्खिनी गद्य, राजस्थानी गद्य आदि। इनमें से ब्रजभाषा गद्य की पंडिताऊ छवि, दक्खिनी गद्य की उर्दू–फारसी मिश्रण पद्धति खड़ी बोली की गद्य कृतियाँ बहुत सी पद्य रचना के अनुवादवाली है। छः राजस्थानी गद्य मुख्य रूप से कथा, वर्णन, वचनिका, पत्रावली, गुर्वावली, बालावबोध आदि के रूप में बढ़ी है।

3. भक्तिकालीन गद्य के सन्दर्भ में ऐसी रचनाएँ भी आ गई है जिनका उल्लेख दूसरे विद्वानों ने अपभ्रंश की गद्य रचनाओं के संदर्भ में किया है। उदाहरण के लिए पृथ्वीचन्द्र नामक कृति है जिसके रचयिता माणिक्य चन्द्र सूरि है। इसका मतलब यह है कि अपभ्रंश का चलन अभी तक वर्तमान था। वह धीरे–धीरे कम हो रहा था। इसलिए बहुत से विद्वान अपभ्रंश और पुरानी हिंदी में स्पष्ट अन्तर करने में अधिक सक्षम रहे हैं।

4. भाषा की वैज्ञानिक दृष्टि से भक्तिकाल का गद्य बड़े महत्त्व का है। किस प्रकार संहित भाषा व्यवहित बनती है उसका संश्लिष्ट पद–क्रिया रूप सरलता की ओर है और उसका पूर्व रूप इस काल के गद्य में मिलता है बहुत से शब्द एकदम संस्कृत विभक्तियों से युक्त होकर प्रयुक्त हुए है और बार में उनकी वे विभक्तियाँ घिसकर वर्तमान हिंदी रूप में ढली है। महादेव गोरषगुष्टि में आये ऐसे शब्द इस तरह के उदाहरण हैं–उतपतते, कथन्ति, कथित, भ्रमते। उतपतते शब्द मूलरूप से संस्कृत की आत्मनेपदी धातु के रूप का है। कथन्ति संस्कृत के कथयन्ति क्रिया रूप में संक्षिप्तीकरण है। कथित, भ्रमते भी संस्कृत के विभक्ति युक्त शब्द है।

5. भक्तिकालीन गद्य में ललित गद्य का समावेश अपेक्षाकृत अधिक होना प्रारंभ हो गया था। जो गद्य वंशावली पत्र, टिप्पणी, व्याख्या, व्याकरण, गणित अनुवाद आदि के रूप में बिखरा हुआ था वह परिमाण में अधिक था पर ललित गद्य भी अपना स्वर उठा रहा था।

6. इस समय के गद्य के साथ पद्य का समावेश कई रूपों में देखने में आता है कुछ रचनाएँ ऐसी है जो पूर्णतः गद्य की हैं। दूसरी तरह की रचनाएँ गद्य के साथ पद्य को भी साथ–साथ लेकर चली हैं। तीसरी पद्य प्रधान ऐसी रचनाएँ है जिनमें थोड़ा बहुत गद्य भी आता चला जाता है।

7. गद्य के विकास की दुर्बलता में विद्वानों ने पद्य के झुकाव को कारण माना है। पद्य प्रायः कंठ करने में सरल होता है। इसलिए पद्य को अधिक प्रमुखता मिलती रही है और इस जमाने तक साहित्य को कंठस्थ करने की परम्परा बराबर बनी हुई थी। अतः गद्य की ओर झुकाव कम रहा।

8. दक्खिनी हिंदी की तरह दक्खिनी गद्य भी उर्दू फारसी मिश्रित रूप में इस काल में देखने में आता है। इसके रचयिता मुख्यतः वे मुसलमान विद्वान थे जिनका हिंदी से संबंध था या जो हिंदी प्रदेश से दक्खिन में जा बसे थे।

9. गद्य खंड के ऐसे अनेक नमूने हैं जो किसी एक भाषा के अनिवार्यतः नहीं लगते। ब्रजभाषा, खड़ीबोली, राजस्थानी और अपभ्रंश के मिले–जुले गद्य खंड इस समय देखने में आते है। उनके अलगाव की स्थिति धीरे–धीरे बदलने की ओर थी पर यह बदलाव मंद मालूम पड़ता है।

भक्तिकाल में साहित्यिक (ललित) गद्य बहुत कम परिमाण में रचा गया। इस समय की ललित ग्रन्थ रचनाओं की संख्या बीस से अधिक नहीं है। भक्तिकालीन सामान्य गद्य का भी परिमाण विशाल नहीं कहा जा सकता हैं। बौद्धिक व्यावहारिक जीवन के अपेक्षाकृत कम विकसित होने, तत्कालीन जन–मानस के आज की अपेक्षा अधिक भावुक, काव्यप्रिय, धर्मनिष्ठ होने

भक्ति–आन्दोलन की तीव्रता, संस्कृत, प्राकृत, और अपभ्रंश की पथ प्रश्रय, प्रवृत्ति, प्रेम का अभाव, कागज की कमी, साहित्य को कण्ठस्थ करने की परम्परा और विभाषाओं में व्याख्यानुवाद की प्रवृत्ति प्रबल न होने के कारण गद्य का विकास भक्तिकाल में नहीं हो सका।

17. भक्तिकालीन काव्य की उपलब्धियाँ

भक्तिकालीन समय हिंदी साहित्य के इतिहास में एक महत्त्वपूर्ण काल रहा है। हिंदी के उच्चकोटि के और बड़े महत्त्व के कवि इस काल में हुए हैं। कबीर, जायसी, तुलसी, सूर, मीरा, रसखान आदि सभी इसी काल की शोभा थे। अपनी प्रतिभा और काव्य सर्जना की असीम प्रभावशाली दक्षता के कारण उन्होंने इस काल को सुशोभित किया है। अपने–अपने क्षेत्र के ये सर्वाधिक प्रभावशाली कवि हुए है। काव्य संबंधी अनेक विशेषताओं के साथ–साथ इनमें भक्ति की अतल स्पर्शी गंभीरता भी देखने में आती है। भक्ति और काव्य का इतना उच्चकोटि का व्यामिश्रण और किसी काल में नहीं मिलता। भारतीय संस्कृति का यह मूल गुण रहा है कि यहाँ लौकिकता से पारलौकिकता को ऊँचा माना जाता रहा है। धर्म और अध्याय में बढ़े हुए मन्त्रपूत आर्ष–चक्षु ऋषियों के सामने सम्राट लोग झुकाते रहे है। भक्तिकाल में भी ऐसी ही पाते हैं। पहुँचे हुए सन्त–साधुओं के सामने राजा और राजनेताओं ने अपना सिर झुकाया है। उनकी कृपा की याचना की है। अकिंचनता के सामने सम्पन्नता का ऐसा झुकाव और किसी काल में देखने में नहीं आता। इतनी अधिक गंभीरता और आध्यात्मिक उच्चता के होते हुए भी ये कवि अपने को सदैव, दीन, हीन, तुच्छ और कमजोर समझते रहे।

रामभक्ति काव्य के महात्मा तुलसीदास ने तपस्वी बाल्मीकि द्वारा प्रचलित रामकथा को अपने ढंग से प्रस्तुत करके रामकथा का सर्वजन सुलभ स्वरूप पैदा किया। उन्होंने अनेक ग्रंथों की रचना की–विनयपत्रिका, रामचरितमानस, कवितावली, गीतावली आदि उनमें से प्रमुख हैं। सभी में राम की कथा को तरह–तरह से बढ़ाया गया है। भगवान के अवतार की कथाश्रित व्याख्या करके राजा रंक, गृहस्थी भिखारी, ऊँच–नीच, अच्छे–बुरे, बालक–वृद्ध, स्त्री–पुरूष सबके लिए भगवान की पूजा अर्चना, पाठ रामायण, सेवा सत्संग का मार्ग, खोल दिया। शंकराचार्य के अद्वैत सिद्धान्त के सन्यास मार्ग की प्रतिष्ठा थी। उसे स्वीकार न करके रामानुजाचार्य सम्मत विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त की तुलसी ने व्यावहारिक सरलता प्रस्तुत की। पतंजलि ने अपने व्याकरण महाभाष्य में एक श्रुति वाक्य का उल्लेख किया है–

"एकः शब्दः सम्यकः ज्ञातः सुप्रयुक्तः स्वर्गे लोके काम धुग्भवति।"

अर्थात एक ही शब्द यदि अच्छी तरह से जान लिया जाए और उसका ठीक–ठीक प्रयोग कर दिया जाए तो वह स्वर्ग में भी और इस लोक में भी मनवांछित फलों को देने वाला होता है। ऐसा लगता है गोस्वामी तुलसीदास ने एक शब्द राम को अच्छी तरह जान लिया था उसका ठीक प्रयोग भी किया था। वह उनके लिए इस लोक में तो मनवांछित फलदाता हुआ ही उनका परलोक भी सुधर गया।

रामचरितमानस के अत में वे कहते हैं–

"जाकी कृपा लवलेस ते मतिमंद तुलसीदास हूँ।
पायो परमविश्रामु राम समान प्रभु नाहीं कहूँ।।"

कृष्ण भक्त कवियों के सिरमौर अंधे सूर ने अपने बंद नेत्रों से ब्रह्म को माया के संबंध से रहित देखकर शुद्धाद्वैत समर्थित विचारों को भगवान सम्मत सूरसागर में अभिव्यक्त किया। ब्रजभाषा का महा महत्त्व का सूरसागर कृष्ण भक्ति का आकार ग्रंथ है। भागवत पुराण से प्रभाव लेकर अपनी मौलिकता और मेंधा से और कवित्व शक्ति से बड़े निखरे रूप में प्रस्तुत किया। भागवत पुराण में जिसका नाम भी नहीं है, उस राधा को मूल्य देकर रसनीयता का ऐसा सागर बहाया जिसमें तपोभूमि वृन्दावन और ब्रज विश्वविख्यात हो गये। सूरदास की सूक्ष्मेंक्षण शक्ति बड़ी अद्‌भुत थी। बाललीला का वर्णन करके उन्होंने ऐसा साहित्य उभारा जो सहज ही रस चुबिनी कोटि में रखा गया और वात्सल्य को रसत्व सिद्ध करने में अतीव सहायक रहा। शृंगार का संयोग वियोग गोपियों के माध्यम से व्यक्त करे रसनीय काव्य प्रदान किया। उन्हें वात्सल्य और शृंगार रस का सम्राट कहा जाता है। ऊँचे भक्त और ऊँचे कवि, दो अद्‌भुत शिखरों का मेंल सूर के साहित्य में है। अष्टछाप के कवि और मीरा तथा रसखान अपनी–अपनी तरह से काव्य को आगे बढ़ाते रहे पर उनको प्रेरणा देन वाल सूरदास ही है जिनको ब्रज के पत्ते–पत्ते में सांस–सांस में रमें कृष्ण का उनकी आझदिनी शक्ति राधा का अनुभव होता रहा। सूर के सामने राधा संबंधी साहित्य था जिसका सूर ने रसमय प्रयोग किया। रूप गोस्वामी महाराज के 'भक्तिरसामृत सिन्धु' और 'उज्जवलनील मणि' इस तरह की गहराई के बेहद प्रशंसनीय ग्रंथ हैं। हितहरिवंश का राधासुधानिधास्तव भी इसी कोटि का है। उसके एक–एक श्लोक पर सूर जैसा सिद्ध कवि सौ–सौ छंद लिख सकता है, जैसे, एक श्लोक द्रष्टव्य है–

"प्रेमोल्लासेक सीमा परम रस चमत्कार वैचित्र्य सीमा।
सौन्दर्यस्यैक सीमा किमपि नवयोरूप लावण्य सीमा।।
लीला माधुर्य सीमा निज जन परमौदार्य वात्सल्य सीमा।
सा राधा सौख्य सीमा जयति रतिकला केलिमाधुर्य सीमा।।"

अर्थात प्रेम के उल्लास की एक सीमा, परम रस के चमत्कार की विचित्रता की सीमा, सौन्दर्य की एक सीमा, अनिर्वचनीय नवीन वय रूप लावण्य की सीमा, लीला युक्त माधुर्य की सीमा, निजजन के प्रति परम उदारता और निज जन 'दासीजन के' प्रति वात्सल्य की सीमा, सौख्य की सीमा, रतिकलाओं, और केलियों के माधुर्य की सीमा, श्री राधा की जय–जयकार होती रहे।

हिंदी साहित्य के भक्तिकाल में कृष्ण काव्य लिखने वाले अपरिमित कवि मिल जायेंगे लेकिन उनमें जो स्थान सूर को मिला, वह किसी अन्य को नहीं मिल सकता है। सूरसागर सूर की सर्वसम्मत प्रामाणिक रचना है। सूर के सागर में प्रेम की उत्ताल तरंगे सदैव तरंगायित होती रहती है। सूर की दृष्टि पैनी थी। वे अपने युग के समाज के प्रति पूर्णतः सचेत रचनाकार थे। यवनों के अत्याचार से आक्रांत जनता के मन से जब ईश्वर के प्रति विश्वास उठ गया था, ऐसे समय में सूरदास ने अपने दिव्य प्रेमसंगीत द्वारा जीवन में आस्था जगाई और आशा का संचार किया।

भक्तिकालीन साहित्य में तुलसी का प्रादुर्भाव एक युगान्तारी घटना है। इनमें कारयित्री प्रतिभा का अद्भुत सामंजस्य देखा जा सकता था। तुलसी का लोकानुभव अत्यन्त व्यापक था। वे सच्चे अर्थों में व्युत्पन्न कवि थे। भक्तिकालीन रचनाकारों ने समाज की निम्न वर्गीय जनता की वर्ग चेतना की व्यंजना की है। तुलसी एवं सूर जैसे समाज के दिशावाहक, प्रेरणास्रोत एवं महिमामंडित कवि कभी–कभी इस धरती पर जन्म लेते हैं। जिस काल में इस प्रकार के महिमामंडित कवि एवं रचनाकार उत्पन्न हुए हो वह काल अवश्य ही उपलब्धियों से भरा होगा।

भक्तिकालीन समय में हिंदी साहित्य के महान् रचनाकार उत्पन्न हुए। इन्होंने न केवल अपनी रचना–धर्मिता, काव्य–लालित्य, अलंकरण और भाषा भाव से राष्ट्र एवं समाज की प्रतिष्ठा बढाई, अपितु लोक चेतना को अद्भुत संजीवनी प्रदान की है। ऐसी लोक चेतना से समाज को दिशा प्राप्त है। इस प्रकार से समाज धीरे–धीरे दासत्व से मुक्ति, भौतिकता से अध्यात्म, अविपरीत अंधकार से प्रकाश तथा मृत्यु से अमरत्व की ओर जाने में समर्थ होता है। शाश्वत संदेश का वहन करने वाली यह चेतना एक जाति की नहीं, अपितु मानवता के लिए आलोक–स्तम्भ बनती है। इस प्रकार के महान् रचनाकार केवल रचनाकार ही नही रह जाते, वरन् युगद्रष्टा महापुरूष और लोकनायक के रूप में प्रतिष्ठित हुआ करते हैं।

जिस समय उत्तर भारत में नाथों और सिद्धों की अंतस्साधना प्रचलित हो चुकी थी, उसी समय दक्षिण भारत में आलवार भक्तों की भावधारा भी प्रवाहित हो रही थी जिसका समर्थन वहाँ के वैष्णव आचार्यों द्वारा किया गया। दक्षिण भारत मे वैष्णव धर्म की स्थापना करने वाले रामानुज, मध्व, विष्णु स्वामी और निम्बार्क के चार महान् आचार्य हुए। इनके प्रयास से वैष्णव धर्म की पावन धारा दक्षिण से उत्तर की ओर प्रवाहित होने लगी। भक्ति के आचार्यों एवं भक्त कवियों की प्रेरणा से भक्तिकाल में चार मुख्य धाराओं का उदय हुआ–संत काव्यधारा, सूफी काव्यधारा, कृष्णकाव्यधारा एवं राम काव्यधारा। भक्ति आन्दोलन के परिणामस्वरूप हिंदी में ऐसे साहित्य की सृष्टि हुई जिसमें काव्य कला का चरम विकास दिखायी देता है। गुण एवं परिणाम दोनों की दृष्टियों से इस युग में विपुल साहित्य लिखा गया है।

भारतीय धर्म साधना एवं चेतना के इतिहास में हिंदी संत काव्य का प्रमुख स्थान हैं। धर्म, साधना एवं लोक जीवन के निर्मल स्वरूप को विकृत तथा विषम बनाने वाले तत्त्वों की इन कवियों ने तीव्र स्वर में आलोचना की। अंधविश्वास में डूबे समाज के लिए इन्होंने कल्याणकारी अभिनव मार्ग प्रशस्त किया। लोककल्याण के नाम पर प्रसारित आडम्बर, अनाचार एवं बह्यचारों की निंदा करते हुए संतों ने उसकी निस्सारता प्रमाणित की। संतों के कण्ठों से प्रस्फुटित ये वाणियाँ मंदाकिनी के दृश्य मानवता का मंगल पाथेय बनीं। संतों की दृष्टि में कवि एवं कवि कर्म सामान्य नहीं था। इन्होंने अपने संदेशों एवं उच्चादर्शों के प्रचार हेतु काव्य को माध्यम बनाया। हिंदी साहित्य में संत काव्य ने साहित्य एवं कला की अभिनव मान्यताएँ संस्थापित की। इनका मतवाद सहज साधना पर अवलम्बित है, उनकी दार्शनिक विचारधारा मूल उद्गम उपनिषद है। इनकी वाणी में सरलता एवं प्रभावोत्पादकता विद्यमान है। ये संत नैतिकाता के प्रचारक, सत्य उद्घाटक एवं समाज–सुधारक थे। इनमें अटूट विश्वास भरा हुआ था। संत कवियों की समाज साधना उन्हें अन्य कवियों के सामान्य स्तर से ऊपर उठाकर सम्मानित आसन पर प्रतिष्ठित कर देती है।

अपने तत्कालीन युग की धार्मिक विसंगति को दूर कर इन संतों ने सांस्कृतिक सामंजस्य स्थापित किया। इन्होंने हिन्दू एवं मुस्लिम के संघर्ष से पीड़ित मानव के हृदय में यह भरने का पुष्ट प्रयत्न किया कि राम–रहीम, केशव–करीम में भिन्नता नहीं है। धर्म की सबसे

बड़ी विशेषता है औदार्य, करूणा से मुक्त होना, दया एवं सहिष्णुता का विकास करना। इन गुणों से परे रहकर मानव लौकिक–आलौकिक कोई सुख नहीं प्राप्त कर सकता। समाज, धर्म और संस्कृति के विकास एवं उत्थान की दृष्टि से संतों का योगदान महत्त्वपूर्ण रहा है। उन्होंने अपने रचना बल के द्वारा सत्य, क्षमा, दया, त्याग, विनय, समता, समदृष्टि, कथनी, करनी, आदि सामाजिक विश्वासों की परिपाटी ही बदल दी है।

संतों का लक्ष्य बड़ा ही व्यापक रहा है। इन्होंने जीवों के निस्तार के लिए उच्चादर्शों के उपदेश दिए। मानव को कल्याणकारी पथ पर अग्रसर करना ही इनका उद्देश्य था। इनके हृदय में दुःखियों के प्रति असीम संवेदना थी। वे संसार को सुखी एवं प्रसन्नचित देखना चाहते थे। इसलिए इन्होंने सामाजिक परिवेश को सुधारने का सतत् प्रयास किया। संसार का सम्पूर्ण दुःख दारिद्रय वे अपने ऊपर लेना चाहते थे। इससे अधिक व्यापक तथा महत्त्वपूर्ण मानवतावादी दृष्टिकोण उच्च कोटि के संतों में ही हो सकता है।

"जै दुखिया संसार में, खावो तिनका दुक्ख।
दलिद्दर सौंपि मलूक को लोगन दीजै सुक्ख।।"

संतों का मत था कि सद्गुण एव नैतिक शक्ति बहुत ही प्रभावोत्पादक होती है इसीलिए इन्होंने मानव में मानसिक शक्ति बढ़ाकर उत्साह भरने की चेष्टा की। वे मानते थे कि मानव में वह शक्ति है जिसके नाते वह अपनी समस्याओं का समाधान स्वयं कर सकता है। स्पष्टतः इन्होंने नैतिकतापूर्ण मानवतावाद का समर्थन किया जिससे जनता में आर्थिक उदारता और विनम्रता आई।

संत साहित्य सामाजिक प्रगतिशीलता का प्रतीक है। प्रत्येक दृष्टि से यह साहित्य प्रगतिशीलता के रंग में अनुरंजित है। काव्य के अंतरंग–बहिरंग पक्षों में तत्कालीन संत कवि पूर्णतः प्रगतिशील हैं। भाषा, भाव, रस, छंद, आदि की दृष्टि से उन्होंने ऐसे प्रयोग किये जो उनके युग की मान्यताओं को पुष्टता, प्रदान करते है। इनके द्वारा सुझाये गये विचार भावेष्य के लिए मानदंड बन गये। उन्होंने समाज में प्रगतिशील विचारों का समावेश कर युग–युग से पीड़ित जनका का उद्धार किया। संत चरनदास के विचारों में इस प्रकार की स्थिति का सुदर आकलन किया गया है–

"एकन पग पनही नहीं एक चढ़ै सुखपाल।
एक दुखी एक अति सुखी, एक भूप इक रंक,
एकन को विद्या बड़ी, एक पढ़े नहिं अंक।
एकन को मेवा मिलै, एक चने भी नाहिं,
कारन कौन दिखाइये, करि चरनन की छांहि।।

उपर्युक्त पंक्तियों से स्पष्ट हो जाता है कि इन संतों ने जिस साहित्य को रचना की, वह सच्चे अर्थों में जन–साहेत्य है। भाषा एद विचार–बोध की दृष्टि से वह शुद्ध रूप से लोक की वस्तु है। अपनी वाणी के द्वारा संतों ने देश को एक महान सांस्कृतिक जाल में बाँध दिया। सामंती एवं अभिजात श्रृंखलाओं के छिन्न–भिन्न हो जाने पर जातीयता विकसित हुई, जिसका शासन वर्ग की रूढ़ता और संस्कारों से दूर–दूर तक कोई संबंध नहीं था। संतों में एक गहरा दायित्व–बोध था जिसके द्वारा वे देश और समाज के सजग प्रहरी बने। एक उदाहरण दृष्टव्य है–

"सुखिया सब संसार है, खावै और सोवै। दुखिया दास कबीर है, जागै और रोवै।।"

सूफी काव्यधारा भक्तिकाल की दूसरी महत्त्वपूर्ण धारा है। इसको प्रेमाख्यानक काव्य के नाम से भी जाना जाता है। भक्तिकाल को स्वर्ण युग बनाने में इस धारा के कवियों का योगदान भी महत्त्वपूर्ण रहा है। सूफी मत इस्लाम धर्म का प्रतिनिधित्व करने वाली एक प्रमुख धारा का नाम है, जिसक पर कुरान का स्पष्ट प्रभाव दिखाई पड़ता है। दिल्ली के शासक किसी न किसी सूफी साधक के शिष्य बनते थे और उसे विशेष सम्मान देते थे। मुगल–राज्य के विस्तार के साथ–साथ सूफियों का भी प्रसार होता गया। प्रमुख कारण यह था कि सूफियों ने भी अपने आप को इस्लाम से अलग नहीं होने दिया। हिंदी में प्रचलित प्रेमाख्यानों की हृदयग्राही परम्परा के द्वारा उन्होंने जनता के मध्य अपने विचारों का प्रचार किया। अकबर के युग तक सूफीमत प्रेम एवं भक्ति पर आधारित होकर सर्वमान्य हो चुका था। धीरे–धीरे इस मत में भारतीय संगीत, नृत्य, देवोपासना की भावना आदि का प्रवेश होता चला गया।

सूफी संतों ने ऊँच–नीच के भेदभाव को मिटाने का सतत् प्रयास किया। उन्होंने यह प्रतिपादित किया कि जीवन में प्रेम की भावना ही उच्च एवं प्रधान होती है। सूफियों के दर्शन की भावना इतनी सरल और मधुर थी, कि जनता ने उसे बड़े हर्ष और प्रेम के साथ अपने जीवन में आत्मसात् कर लिया। सूफी कवि उदार प्रकृति के थे, इसी कारण उनके प्रेमाख्यानों में धार्मिक कट्टरता के दर्शन कम होते हैं।

साहित्यिक दृष्टि से हिंदी सूफी काव्य का विशेष महत्त्व है। इन सूफी कवियों ने सुंदर प्रबन्ध काव्यों की रचना की है। उपमान, योजना, कथानक रूढ़ि तथा वस्तु वर्णन की प्रधानता के कारण उन्हें इस विधा को स्वीकार करना पडा। इनकी कथा का आधार पौराणिकता

पर आधारित प्रसंग और घटनाएँ हैं। इनका संयोग–वियोग तथा नख–शिख वर्णन अत्यन्त आकर्षक है। इनके द्वारा रचित प्रेमाख्यानों का उद्देश्य मनोरंजन कम आध्यात्मिक प्रचार अधिक माना गया है। कथा रूढ़ियों के स्रोत भारतीय और भारतीयेत्तर दोनों रहे हैं। फारसी की मनसबी शैली का प्रभाव अधिक रहा है। सांसारिक प्रेम उनके लिए ईश्वरीय प्रेम का सोपान था। सूफी काव्य परम्परा के लगभग समस्त प्रेमाख्यानकों की सामान्य विशेषताएँ प्रायः एक जैसी रही है, लेकिन इनमें से कुछ कृतियाँ अपना विशिष्ट स्थान रखती है तथा समाज पर लम्बा प्रभाव छोड़ जाती हैं। जायसी की अमरकृति 'पद्मावत' भी इसी तरह की कृति रही है। जायसी इन कवियों में विशेष तौर पर सर्वोपरि हैं और 'पद्मावत' इस परम्परा का गौरव ग्रंथ है। जायसी से पूर्व की सभी प्रेमकथाएँ कल्पित थीं। जायसी ने अपने ग्रंथ 'पद्मावत' में इतिहास और कल्पना का सुन्दर समन्वय प्रस्तुत किया है। रत्नसेन और पद्मावती की प्रणय कथा को अपनी कल्पना से रसासिक्त कर अत्यन्त आकर्षक बना दिया है। लौकिक प्रेम के आधार पर आध्यात्मिक अभिव्यंजना करने वाले इस ग्रंथ में प्रेम–साधना को ईश्वर–प्राप्ति का मार्ग बतलाया है। पद्मावत की प्रेम कहानी हिन्दू घरों में प्रचलित कहानी है। जिसे जायसी ने मुस्लिम संस्कृति से जोड़कर हिन्दू–मुसलमानों के मध्य निरन्तर बढ़ रही खाई को कम करने का कार्य किया। यह जायसी का उत्कृष्टतम योगदान कहा जा सकता है। जायसी की नागमती का विरह–वर्णन हिंदी साहित्य का सर्वश्रेष्ठ विरह वर्णन माना जाता है।

जायसी ने लोक संस्कृति के विभिन्न तत्त्वों को अपने काव्य में रखकर एक ओर तो काव्यात्मकता की रक्षा की है और दूसरी ओर लोक संस्कृति को जीवित रखने का प्रशंसनीय कार्य किया है। इन्होंने हिन्दुओं की कहानी को उनकी ही बोली में प्रस्तुत किया। इन कथाओं में लोकप्रचलित घटनाओं, विश्वासों और गाथाओं को प्रकट किया गया है। इस दृष्टि से जायसी को लोक कवि कहा जा सकता है।

कृष्ण काव्य में कृष्ण का उपास्यरूप महाभारत, हरिवंश विष्णु पुराण, तथा श्रीमद्भागवत पुराणों में विस्तार से मिलता है। महाभारत, हरिवंश तथा विष्णुपुराण में वृष्णिवंशीय सात्वतकृष्ण के ऐश्वर्यमय रूप की प्रधानता है, वैसे तो भक्ति काल में कृष्ण काव्य लिखने वाले अपरिमित कवि हुए हैं, किन्तु इनमें सूरदास का स्थान सर्वप्रमुख रहा है। सूरदास को न केवल अष्टछाप के कवियों, अपितु सम्पूर्ण कृष्ण कथा कवियों में सर्वश्रेष्ठ स्थान प्राप्त है। 'सूरसागर' सूर की सर्वसम्मत प्रामाणिक रचना है। हरि लीला इसका वर्ण्य–विषय है। दैन्य, वात्सल्य, सख्य, श्रृंगार, आदि में सूर की मौलिकता झलकती है। नन्द–यशोदा के साहचर्य में वात्सल्य, श्रीदामा आदि सखाओं के सान्निध्य में सख्य तथा ब्रज कुमारियों के प्रसंग में माधुर्य स्पष्ट झलकता है। प्रत्येक पद मुक्तक एवं स्वतंत्र आवाद्य है किन्तु कुछ खण्ड काव्यात्मक विशेषताओं से सम्पन्न है।

सूरदास की दृष्टि बड़ी तीव्र थी। वे अपने युग के सचेष्ट रचनाकार थे। यवनों के अत्याचार से आक्रांत जनता के मन से जब ईश्वर के प्रति विश्वास उठ चुका था, ऐसे समय में सूर ने ब्रज कुमारी द्वारा अपनी मन को सरल–सुहावना बनाकर चतुर्दिक् भुवन मोहन की मुरली बजाई। अपने दिव्य प्रेम संगीत द्वारा जीवन में आस्था जगाई और आशा का संचार किया। उन्होंने समानता की परिपाटी पर आधारित एक ऐसे मानव–समाज की सृष्टि की जो विश्व–बन्धुत्व तथा निश्छल प्रेम पर आधारित था।

सूर के कृष्ण सदैव सामान्य रहे है, विशिष्ट नहीं, चाहे वे राजा नंद के पुत्र रहे हो चाहे स्वयं राजा। सूर की वह जीवन–दृष्टि कितनी स्पृहणीय है जिसमें आज की तरह कहीं भय और तनाव नहीं है, है जो केवल मुरली की मधुर ध्वनि, नाचना–गाना, खेल और मनोविनोद। यहाँ नगरीय जीवन की चमक–दमक नहीं है। कालिन्दी का सुंदर कूल है। सूर का काव्य समाज को नव जीवन की प्रेरणा देता हैं। कोई भी जीवन से ऊबता नहीं है। भारतीय जीवन दृष्टि पूर्ण की आराधना करती है। यही कारण है कि सूर का काव्य अपूर्ण दृष्टि वाले मानव को सदैव आकर्षित करता है।

सूर की भाषा ब्रज भाषा है इन्होंने ही सर्वप्रथम ब्रज भाषा को एक सुव्यवस्थित साहित्यिक भाषा के रूप में अपनी रचनाओं में स्थान दिया। वास्तव में जो लालित्य और मोहकता ब्रज भाषा में है, वह किसी अन्य भाषा में नहीं है। इसमें काव्योपयोगी रमणीय शब्दों की भरमार है। श्रृंगार रस के लिए तो ब्रजभाषा के समकक्ष कोई भाषा ही नहीं ठहरती। इसकी शब्दावली बड़ी ही समृद्ध है। सूर ने ब्रजभाषा को जनभाषा, धार्मिक भाषा तथा साहित्यिक भाषा का गौरव प्रदान किया है। इस दृष्टि से हिंदी जगत् में उनकी उपलब्धि महान् है। हिंदी का कृष्ण भक्तिकाव्य संपूर्ण हिंदी काव्य में अनुभूति की तलस्पर्शिता और अभिव्यक्ति की भंगिमा के कारण श्रेष्ठ है। ये भक्त कवि मानसी उपासना के कारण स्वयं अनुभूतिमय हो गये थे। इसलिए इनके काव्य में संवेदन की सच्चाई और बोध की गरिमा दिखायी देती है। मानव का सौन्दर्य और प्रेम यहाँ साकार हो उठता है। नारी और पुरूष का साहचर्य, रूपासक्ति, मान, समर्पण, एक दूसरे में अंतर्लीन हो जाने की आतुरता रखते है। इन कवियों ने व्यापक सांस्कृतिक चेतना का उन्नयन किया जिसका मूल बिन्दु सौन्दर्य था।

उत्तर भारत में राम भक्ति के प्रचार का श्रेय स्वामी रामानन्द को जाता है। रामानुज के श्री सम्प्रदाय में दीक्षित होकर भी उन्होंने रामावत् सम्प्रदाय का प्रवर्तन किया। रामानुजाचार्य ने विष्णु के अन्य रूपों में रामरूप को तथा अन्य भक्तिभावों में दास्य को विशेष महत्त्व दिया। उत्तर भारत में ही गुह्य साधना के रूप में सीताराम के सौन्दर्य रूप की उपासना भी प्रचलित थी तथा आचरण पक्ष में सामाजिकता की दृष्टि से अध्यात्म रामायण की परम्परा भी ग्रहीत थी।

हिन्दी साहित्य जगत में तुलसी का प्रादुर्भाव एक युगान्तरकारी घटना है। इसमें कारयित्री एवं भावयित्री प्रतिभा का अद्भुत सामंजस्य

था। इनका अध्ययन जितना गंभीर था, लोकानुभव उतना ही व्यापक–विशाल। राम–कथा के अनन्त स्रोतों का मंथन करके तुलसी ने जो मानस–नवनीत निकाला, उसकी स्निग्धता से भारतीय जन मानस ही नहीं, अपितु विश्व मानवता आज भी अपरमित आनन्द का अनुभव करती है। तुलसीदास हिन्दी साहित्य के सर्वाधिक महिमावान कवि है।

तुलसीदास ने राम के जिस रूप–स्वरूप की प्रतिष्ठा की उसमें अपरिमित शक्ति, शील एवं सौन्दर्य का अद्भुत सामंजस्य दिखाई देता है। इन विशेषताओं में मानव की सम्पूर्ण उदात्तता समाहित हो गयी है। आराध्य शक्तिशाली होगा तभी वह भक्तों की रक्षा करने में समर्थ होगा। युगीन लोक रक्षण की दृष्टिगत रखते हुए तुलसी ने राम को शक्तिमान के रूप में प्रस्तुत किया। शील से शक्ति मर्यादित होती है, उसके दुरूपयोग की संभावनाएँ कम होती है। इसलिए तुलसी ने राम के सर्वगुण सम्पन्न रूप की अवधारणा की है। वे आदर्श पुत्र, पति, भाई, स्वामी आदि रूपों में दिखाई देते हैं। तुलसी की भक्ति पद्धति सेवक–सेव्य भाव की है। राम–नाम के प्रति पूर्ण विश्वास के साथ जीवन की समग्र नैतिकता के आधार पर वे भारतीय समाज के महत्त्वपूर्ण घटक सिद्ध हुए। सम्पूर्ण उत्तर भारत में जितना आदर उनके 'रामचरितमानस' को मिला, उतना इग्लैंड में बाइबिल को भी नहीं मिला होगा। तुलसीदास ऐसे महान् देवदूत हैं जो रामानंद के सिद्धान्त को पूर्व से पश्चिम तक ले गये तथा उसे स्थिर विश्वास में परिणत किया।

भक्तिकाल की चारों धाराओं का अनुशीलन करने पर हम पाते हैं कि इन सारे संतों और भक्तों का उद्देश्य रचनात्मक है। वे मानव–मानव में किसी प्रकार का भेद–भाव नहीं रखते हैं। एक ओर निर्गुण संत आत्म परिष्कार और चित्तशोधन करते हैं। वे ईश्वर की इच्छानुसार जीवन जीने में विश्वास करते हैं। **'जेहि बिधि राखै त्यूँ रहौं जो कुछ देइ सो खाऊँ।'** वहीं दूसरी ओर सूफी संत हैं जो हिन्दू–मुस्लिम के बीच की युगीन दरार देखते है; उसे कम करने का प्रयास करते है। इसके साथ ही कृष्ण–काव्यधारा के कवियों ने जीवन में प्रेम की प्रतिष्ठा करके, तुलसी जैसे कवियों ने एकत्व दर्शन करके समूचे युग और मानवता का कल्याण किया है।

भक्ति आन्दोलन में युग जीवन की आंतरिक वेदना की स्वानुभूति, भगवान की भक्ति और करुणा में स्थिर आशा एवं आस्था का स्वर मुखर है। निराश एवं हतोत्साहित जनता के जीवन में शक्ति का नव–संचार है। भारतीय साहित्य चिन्तन परम्परा का समन्वय और विकास है। पौराणिक प्रतीकों, मिथ्यों, शास्त्रीय कथाओं, विचारों एवं अनुभूति धाराओं का लोकाभिमुखी रूप है। तथा उनका लोक कथाओं से संयोग है। भक्तिकाव्य लोक प्रतिभा की रचनात्मक शक्ति की देन है। इस काल में हिंदी की अन्य शैलियों जैसे–गद्य आदि का विकास उतना नहीं हुआ था, किन्तु काव्य–क्षेत्र में ही जो विविध शैलियाँ विकसित हुई, वे गुणों एवं परिमाण की दृष्टि से अपरिमित हैं। युगानुरूप इन कवियों ने जिस राष्ट्रीय एवं सांस्कृतिक चेतना का विकास किया, सामाजिक सौहार्द लाने का प्रयास किया, वह अन्यत्र दुर्लभ है। भक्तिकाल को हिंदी साहित्य का स्वर्णयुग कहना उचित एवं तर्कसंगत है।

18. भक्ति काल : स्वर्ण युग

हिंदी साहित्य के भक्तिकालीन समय को साहित्यिक क्षेत्र का स्वर्ण युग माना जाता है। भक्तिकाल निस्संदेह हिंदी साहित्य का स्वर्ण युग है। इस काल का साहित्य अपने पूर्ववर्ती साहित्य एवं परवर्ती साहित्य से निश्चित रूप में उत्कृष्ट है। भक्तिकाल से पूर्व हिंदी के आदिकाल अथवा वीरगाथा काल में कविता वीर और शृंगार–रस प्रधान थी, जीवन की अन्य दशाओं और क्षेत्रों की ओर कवियों का ध्यान गया ही नहीं। इस काल के चारण कवि राज्याश्रित थे और उनकी कविता अपने आश्रयदाता राजाओं की प्रशस्तिमात्र थी। सर्वोपरि इस काल के साहित्य की प्रामाणिकता भी संदिग्ध है। भक्तिकाल के उत्तरवर्ती साहित्य में रीतियुक्त अथवा शृंगार–प्रधान कविता का बोलबाला रहा है। इस काल की कविता में भी जीवन की स्वस्थ प्रेरणाएँ नहीं रहीं एकमात्र शृंगार की ही इस युग में प्रधानता है। और उसमें भी अश्लीलता अधिक है। वस्तुतः रीतिकालीन कविता 'स्वान्तः सुखाय' अथवा 'जनहिताय' न होकर 'सामन्त सुखाय' है। आधुनिक काल का साहित्य अपनी व्यापकता एवं विविधता की दृष्टि से भक्तिकाल से आगे निकल जाता है। विशेषकर गद्य–साहित्य का विकास जितना आधुनिक युग में हुआ है, उतना भक्तिकाल में नहीं। इसके विपरीत भक्तिकाल में गद्य का प्रायः अभाव सा ही रहा है परन्तु अनुभूति की गहराई एवं भाव–प्रवणता के क्षेत्र में आधुनिक युग का साहित्य भक्तिकाल के साहित्य की समकक्षता में नहीं रखा जा सकता।

भक्तिकालीन साहित्य को हिंदी साहित्य का स्वर्ण युग माना गया है। इस सन्दर्भ में अधिकांश विद्वानों का एक मत है। इस संदर्भ में कुछ मत उल्लेखनीय हैं–

बाबू श्यामसुन्दर दास का मत

भक्तिकाल में अनेक भक्त कवियों–कबीर, सूर, तुलसी, मीराबाई, रसखान आदि की वाणी (साहित्य) की सरिता अगाध रूप में बही है। डा० श्यामसुन्दर दास के शब्दों में –'जिस युग में कबीर, जायसी, तुलसी, सूर जैसे रससिद्ध कवियों और महात्माओं की दिव्य वाणी उनके अन्तः करणों से निकलकर देश के कोने–कोने में फैली थी, उसे साहित्य के इतिहास में सामान्यतः भक्तियुग कहते हैं। निश्चय ही वह हिंदी साहित्य का स्वर्णयुग था' इस संदर्भ में आगे लिखते हैं– 'हिंदी–काव्य में से यदि वैष्णव कवियों के काव्य को निकाल दिया जाए तो जो बचेगा वह इतना हल्का होगा कि उस पर किसी प्रकार का गर्व न कर सकेंगे। लगभग दो सौ वर्षों की

इस हृदय और मन की साधना के बल पर ही हिन्दी अपना सिर प्रान्तीय साहित्यों के ऊपर उठाये हुए है। तुलसीदास, सूरदास, नन्ददास, मीरा, रसखान, हितहरिवंश, कबीर इनमें से किसी पर भी संसार का कोई साहित्य गर्व कर सकता है। हमारे पास ये सब हैं। ये वैष्णव कवि हिंदी भारती के कण्ठमाल हैं।'

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने अपना मत स्पष्ट करते हुए लिखा है। "समूचे भारतीय इतिहास में ये अपने ढंग का अकेला साहित्य है। इसी का नाम भक्ति-साहित्य है। यह एक नई दुनिया है।"

1. **भक्तिकालीन काव्य सर्वोत्तम काव्य के रूप में:** अंग्रेजों का मानना है कि 'यदि हमारे सम्मुख एक ओर शेक्सपियर रखा जाए और दूसरी ओर विश्व का साम्राज्य, तो हम पहले शेक्सपियर को ही चुनेंगे। 'हमारे यहाँ सूर, तुलसी, नन्ददास आदि कितने ही शेक्सपियर हुए हैं जो भारती के कण्ठहार है।' इस प्रकार हिंदी के समालोचकों ने एकमत से हिंदी साहित्य के भक्तिकाल को हिंदी का स्वर्णयुग माना है यह काल हिंदी काव्य की चतुर्मुखी उन्नति का काल था। काव्य-सौष्ठव, समन्वयवाद, भारतीय-संस्कृति, भावपक्ष, कलापक्ष और संगीत आदि सभी दृष्टियों से यह काव्य सर्वोत्तम है। यह एक साथ हृदय, मन और आत्मा की तृप्ति करता है।

2. **भक्तिकालीन हिंदी साहित्य की चार काव्यधाराएँ:** भक्तिकालीन काव्य की विविध रूपों में प्रगति हुई। इस काल की चार काव्य-धाराओं ने एक साथ हिंदी साहित्य की वृद्धि कर डाली। चार काव्यधाराएँ निम्नलिखित हैं-

1. सत काव्यधारा
2. प्रेम काव्यधारा
3. कृष्ण काव्यधारा
4. राम काव्यधारा

1. **संत काव्य धारा:** सन्त काव्यधारा के प्रमुख कवि कबीर है। इनके अतिरिक्त दादूदयाल, नानक, सुन्दरदास आदि का स्थान सन्तों में महत्त्वपूर्ण है। कबीर आदि संतों के साहित्य में रहस्यवाद, भक्ति, खण्डन-मण्डन एवं सुधार की भावनाएँ हैं। काव्यत्व की दृष्टि से भी इनके काव्य में शब्दगत, अर्थगत एवं रसगत रमणीयता विद्यमान है। कबीर ने 'साखी', 'शब्द', 'रमैनी' की रचना की है, जो 'बीजक' कृति में विद्यमान है।

संत काव्य की विशेषताएँ

(i) **गुरु की महिमा का सुन्दर चित्रांकन:** संत साहित्य में ही नहीं, वरन् सकल भारतीय जीवन और वाङ्मय में गुरु को अत्यन्त गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त है, क्योंकि गुरु को ही अन्धकार-अज्ञान का निरोधक बताया गया है। इस जगत् में गुरु की महत्ता और अपरिहार्यता निर्विवाद है। गुरु सत्पुरुष (ब्रह्म) का अनुभावक ज्ञाता होता है। वह अनन्त (ब्रह्म) को अनन्त लोचनों से दर्शाता है, इसलिए वह अनन्त महिमामण्डित है।

"सतगुरु की महिमा अनँत, अनँत किया उपगार। लोचन अनँत उघाड़िया, अनँत दिखावणहार।।"

गुरु की संत साहित्य में अभूतपूर्व अभ्यर्थना हुई है। संत दादूदयाल की निर्भ्रान्त धारणा है कि गुरु ही मनुष्य से पशुता को परास्त कर देवत्व स्थापित करता है, ज्ञान देकर ब्रह्म की अनुभूति कराता है, इसीलिए दादू गुरु-उपदेश को अत्यन्त दुर्लभ स्वीकार करते है। इसी दुर्लभता को भावित करके उसे मुक्तिदाता के रूप में अंगीकार किया है-

"जीव रचा जगदीश नैं। बांध्या काया मांहि। जन रजब मुक्ता किया तौ गुर सम कोई नाहिं।।"

(ii) **माया की व्यर्थता का चित्रण:** माया का सिद्धान्त भारतीय अध्यात्म क्षेत्र की सबसे प्रमुख विशेषता है। 'माया' शब्द की व्युत्पत्ति 'मा' धातु से मानी जाती है। जिसका शाब्दिक अर्थ है परिधि, सीमा या फिर माप। कोई ऐसा रूप या अन्य वस्तु जिससे लोग धोखे या भ्रम में पड़ जाते हैं माया कही जा सकती है। इस प्रकार माया वह आवरण है, जो आत्मा-परमात्मा के मध्य भेद का पर्दा डालकर उसे अपने सत्स्वरूप से पृथक करती है तथा नाना सांसारिक कर्मों में अलिप्त करती है। वह भ्रम, अज्ञान व धोखा कहा जायेगा। संत कबीर ने माया को जीव और ब्रह्म के मध्य भेद डालने वाली शक्ति बताया है। इसने अपने हाथ में सत्, रज, तप, तीनों गुणों को धारण कर रखा है-

"माया महा ठगिनि हम जानी। तिरगुन फाँसि लिये कर डोलै, बोलै मधुरी बानी।।"

संतों ने माया को अनेक नामों से जाना-बखाना हैं। कबीर ने इस माया को बहुरूपिणी-मनोमोहिनी बताया है। इसकी

व्याप्ति सर्वत्र है। समग्र संसार इसी माया में आलिप्त है। मिथ्या जानकर भी मानव–माया–मोह में मग्न हो जाता है। सुंदरदास का मत इस सन्दर्भ में इस प्रकार है–

"माया मोह माँहि जिनि भूलै।
लोक कुटुम्ब देषि मत फूलै।
इनके संग लागि क्या जरना,
समुझि देषि निश्चै करि मरना।।"

(iii) **संसार की असारता का चित्रण:** संत कबीर आदि निर्गुणिए संतों ने अद्वैतवादियों की तरह ब्रह्म की सत्यता और जगत् की अनित्यता को सुरेखित किया है। उन्होंने जगत् की क्षणिकता का बोध कराने के लिए इस संसार को सुमेर का फूल, धुंध का मेंघ, कागज की पुड़िया आदि से उपमित किया है। गुरू नानक भी चमक–दमक वाले इस संसार को अनित्य मानते हैं। संत मूलकदास को भी समस्त संसार मरा हुआ प्रतीत होता है। और ससार का समस्त ऐश्वर्य 'फटकन' लगता है।

"जेते सुख संसार के इकट्ठे किये बटोर। कन थोरे कांकर घने, देखा फटक पछोर।।"

(iv) **नारीविषयक चिन्तन:** संतों ने नारी के दो रूपों की अवधारणा की है– एक तो उसा का कामिनी रूप है जिस संतो ने गर्हित और त्याज्य माना है, दूसरा उसका सती रूप है जो संतों के लिए बड़ा मान्य और ग्राह्य है। संत कबीर ने बड़े ही स्पष्ट शब्दों में कनक और कामिनी की निन्दा की है। कामिनी भक्ति, मुक्ति और ज्ञान की विनाशिका होती है, इसीलिए कबीर उसे त्याज्य बताते हैं–

"नारि नसावै तीनि सुख जौ नर पासै होइ। भगति मुकति जिन ध्यान, मैं पैसि न सकई कोई।।"

(v) **नैतिक भावना की प्रबलता:** 'नीति' एक व्यापक शब्दभाव है। यह उत्कृष्ट आचार–संहिता है। नीति ही मानव को कर्त्तव्याकर्त्तव्य का विवेक प्रदान करती है। काव्य और जीवन का बड़ा ही समीपी संबंध है।

नैतिक भावना से अनुप्राणित होकर संतों ने अपनी कविता में प्रणय, दान, दया, अहिंसा, सत्संगति, सदाचार, सत्यता, परोपकार, क्षमा, शौर्य, निन्दा, त्याग, क्रोध विसर्जन, अभिमान हीनता आदि नीति के नाना रूपों को शब्दांकित किया है। प्रेम की अनिवार्यता को भावित करके संत। कबीर उस शरीर को व्यर्थ एवं हेय मानते है; जो प्रेम रस से लबालब नहीं भरा है। संतों के मन में दान की बड़ी महिमा थी।दान देकर दाता स्वयं का अभ्युदय करता है। कबीर ने इस भावसत्य को व्यंजित करते हुए कहा है–

"ऋतु बसंत जाचक भया, हरिख दिया द्रुम पात। ताते नव पल्लव भया, दिया दूरि नहिं जात।।"

(vi) **मानवतावादी चिन्तन:** भक्तिकालीन संतों के समय धर्म के वास्तविक स्वरूप का लोप हो चुका था, इसीलिए सतों ने बाह्यचारों एवं बाह्याडम्बरों के खण्डन द्वारा लोकमानस को धर्म के मूल रूप को समझने के लिए उद्बोधित किया इस उद्बोधन में उन्होंने हिन्दू और मुसलमान की एकता का प्रतिपादन किया। जातिय एकता की स्थापना की ब्राह्मणो के थोथे ज्ञान को दमित किया लोगों को समाज तथा धर्म की संकुचित सीमा को तजकर सार्वभौमिक और सार्वकालिक जीवन–मूल्यों को अंगीकार करने की सलाह दी।

"कछु न कहाव आप कौ; काहू संग न जाइ। दादू निपरव है रहै, साहिब सौं ल्यौ लाइ।।"

प्रेम काव्यधारा

प्रेमकाव्य के कवियों में जायसी, कुतुबन, मंझन, उसमान आदि प्रमुख हैं। इस शाखा के प्रतिनिधि कवि जायसी हैं। उनका 'पदमावत' हिंदी का प्रथम सफल महाकाव्य है। जायसी आदि प्रेममार्गी कवि सूफी मुसलमान है, परन्तु उन्होंने अपनी सहेष्णुता, उदारता आदि गुणों से हिन्दू मुस्लिम संस्कृति मे एकता स्थापित करने का प्रयत्न किया। ये कवि 'प्रेम की पीर' के कवि है। लौकिक प्रेमकथाओं के माध्यम से इन्होंने आध्यात्मिक प्रेम की व्यजना की है। ये कवि भी रहस्यवादी हैं। शुक्ल जी ने इन्ही क रहस्यवाद को शुद्ध भावात्मक रहरयवाद माना है।

प्रेम काव्यधारा में प्रेमाख्यानों के वर्ण्य-विषय की विशेषताएँ

1. **प्रेम काव्यधारा में प्रेम एक मादक तत्त्व के रूप में:** प्रेम काव्य धारा में प्रेम एक मादक तत्त्व के समान माना जाता है जिसकी खुमारी में सूफी साधक खुदा के नूर को उसकी अनुभूति को अभिव्यक्त करने में सफल होता है। मिलन की स्थिति में उसे संसार की स्मृति नहीं रहती, देह का किंचित मात्र ध्यान नहीं रहता है। सूफियों की सम्पूर्ण साधना प्रेम पर आश्रित है। उन्होंने ईश्वर को प्रियतम माना है। उनके लिए वह अमूर्त होता हुआ भी मूर्तिमान सौंदर्य है, माधुर्य लोक का शासक है और प्रेम का प्रचारक है। प्रेमी कवि बरक्तुल्ला ने कहा है कि कहीं, ईश्वर, कही प्रेमी और कहीं प्रियतम तथा कही स्वयं प्रेम ह–

   "कहीं माशूक कर जाना, कहीं आशिक सितां माना। कहीं खुद इश्क ठहराना, सुनो लोगों सुखावानी।।"

2. **प्रेम काव्यधारा में नायक-नायिका:** इन प्रेमकथाओं में नायक नायिकाओं को सांसारिक संबंधों के प्रति उदासीन दिखाया गया है। इन काव्यों के नायकों पर योगियों का प्रभाव दृष्टिगत होता है। समस्त प्रेमाख्यानों के नायक योगी होकर ही निकले हैं और योग–साधना से ही उन्होंने सिद्धि प्राप्त की है। नायक को जीवन का और नायिका को ब्रह्म का प्रतीक माना गया है।

3. **लोक दृष्टि:** प्रेम काव्य धारा की लोक दृष्टि बड़ी ही सजग रही है। अपने आस–पास के विस्तृत वातावरण से कहीं पर अदृश्य की निराधार विस्तृत कल्पना इन कवियों ने नहीं की, वरन् उनकी रचनाओं में भारतीय जीवन एवं संस्कृति का बड़ा सजीव चित्रण हुआ है। सामाजिक जीवन के आनन्दोल्लास एवं मर्यादा के प्रतीक त्यौहारों, उत्सवों, सामाजिक रीतियों एवम् संस्कारों का वर्णन भी इन प्रेमाख्यानों में यत्र–तत्र प्राप्त होता है। माता–पिता की सेवा, स्त्री का समाज में स्थान, श्वसुर–गृह का भय आदि सामाजिक समस्याओं पर भी इन कवियों ने अपने विचार प्रकट किये हैं।

4. **कथानक रूढ़ियाँ:** इन प्रेमाख्यानों के वर्णन–विषय में एक बात यह ध्यान देने योग्य है कि इनमें सिंहल यात्रा या उसके अभाव में किसी अन्य यात्रा का वर्णन अवश्य रहता हैं इसके अतिरिक्त अपभ्रंश के चरित–काव्यों की कतिपय कथानक रूढ़ियों का भी इनमें समावेश हुआ है, यथा उजाड़नगर या वन में किसी सुंदरी से साक्षात्कार फिर राक्षस के हाथों से उसे छुड़ाना, नायिका–चित्र निर्माण, पशु–पक्षियों का मनुष्य की बातों में बोलना एवं उनकी भाषा समझना, नायक–नायिका के मिलन में अधिकांशतः शुक का योग आदि।

5. **काव्यादर्श-प्रेरणा और प्रयोजन:** यद्यपि हिंदी प्रेम काव्यधारा के कवियों का प्रमुख काव्यादर्श अध्यात्म, विरह एवं प्रेम का चित्रण करना था, किन्तु इसके साथ ही उनका काव्यादर्श यश की लालसा, लोक–हित एवं समाज–कल्याण, कान्तासम्मित उपदेश तथा सूफी–सिद्धान्तों एवं इस्लाम धर्म के प्रचार की भावना से भी संयुक्त था। संत कवियों में काव्य रचना के प्रति यश की कोई कामना नहीं रही है। जबकि इसके विपरीत सूफी कवि यश की लालसा से भी काव्य–सृजन में प्रवृत्त हुए है। यद्यपि उन्होंने काव्य के माध्यम से अपने आध्यात्मिक विचारों की अभिव्यक्ति की है।

कृष्ण काव्यधारा

कृष्ण काव्य के प्रतिनिधि कवि सूरदास हैं। इनके अतिरिक्त नन्ददास, परमानन्ददास आदि अष्टछाप के कवियों, हितहरिवंश, मीरा तथा रसखान का नाम इस साहित्य में आदरपूर्वक लिया जाता है। कृष्णभक्त कवियों ने गीतिकाव्य की रचना की है। कृष्ण के लोकरंजन रूप को लेकर सख्य सख्य एवं माधुर्यभाव से भक्ति की है। सूर का 'सूरसागर' गीतिकाव्य का श्रेष्ठ उदाहरण है। इनके वात्यल्य भाव और शृंगार–रस का चित्रण अपूर्व भक्ति–भावना, समन्वयवाद, लोक–मंगल की भावना, भाव, भाषा और शैली सभी दृष्टियो से उत्कृष्ट है। सूरसागर सूर की सर्वसम्मत प्रामाणिक रचना है। हरि लीला इसका वर्ण्य विषय है। दैन्य, वात्यल्य, संख्य, शृंगार तथा शांत भाव व्यंजक इन पदों से सूर की मौलिकता दिखायी देती हैं सूर के सागर में प्रेम की उत्ताल तंरगे, सदैव तंरगायित होती रहती है। ऐसे युग जीवन में स्नेह स्रोत सूख गया था। सूर ने उसके कण–कण में प्रेम को प्रतिष्ठित कर दिया। प्रेम की यह विजय सूर की अपनी विजय है। योग सर्वसुलभ नहीं है, ज्ञान का पार नहीं है, वेद सुनना सबके लिए वैध नहीं है। ऐसे में प्रेम या भक्ति ही सर्वसुलभ है। प्रेमियों की भक्तों की कोई जाति नहीं है। प्रेम में कही गोपनीयता भी नही है। यह परमार्थ का मार्ग प्रशस्त करता है–

"प्रेम प्रेम ते होइ, प्रेम ते पारहिं जइये।
प्रेम बध्यों संसार, प्रेम परमारथ पइये।
साँचों निहचै प्रेम कौ, जीवन मुक्ति रसाल।।
एकै निहचै प्रेम कौ, जाते मिलै गोपाल।।"

कृष्ण काव्य धारा की प्रमुख विशेषताएँ इस प्रकार प्रकट की जा सकती हैं–

1. **भक्ति के बहुआयामी स्वरूप का चित्रण**: कृष्ण काव्यधारा के रचनाकारों की भक्ति रागानुगा कोटि की है। भक्ति इन रचनाकारों के लिए साध्य है, साधन नहीं। इस भक्ति में सख्य एवं कान्ताभाव की प्रधानता है। दास्य और वात्सल्य भक्ति के साथ नवधाभक्ति को भी इसमें महत्त्व मिला है। निम्बार्क सम्प्रदाय में स्वकीया भाव पर और चैतन्य तथा बल्लभ सम्प्रदाय में परकीया भाव की भक्ति का विशेष महत्त्व रहा है। प्रेमाभक्ति का समाहार भी आगे चलकर माधुर्य भक्ति में हो जाता है।

   "हमारे हरि हारिल की लकरी।
   मनक्रम बचन नंद-नंदन उर, यह दृढ़ करि पकरी।।"

2. **गुरू महिमा और नाम स्मरण की महत्ता पर बल**: कृष्ण काव्यधारा के रचनाकारों ने संत, सूफी और रामकाव्य के सृजनकर्त्ताओं के समान ही गुरू की महिमा का गान किया है। वे भव सागर में डूबते हुए शिष्यों को ज्ञान से आलोकित कर बचाने का उपक्रम करते हैं। गुरू ही उपास्य के प्रति शिष्यों में प्रेम उपजाता है। ज्ञान का आलोक फैलाता है, भक्ति के मार्ग पर चलने का आह्वान करता है और प्रभु–दर्शन कराने में अहम भूमिका निभाता है। यह सभी गुरू कृपा पर ही निर्भर होता है। सूरदास ने लिखा है।

   "गुरू बिनु ऐसी कौन करे?
   माता-तिलक मनोहर बाना, लै सिर छत्र धरै।
   भवसागर तै बूड़त राखै, दीपक हाथ धरै।
   सूर स्याम गुरू ऐसो समरथ छिन मैं ले उधरै।"

3. **समकालीन सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन की अभिव्यक्ति**: भक्तिकालीन युग के कृष्ण काव्यों में समकालीन सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन को यथार्थ रूप में सम्प्रेषित किया गया है। आज का समाज जितना विकसित और समृद्ध है उतना उस समय का समाज विकसित नहीं था। उस काल के सामाजिक और सांस्कृतिक कर्मों से पता चलता है कि उस काल में चारगाही संस्कृति का ही बोलबाला था। गोचारण कर्म ही उस समय का प्रधान पेशा था। पर्व और उत्सव में सामूहिक सहभागिता की अपनी अलग पहचान थी। बच्चों का जन्म हो या कर्म, उसमें सभी भागीदारी निभाते थे। श्रीकृष्ण के जन्मोत्सव का एक उदाहरण दृष्टव्य है–

   "हौं इक नई बात सुनि आई।
   महरि जसोदा ढोटा जायौ, घर-घर होति बधाई
   द्वारैं भीर गोप-गोपिनी की, महिमा बरनि न जाई।
   अति आनन्द होत गोकुल मैं, रतन भूमि सब छाई।
   नाचत वृद्ध, तरून अरू बाल, गोरस-कीच मचाई।
   सूरदास स्वामी सुख सागर, सुंदर स्याम कन्हाई।।"

4. **विरहानुभूति की धार्मिक अभिव्यंजना**: कृष्ण काव्य धारा के रचनाकारों ने वियोग श्रृंगार के अन्तर्गत विरह की विभिन्न भूमियों को सजीव रूप से चित्रित किया है। विरह की जितनी भी अन्तर्दशाएँ सम्भव है, वे सभी इस काव्य में मिल जाती है। इन कवियों का विरह वर्णन संवेदनाजन्य है। परिस्थितियाँ इसमें आड़े हाथ नहीं आती। विरह का एक–एक पल विरहिणी के लिए कल्प के समान अहसास होता है। सूरदास ने इस विरहानुभूति को विभिन्न अन्तर्दशाओं के रूप में प्रस्तुत किया है, जो बड़ा ही हृदय विदारक है–

   "निरखति अंक स्याम सुंदर के बार-बार लावन्ति छाती।
   लोचन जल कागद मसि मिलिकै, है गई स्याम स्याम की।।"

5. **राधाकृष्ण और गोपियों के मिलन का सजीव चित्रण**: कृष्ण काव्यधारा के कवियों ने राधाकृष्ण और गोपियों के मिलन को एक विस्तृत फलक पर आयोजित किया है। यह विस्तृत फलक ब्रज और वृन्दावन का वह क्षेत्र है जिसमें इन सभी की प्रेमक्रीड़ाएँ संचालित होती है। खेलते हुए कृष्ण कभी ब्रज की संकरी गली में और कभी यमुना के तट पर निकलते हैं जहाँ पर उनकी भेंट राधा और उसकी सखियों से हो जाती है। राधा गौरवर्णी थी और कृष्ण श्यामवर्ण। राधा की सुंदरता को देखते ही वे मुग्ध हो गये। यथा:

"खेलन हरि निकसे ब्रज खोरी।
कटि कछनी पीतांबर बाँधे हाथ लिये भौंरा, चक डोरी।।"

राम काव्यधारा

तुलसी का 'रामचरितमानस' हिंदी का सर्वश्रेष्ठ महाकाव्य है और हिन्दू धर्म तथा संस्कृति का गौरव–ग्रन्थ है। इस प्रकार सैकड़ो कवियों ने भक्तिकाल के साहित्य को विकसित किया है। राम अनन्त हैं, उनके गुण अनन्त है, उनकी कथा अनन्त है। राम के नाना अवतार हैं लोक में उनके चरित्र का निरूपण करने वाली अनेक रामायणें हैं। वास्तव में, रामकथा देश और काल से परे है। उसकी धारा युग–युग से प्रवाहित होती चली आ रही है तथा अपनी सरसता से कवियों–कलाकारों–भावकों–भक्तों को आनन्दित करती रही है। युगीन परिवर्तनों के बावजूद राम का रूप सर्वत्र मनोहारी तथा प्रभावशाली रहा है।

रामकाव्यधारा की विशेषताओं को निम्नलिखित रूप में देखा जा सकता है–

1. **राम के सगुण साकार रूप की अर्चना**: राम के दो रूप माने गये हैं एक निर्गुण रूप और दूसरा सगुण रूप। भक्तिकालीन रामकाव्यधारा के कवियों ने निर्गुण राम की नहीं, वरन्, सगुण राम रूप की अवतारणा अपने काव्यों में की है। उन्होंने राम और रामायण को देशकाल तथा जनजीवन के अनुरूप बनाकर प्रस्तुत किया है। राम काव्यधारा में ऐसे विराट् राम की प्रतिष्ठा हुई है और भावुक भक्तों तथा कवियों ने राम के इन्हीं रूपों की अर्चना–वंदना की है। रामकथाओं के लिए राम ही सर्वस्व हैं।
2. **दार्शनिक चेतना**: भक्तिकालीन राम कथाकार दार्शनिक नहीं, वरन् वे कवि थे। राम कथा के विविध पक्षों का रसमय गायन करना उनका उद्देश्य था। वे कोरे ज्ञान को महत्व नहीं देते थे। कोरी शिक्षा उनके समीप मिथ्या थी। 'विनयपत्रिका' में तुलसी ने कहा है–

   "वाक्य-ग्यान अत्यन्त निपुन भव-पार न पावै कोई।।
   निसि गृह मध्य दीप की बातन्ह तम निवृत्त न होई।।"

   राम काव्यधारा की दार्शनिक चेतना पर कई दर्शनों का प्रभाव देखा जा सकता है। रामकथा के कवियों का प्रयोजन रामभक्ति था। वे व्यक्ति मन के कालुष्य को समाप्त कर देना चाहते थे, इसीलिए उन्होंने 'कलिमल शमन' और 'भव–तरन' के लिए रामभक्ति का सहारा लिया है ।
3. **सामाजिक संवेदना**: रामभक्ति काव्य की सामाजिक संवेदना बड़ी गहरी है। सामाजिक दृष्टि से रामभक्ति काव्य की विशेष महिमा है। जिस समय रामभक्ति काव्य का प्रणयन हो रहा था, उस समय समाज अनेक प्रकार की भ्रांति और अशांति का शिकार था और मुगलों के शासन के कारण भारतीय संस्कृति संकट में पड़ी थी। ऐसे विषम समय में रामभक्ति काव्य प्रणेताओं ने भारतीय समाज को पुनर्गठित तथा भारतीय संस्कृति को पुनर्जागृत करने का उपक्रम किया है। रामभक्ति का समग्र प्रयत्न आदर्श समाज और आदर्श परिवार की स्थापना का था जिसके आधार पर उन्होंने समर्पण और प्रेम को अंगीकार किया है, विवेकपूर्ण, कर्त्तव्यपालन को स्वीकार किया है। तुलसी आदि रामभक्ति के कवि वर्णाश्रम व्यवस्था के पक्षधर थे, इसीलिए वे वर्णाश्रम मर्यादा के विरूद्ध आचरण पर अपना क्षोभ प्रकट करते हैं और वर्णाश्रम व्यवस्था की महत्ता पर बल देते हैं–

   "बरनाश्रम निज-निज धरम, निरत बेद पथ लोग। चलहिं सदा पावहिं सुखहिं, नही भय सोक न रोग।।"
4. **युगीन समस्याओं का निरूपण**: श्रेष्ठ साहित्यकार तत्कालीन समस्याओं से मुँह मोड़कर साहित्य–सर्जना नहीं कर सकता है। वास्तव में, वह युगबोध से जुड़कर युग को संदेश भी देता है। तुलसीदास आदि रामभक्ति काव्य के श्रेष्ठ कवि है और रामोपासना करते हुए भी उन्होंने अपने युग की समस्याओं को अनदेखा नहीं किया है। अनेक युगीन समस्याओं को रामकथा में यथास्थान निरूपित किया गया है। इतना ही नहीं, उस समय का लोक जीवन विपन्न और कारुणिक था, उसका चित्रण भी 'कवितावली' में चित्रित किया गया है। यथा–

"खेती न किसान को, भिखारी को न भीख, बलि,
बनिक को बनिज, न चाकर को चाकरी।
जीविका विहिन लोग सीघमान सोच बस,
कहैं एक एकन सों, 'कहाँ जाई, का करी'?
दारिद-दसानन दबाई दुनी, दीनबन्धु।
दुरित-दहन देखि तुलसी हहा करी।।"

5. **समन्वय की विराट् चेष्टा:** भारत, भारतीय संस्कृति और भारतीय साहित्य संगम का देश है, यहाँ पर संगम की संस्कृति है और संगम का साहित्य है। संगमधर्मिता इसकी प्रधान प्रवृत्ति है। कितनी ही विचारधाराओं के लोग यहाँ आये, बसे। इसी कारण यहाँ समन्वय की विराट् चेष्टा हुई है। यह समन्वय अनेक स्तरों पर दिखाई पड़ता है। देवता--राक्षस और मानव की संस्कृति में संवेदना और शिल्प में समन्वय करके रामभक्ति काव्य में समन्वयवाद को प्रतिष्ठित किया है। समन्वय साधना से संबंधित कुछ पंक्तियाँ द्रष्यव्य हैं–

"प्रेम पुलकि केवट कहिनामू। कीन्ह दूरि ते दंड प्रनामू।
रामसखा रिषि बरबस भेंटा जनु महि लुटत सनेह समेंटा।।"

भक्तिकालीन साहित्य का सारांश

आध्यात्मिकता एवं साहित्यिकता का समन्वय

भक्तिकाव्य में मार्मिक भावनाओं एवं कवित्व का सामंजस्य वर्तमान है। भक्तिकालीन काव्य जैसे 'रामचरितमानस' जहाँ धर्म का उच्चतम रूप हमारे सामने रखता है, वहाँ उसमें उच्चकोटि का कवित्व भी है। यदि उसमें दास्य, सख्य, वात्सल्य एवं माधुर्य भाव की भक्ति का निरूपण है, तो दूसरी ओर उसमें लौकिक जीवन की अभिव्यक्ति भी अत्यन्त सफलता से हुई है। भक्तिकालीन साहित्य भक्तों के हृदय की प्यास बुझाता है, तो काव्यरसिकों को भी रसमग्न कर देने की शक्ति रखता है। 'रामचरितमानस', 'सूरसागर' आदि इस प्रकार के काव्यग्रंथ हैं। इन रचनाओं में भक्तिभाव की गम्भीरता, भाषा की सुकुमारता, अनुभूति की तीव्रता तथा रसोद्रेक की पूर्ण क्षमता है।

लोकमंगल का साहित्य

भक्तिकालीन साहित्य में लोक मंगल की भावना भी निहित है। यद्यपि 'सूर' ने लोकमंगल की ओर अधिक ध्यान नहीं दिया और वे कृष्ण के लोकरंजन, मधुर और लीलामय रूप में ही मग्न रहे, परन्तु सम्पूर्ण रूप से भक्ति साहित्य में लोकमंगल की भावना प्रमुख है। ये कवि भक्त होने के साथ–साथ समाज सुधारक और जननायक थे। जायसी, कबीर और तुलसी के काव्य में समाज को महान सन्देश दिये गए हैं। तुलसीदास के विषय में आचार्य शुक्ल के शब्द अक्षरश: सत्य हैं--'भारतीय जनता का प्रतिनिधि कवि यदि किसी को कह सकते है, तो इसी महानुभाव (तुलसी) को ही।' इस काल के कवि भक्त, समाज सुधारक लोकनायक एवं भविष्यद्रष्टा थे। कविता के संबंध में तुलसी के शब्दों में उनका आदर्श था।

"कीरति भनिति भूति भलि सोई। सुरसरि सम सब कहुँ हित होई।

भक्तिकाल में लोक और परलोक का सामंजस्य है।'वह हृदय, मन और आत्मा की प्यास शांत कर सकता है। इसमें काव्यत्व, भावों संस्कृति आध्यात्मिकता का मधुर समन्वय है। इस प्रकार भक्तिकाल को हिंदी साहित्य का स्वर्ण युग कहना तर्कसंगत एवं समुचित मालूम पड़ता है।

19. भक्तिकालीन प्रतिनिधि साहित्यकार

19.1 कबीरदास

1. **जन्म:** कबीरदास का जन्म संवत् 1455 में हुआ था। कुछ विद्वान इनका जन्म 1456 में मानते हैं
2. **प्रमुख रचनाएँ:** कबीर की एक ही प्रामाणिक रचना है बीजक जिसके तीन भाग है–साखी, शब्द, रमैणी।

हिन्दी साहित्य की भक्तिकालीन काव्य–धारा के निर्गुण पंथी कवियों में कबीरदास का स्थान सर्वोच्च है। वे एक महान् विचारक होने के साथ–साथ प्रतिभा सम्पन्न कवि भी थे। उन्होंने सैकड़ों वर्षों से चली आ रही रूढ़ियों को तोड़ डाला। वे एक सच्चे संत, कवि और समाज सुधारक थे।

काव्यगत विशेषताएँ

कबीरदास संत पहले थे कवि बाद में कविता उनके लिए साधन थी, साध्य नहीं। उन्होंने प्रसिद्धि प्राप्ति के लिए काव्य सृजन नहीं किया, बल्कि अपने विचारों के प्रचार–प्रसार के लिए काव्य सृजन किया। समाज–सुधारक एवं उपदेशक के रूप में उनके क्रान्तिकारी विचारों के दर्शन होते है। कबीरदास बहुमुखी प्रतिभा के धनी थे। उनके काव्य की विशेषताएं निम्नलिखित हैं–

(1) निर्गुण ईश्वर में विश्वास, (2) समाज सुधारक, (3) गुरू महिमा का वर्णन, (4) क्रान्तिकारी विचारक, (5) सदाचार पर बल , (6) रहस्यवाद, (7) भक्ति–भावना, (8) प्रेम भावना, (9) माया के प्रति सावधान, (10) जाति–पाति की भावना का खण्डन आदि। कबीरदास एक साधु संत, कवि आदि सभी रूपों में थे। समाज सुधारकों में उनका प्रथम स्थान है। उन्होंने व्यावहारिक ज्ञान को सुन्दर रूप दिया। कबीर निर्गुण काव्य धारा के प्रतिनिधि कवि हैं। उनकी भक्ति भावना में निम्नलिखित बातें उभरकर सामने आती है।

नाम स्मरण

कबीर की भक्ति में नाम का महत्त्व अत्यधिक है। तुलसी के लिए जिस प्रकार "राम तैं अधिक राम कर नामू" है, उसी प्रकार कबीर के लिए भी नाम ब्रह्म है, किन्तु यह नाम स्मरण हाथ में मनका लेकर नहीं करना चाहिए, यह तो मन द्वारा किया जाता है **"माला तो कर में फिरै, जीभ फिरै मुख माहिं। मनुआँ तो दस दिसि फिरै, सो तो सुमरिन नाहिं।।"**

गुरू की महत्ता पर बल

कबीर की भक्ति में सर्वाधिक महत्त्व गुरू को दिया गया है। सतगुरू की महान् कृपा है, जो भक्त पर अमित उपकार करता है। वह भक्त में अनन्त दृष्टि उघाड़ देता है, जिससे वह अनन्त ब्रह्म का साक्षात्कार कर सकता है। वह अपने शिष्य के हाथ में ऐसा ज्ञान–दीपक थमा देता है कि वह सन्मार्ग पर सहजतया चल सकता है। कबीर की दृष्टि में गुरू का स्थान गोविन्द से भी उच्चतर है, क्योंकि गोविन्द की पहचान तो गुरू ही करता है। कहा भी गया है–

"गुरू गोविन्द दोऊ खड़े काके लागौं पाइ। बलिहारी गुरू आपने जिन गोविन्द दियो बताइ।।"

माधुर्य भाव

कबीर की आत्मा निराकार ब्रह्म के लिए उसी प्रकार छटपटाती है, जिस प्रकार कोई प्रिय अपने साकार प्रेमी के लिए विकल होता है। राम से बिछुडने पर कबीर को अहर्निश तीव्र वेदना होती है। उसे रात दिन एक क्षण भी सुख नहीं मिलता–

"वासरि सुख ना रैणि सुख, ना सुख सुपनै माहिं। कबीर विछुट्या राम सूँ। ना सुख धूप न छाँहि।।"

भक्त कबीर की एक ही अभिलाषा है और वह है प्रियतम के दर्शन। यह दर्शन वे अपना सर्वस्व लुटा देने पर भी करना चाहते है–

"यहु तन जारौं मसि करौं, ज्यों धुँआँ जादू सरग्गि। मति वै राम दया करै, बरसि बुझानै अग्नि।।"

आचरण की शुद्धता

कबीर की भक्ति में सदाचार का महत्त्व अत्यधिक है। आचरण की अशुद्धता ईश्वर मिलन में बाधक है। कनक और कामिनी के पीछे दौड़ने वालों को उस लौ की प्राप्ति कहाँ

"एक कनक अरू कामिनी दुर्गम घाटी दोइ।

'कामिनी' की तो सभी सन्तों ने बुराई की है। पर यहाँ 'कामिनी' का अर्थ सामान्य नारी से नहीं लिया जाना चाहिए। 'कामिनी' वह नारी है जो काम–वासना में लिप्त रहती है। कामिनी कबीर के लिए काली नागिन के समान है। वे कहते है। कि नारी की झाँई पड़ने से ही भुजंग अन्धा हो जाता है, किन्तु जो सदा ही नारी के साथ रहते हैं उनकी क्या गति होगी–

"नारी की झाँई परत, अन्धा होत भुजंग। कबिरा उनकी कौन गति, नित नारी के संग।।"

आचरण की शुद्धता पर सत्संगति का बहुत प्रभाव पड़ता है यदि असाधु का संग हो जाए तो भक्ति–मार्ग अवरूद्ध ही हो जाएगा।

"कबिरा संगति साधु की, हरै और की व्याधि। संगति बुरी असाधु की, आठौं पहर उपाधि।।"

ईश्वर की एकता

परम्परागत हिन्दुओं से कबीर का यही विरोध है कि उनका बहुदेववाद में तनिक भी विश्वास नहीं। हिन्दुजन, अपने इष्ट की न जाने कितने नामों से आराधना करते है। राम, कृष्ण, शिव, महेश, देवी, दुर्गा, भवानी आदि भक्त कबीर इन सबके पीछे एक ही ईश्वर की कल्पना करते हैं। कबीर का ईश्वर कण–कण में व्याप्त है, निराकार एवं निर्गुण है। एक स्थल पर तो उन्होंने राम–रहीम, बिसिमिल–बिसंभर, कृष्ण–करीम की एकता प्रतिपादित की है–

"हमारे राम रहीम करीमा कैसौ अलह राम सति सोई।बिसमिल मेंटि बिसम्भर एकै और न दूजा कोई।।"

19.2 सूरदास

सूरदास के जन्म स्थान के विषय में विद्वानों में अनेक मत रहे हैं। इस सन्दर्भ में चार स्थानों का उल्लेख हुआ है। डा० पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल गोपांथल (ग्वालियर) को, कवि मियाँ सिंह मथुरा में बल्लभगढ़ के पास को सूरदास का जन्म स्थान मानते हैं फिर भी अधिकांश विद्वान हरिदास के मत से सहमत है। उन्होंने इनका जन्म सीही ग्राम (हरियाणा) में इनका जन्म माना हैं जहाँ तक सूरदास की जन्म तिथि का प्रश्न है, पुष्टि सम्प्रदाय के अनुसार सूरदास स्वामी बल्लभाचार्य से आयु में दस दिन छोटे थे। इस आधार पर सूरदास की जन्म तिथि संमवत् 1535 सुदी 5 मंगलवार ठहरती है। कुछ विद्वानों ने उनका जन्म 1540 में माना है।

प्रमुख रचनाएँ

नागरी प्रचारिणी सभा की खोज के अनुसार सूरदास रचित ग्रन्थों की संख्या पच्चीस बताई जाती है, किन्तु इन रचनाओं में से कुछ अप्रामाणिक है और कुछ सूरसागर की ही अंश है। सूर कृत तीन रचनाएं ही प्रामाणिक मानी जाती है (1) सूरसागर, (2) सूरसारावली, (3) साहित्य लहरी।

काव्यगत विशेषताएं

सूरदास कृष्ण भक्ति शाखा के अन्तर्गत सर्वश्रेष्ठ कवि माने जाते हैं। उनकी इस महान् कीर्ति का मुख्य कारण है उनकी प्रगाढ़ भक्ति भावना।

भक्ति भावना

सूरदास सगुण ईश्वर के उपासक थे। इसीलिए उनकी भक्ति को सगुण भक्ति कहते है। भक्ति उनके लिए साधन नहीं साध्य थी। उनकी भक्ति माधुर्य भाव की भक्ति थी, जिसमें आत्म–समर्पण की भावना अति आवश्यक है।

बाल लीला वर्णन

सूरदास ने बालक श्रीकृष्ण की विभिन्न लीलाओं का अत्यन्त मनोहारी ढ़ग से चित्रण प्रस्तुत किया है। उन्होंने श्रीकृष्ण की चेष्टाओं, क्रीड़ाओं और विभिन्न संस्कारों का वर्णन विस्तृत रूप से किया है। बाल–मनोविज्ञान के क्षेत्र में सूरदास का कोई जोड़ नहीं है।

वात्सल्य भाव

सूरदास ने पुरूष होते हुए भी माता का हृदय पाया था। उन्होंने माता यशोदा के हृदय के वात्सल्य भावों की सूक्ष्म अभिव्यक्ति की है। मातृहृदय के चित्रण में सूरदास को अद्‌भुत सफलता प्राप्त हुई है।

श्रृंगार वर्णन

सूरदास भक्त कवि होते हुए भी श्रृंगार वर्णन के सम्राट कवि माने जाते हैं। श्रृंगार प्रेम भी उनकी भक्ति का प्रमुख साधन है। सूरदास के श्रृंगार का वियोग पक्ष अधिक उज्जवल एवं हृदयस्पर्शी है। संयोग में प्रिय की समीपता निरन्तर बनी रहती है।

सूरदास का सम्पूर्ण काव्य गीति काव्य है। अतः उन्होंने गेय पदों की रचना की है। छन्दों के स्थान पर उन्होंने विभिन्न राग–रागिनियों का प्रयोग किया है। फिर भी कवि ने कहीं–कहीं पर दोहा चौपाई छन्दों का भी प्रयोग किया है। सूरदास के काव्य में अलंकारों का भी अत्यन्त सहज एवं स्वाभाविक प्रयोग किया गया हैं।

19.3 तुलसीदास

जीवन परिचय

तुलसीदास के परम शिष्य, बाबा बेणी माधवदास द्वारा रचित 'गोसाई चरित' के अनुसार इनका जन्म श्रावण शुक्ला सप्तमी के दिन, सम्वत् 1554 में हुआ लेकिन अनेक कारणों से विद्वान इस तिथि से सहमत नहीं है। डा० माताप्रसाद गुप्त के अनुसार विद्वान इनका जन्म सम्वत् 1589 ई० मानते है। अधिकाश विद्वान इनका जन्म स्थान (उत्तर प्रदेश) बांदा जिले के राजापुर गाँव को मानते हैं अन्य विद्वान सोरों नामक स्थान को इनका जन्म स्थान मानते है। ये सरयूपारी ब्राह्मण थे। इनके पिता का नाम आत्माराम दूबे और माता का नाम हुलसी था। इनका विवाह दीनबन्धु की पुत्री रत्नावली से हुआ।

प्रमुख रचनाएं

तुलसीदास के नाम से 36 रचनाएं जुड़ी हुई है। इनमें से बारह रचनाएं ही प्रामाणिक है। दोहावली, कवितावली, गीतावली, कृष्णगीतावली, विनय पत्रिका, राचरितमानस, इत्यादि महत्त्वपूर्ण रचनाएं समाहित हुई है।

काव्यगत विशेषताएं

1. **विषय की व्यापकता**: तुलसीदास ने अपने युग का गहन एवं गंभीर अध्ययन किया है। उन्होंने अपने युग के जीवन के लगभग सभी पक्षों पर लेखनी चलाई है। उनके काव्य में धर्म, दर्शन, संस्कृति, भक्ति, कला आदि का सुन्दर समन्वय हुआ है। विभिन्न भावों और सभी रसों को उनकी रचनाओं में स्थान मिला है।
2. **श्रीराम का स्वरूप**: महाकवि तुलसीदास ने अपने काव्य में श्रीराम को विष्णु का अवतार मानते हुए उसके सगुण एवं निर्गुण दोनों रूपों का उल्लेख किया है। श्री राम को धर्म का रक्षक और अधर्म का विनाश करने वाला माना है।

उन्होंने श्रीराम के चरित्र में शील, सौन्दर्य एवं शक्ति का समन्वय प्रस्तुत किया है।

3. **समन्वय की भावना**: तुलसीदास के काव्य में समन्वय की भावना का अद्‌भुत चित्रण हुआ है। तत्कालीन समाज में धार्मिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक, सामाजिक आदि सभी समस्याओं का किसी–न–किसी रूप में उल्लेख हुआ है।

4. **दार्शनिक भावना**: तुलसीदास का सम्पूर्ण काव्य दार्शनिक पृष्ठभूमि पर आधारित है। तुलसीदास ने दर्शन के नीरस सिद्धान्त को भावपूर्ण एवं कोमल भाषा में बड़ी सफलता पूर्वक उद्‌घाटित किया है। तुलसीदास ने विविध दार्शनिक मतों को ग्रहण करते हुए भी उनमें तारतम्य बैठाकर उनका अद्‌भुत समन्वय किया है। उनकी दार्शनिक विचारधारा मौलिकतापूर्ण है।

5. **प्रकृति-चित्रण**: तुलसीदास ने प्रकृति का अत्यन्त मनोरम चित्रण किया है। तुलसी काव्य में प्रकृति के विभिन्न रूपों का चित्रण किया गया है। उनके काव्य में वन, नदी, पर्वत, पक्षी आदि का विस्तृत वर्णन मिलता है।

6. **प्रबन्ध योजना**: तुलसी की प्रबन्ध–योजना अद्वितीय है। उनकी लगभग सभी रचनाओं में कथा–सूत्र पाया जाता है। रामचरितमानस की प्रबन्ध–पटुता सर्वश्रेष्ठ है। सारी कथा मार्मिक प्रसंगों से भरी पड़ी है।

7. **कला-पक्ष**: तुलसी के काव्य का कला–पक्ष काफी समुन्नत एवं विकसित है। उन्होंने अपने समय की प्रसिद्ध अवधी और ब्रज दोनों भाषाओं में काव्य रचना की। 'रामचरितमानस' में अवधी तथा 'विनय पत्रिका' में ब्रज भाषा का सफल प्रयोग हुआ है।

8. **मृत्यु**: तुलसीदास सम्वत् 1680 को श्रावण शुक्ला की सप्तमी को अपना नश्वर शरीर त्याग कर प्रभु शरण में चले गये।

19.4 मीराबाई

जीवन परिचय

मीराबाई का जन्म सम्वत् 1555 में राव दादू के चौथे पुत्र रत्नसिंह के घर हुआ बताते हैं। बाल्यकाल में ही इनकी माता चल बसी। इसलिए इनके पितामह ने इनका लालन–पालन किया। इनके पितामह अत्यन्त धार्मिक प्रवृति के थे जिसका प्रभाव मीराबाई पर भी पड़ा। बचपन से ही साधु–सन्तों की संगति और दर्शनों के कारण इनके हृदय में भगवद् भक्ति के अंकुर फूट पड़े थे। बारह वर्ष की अल्पआयु में ही मीरा का विवाह मेंवाड़ के महाराणा साँगा के ज्येष्ठ पुत्र भोजराज से हो गया, किन्तु मीरा अधिक देर तक दाम्पत्य जीवन का सुख न भोग सकी और जल्द की विधवा हो गई। अब मीरा का अत्यधिक समय साधु–संतों की संगति में बीतने लगा। राजकुल पहले ही इनके आचार–व्यवहार से रूष्ट था। पति भोजराज व महाराणा साँगा (ससुर) की मृत्यु के पश्चात् तो मीरा पर अत्याचार और भी बढ़ते चले गए। परिणामस्वरूप मीरा ने राजमहल त्याग दिया।

प्रमुख रचनाएं

'नरसी जी का माहरो', 'गीत गोविन्द की टीका', 'मीरानी गरबी', 'मीरा के पद', 'राग सोरठ के पद', 'रास गोविन्द' तथा 'मीराबाई की मलार' और कुछ फुटकर पद आदि उल्लेखनीय रचनाएं है। मीराबाई के फुटकर पद लगभग 200 के करीब हैं।

काव्यगत विशेषताएं

1. **भक्ति भावना**: भारतीय भक्त कवियों में मीराबाई का स्थान सर्वोपरि है। सूर की भक्ति की भाँति मीराबाई की भक्ति भी माधुर्य–भाव की भक्ति है। कहीं–कहीं पर तो मीरा ने सूर और तुलसी को भी पीछे छोड़ दिया है। तुलसी की भक्ति दास्य–भाव की भक्ति है सूर की भक्ति माधुर्य–भाव की भक्ति है, लेकिन मीराबाई तो स्वयं राधा बन गई और भगवान् श्रीकृष्ण को ही अपना पति मानने लगी।

2. **विरह भावना**: मीरा के काव्य में शृंगार वर्णन हुआ है। मीरा के काव्य में संयोग की अपेक्षा वियोग पक्ष को अधिक स्थान प्राप्त हुआ हैं। मीरा के विरह की अनुभूति विस्तृत एवं गहन है। विरह–वर्णन की दृष्टि से मीरा का स्थान सम्पूर्ण हिंदी साहित्य में श्रेष्ठ है। इनका विरह वर्णन जायसी एवं सूरदास से बढ़कर है।

3. **रहस्यानुभूति**: सगुण ईश्वर की पुजारिन होते हुए भी मीरा के काव्य में विभिन्न स्थलों पर रहस्यमयी भावनाओं का वर्णन हुआ है। इसलिए उनको रहस्यवादी कवयित्री भी कहा जा सकता है।

4. **गीति-तत्त्व की प्रधानता**: मीरा के काव्य की प्रमुख विशेषता 'गेयता' है। निश्चित रूप से मीरा का काव्य गीति–काव्य है। गीति काव्य की सभी विशेषताएं आत्माभिव्यक्ति, संक्षिप्तता, तीव्रता, संगीतात्मकता, भावात्मकता आदि उनके काव्य में देखी जा सकती है।

5. **भाषा शैली**: मीरा के काव्य में भाषा शैली अत्यन्त मार्मिक एवं सरस व सरल है। उनकी भाषा में सर्वत्र एकरूपता नही है। उन्होंने कही राजस्थानी का प्रयोग किया है तो कही ब्रज और गुजराती का।

अंत में यही कहा जा सकता है कि मीराबाई भक्तिकालीन शिरोमणि कवियों में से एक थीं। उनका काव्य चरमोत्कर्ष की सीमा है।

अध्याय – 4

हिंदी साहित्य का रीतिकाल

20. नामकरण

रीतिकाल के नामकरण को लेकर भी विद्वानों में मतभेद रहा है। हिंदी साहित्य का सर्वप्रथम काल–विभाजन करने वालों में, जॉर्ज ग्रियर्सन का नाम आता है। जिन्होंने इसे रीतिकाव्य नाम दिया। आगे चलकर मिश्र बन्धुओं ने इसे दो भागों में विभाजित करते हुए पूर्वालंकृत काल से उत्तरालंकृत काल की संज्ञा दी। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इसे आरम्भ में तो उत्तर मध्यकाल तथा रीतिकाल का नाम दिया परन्तु इसे शृंगार काल कहने की भी छूट देते हुए लिखा, "इस काल को रस के विचार से कोई शृंगारकाल कहे तो कह सकता है।" इस प्रकार आचार्य शुक्ल तक इस काल के कई नाम सामने आ गए। जैसे रीतिकाल, पूर्व तथा उत्तर अलंकृतकाल, उत्तर मध्यकाल, रीतिकाल तथा शृंगारकाल इत्यादि। अब इन्हीं नामों तथा अन्य लेखकों द्वारा सुझाये गए नामों की समीक्षा प्रस्तुत की जा रही है।

किसी भी भाषा के साहित्यिक इतिहास का काल–विभाज तथा नामकरण करते हुए रचनाओं की बहुलता, साहित्यकारों में प्रमुख तत्कालीन साहित्य की मुख्य प्रवृत्ति के आधार पर किया जाना ही अधिक तर्कसंगत माना जाता है। जार्ज ग्रियर्सन ने तुलसीदास के बाद जिसे रीतिकाल कहा है वह इसलिए माना जाता है कि रीतिकाल में जो रचनाएँ रची गईं उनमें एक विशेष प्रकार की काव्य–शैली को रीतिकाल कहा गया। मिश्रबन्धुओं ने इस काल को अलंकृत काल इसलिए कहा, क्योंकि इस काल की रचनाओं में काव्य के अलंकरण पर ही अधिक ध्यान केन्द्रित रहा। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल द्वारा सुझाये गये नामों के विषय में कह सकते हैं कि उन्होंने मनोविज्ञान तथा तत्कालीन साहित्य की विशेष अभिरूचि तथा प्रवृत्ति विशेष को ध्यान में रखते हुए तीन नाम सुझाए। आचार्य शुक्ल ने तत्कालीन काव्य पद्धति विशेष अर्थात् रीति–विशेष के आधार पर इसे रीतिकाल कहना ही उचित समझा है।

रीतिकाल के नामकरण के संबंध में और भी विचार सामने आते हैं। मिश्रबन्धुओं ने अपने 'मिश्रबन्धु विनोद' नामक हिंदी साहित्य के इतिहास में इस काल को 'अलंकृत काल' नाम दिया था। उनका कहने का आशय यह था कि इस युग में कविता को अलंकृत काल नाम दिया जाना चाहिए। मिश्रबन्धुओं का तर्क बहुत सशक्त नहीं माना गया। उन्होंने इस युग की कविताओं के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला कि यह कविता अलंकृत है यानि अलंकारों के आग्रह से युक्त है। पर क्या केवल अलंकारों की ही निहित इस काल की कविता में है। रसानुभूति की दृष्टि से इस काल की कविता का मूल्य किसी से कम नहीं है। ध्वनि और वक्रता भी उसमें पर्याप्त मात्रा में मिलती है। इसलिए केवल अलंकारों का आग्रह इंगित करना, इतना अधिक समीचीन नहीं है जिसके कारण कि इस युग का नामकरण ही उस आधार पर कर दिया जाए। दूसरी बात यह है कि इस काल से पहले या बाद में भी जहाँ अधिक अलंकृत कविताएँ सामने आती हैं तो उनका नामकरण भी क्या अलंकारों के आधार पर करने की सोच सकते हैं। इसलिए मिश्र–बन्धुओं ने जिस प्रवृत्ति का अभियान करके इस काल को 'अलंकृत काल' कहा है वह एकांगी और अपूर्ण लगती है।

1. **डा० रमाशंकर शुक्ल 'रसाल'** ने रीतिकाल का नाम 'कला–काल' माना है। 'कला–काल से तात्पर्य उस काल से है, जिसमें हिंदी क्षेत्र में काव्य को कलापूर्ण किया गया, अर्थात् उसमें काव्य के चमत्कृत एवं चातुर्यपूर्ण गुणों को ध्यान में रखकर रचनाएँ की गई और साथ ही कला के नियम से संबंध रखने वाले रीति या लक्षण ग्रन्थों की रचना हुई। इस नाम के देने में रीतिकाल काव्य के बाह्य पक्ष पर तो प्रकाश पड़ता है पर उसकी एक बड़ी विशेषता शृंगारिकता की उपेक्षा हो जाती है। यह नाम प्रायः उसी तरह का है जैसे ग्रीव्ज या मिश्रबन्धुओं ने दिया है। हिंदी साहित्य में इसे भी स्वीकार नहीं किया है।

2. **डा० भागीरथ मिश्र** : डा० भागीरथ मिश्र ने हिंदी साहित्य के इस युग का नाम 'रीति शृंगार' काल रखा है। वे मानते हैं कि शृंगार की प्रवृत्ति रीतिकाल की एक विशेषता है जिसे सभी स्वीकार करते हैं पर उसके साथ ही उस युग के साहित्य की चेतना है 'पद्धति परकता' एक पैटर्न के काव्य की रचना करने की पद्धति परकता से अलग भी कुछ कवि रीतिकाल में थे। घनानंद, बोधा, आलम, ठाकुर आदि की कविता को उस रीतिकाल पद्धति से अलग कर पाते हैं। बिहारी और घनानंद पद्धति एक नहीं है। अतः रीति शृंगार नामकरण की बात भी विद्वानों को उसी प्रकार स्वीकार्य नहीं है जैसे 'कला–साहित्य' की।

3. **पंडित विश्वनाथ प्रसाद मिश्र** : इस काल को पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने 'शृंगार काल' के नाम से अभिहित किया है। उनकी मान्यता यह है कि इस युग की एक बड़ी प्रवृत्ति शृंगार की थी। इसलिए इस युग को 'शृंगार काल' के नाम से पुकारा

जाना चाहिए। 'शृंगार काल' की मीमांसा करने पर भी यही सिद्ध होता है कि यह नाम भी उपयुक्त नहीं है। पं० मिश्र ने यह देखकर इस काल का नाम शृंगार काल दिया है क्योंकि इस काल की कविता में शृंगार की प्रवृत्ति बहुत अधिक है। बात यह है कि शृंगार वर्णन की प्रवृत्ति इस कविता में धन की प्राप्ति के लिए आई। राजाओं की वासना को तृप्त करने के लिए शृंगार–वर्णन हुआ है। कवियों द्वारा अपने मन से वह यह निकला अन्यथा भिखारी यह क्यों कहते–

"आगे के कतिव रीझिहैं तो कविताई न तो,राधिका कनहाई सुमिरन को बहानौ है।"

इस काल में कुछ ऐसे भी कवि हुए हैं जिन्होंने शृंगार को प्रमुखता नहीं दी। कुछ कवि तो ऐसे भी हुए हैं जिन्होंने लक्षण–गन्थों की रचना करके भी शृंगार को कोई स्थान नहीं दिया। इसलिए इसकाल की शृंगारिकता के मूल में कवि की अपनी रुचि न होकर आश्रयदाता की रुचि थी। इस काल में शृंगार के अतिरिक्त नीति प्रकृति–चित्रण आदि की कविताओं की भी कमी नहीं है। सभी प्रकार की कविताओं की प्रवृत्ति शृंगार की कैसे मानी जा सकती है। इसीलिए इस काल को 'शृंगार काल' के नाम जो दिया गया, वह इतना उपयुक्त नहीं लगता। इसलिए इस काल का नाम 'रीतिकाल' देना अधिक समीचीन है। रीति की प्रवृत्ति के अन्तर्गत लक्षण ग्रन्थ भी आ जाएँगे शृंगार की रचनाएं भी और शृंगारेत्तर रचनाएँ भी, क्योंकि लक्षण बताने और उसके अनुसार कविता करने की रीति सभी प्रकार की कविताओं में देखने में आती है। अतः इस काल का नाम 'रीतिकाल' सबसे अधिक उपयुक्त है।

आज हिंदी साहित्य के लगभग सभी विद्वान, आलोचक तथा साहित्य के इतिहास–लेखक यह स्वीकार करते हैं कि इस काल का नाम 'रीतिकाल' ही उचित है क्योंकि उसमें तत्कालीन कवियों की काव्य–रचना पद्धति एवं काव्य–शिक्षा दोनों ही बातें आ जाती हैं। रीतिकाल का नामकरण करने के पश्चात् एक और बात भी विद्वानों में मतभेद का विषय बनी हुई है कि रीतिकाल का संस्थानक आचार्य किसे माना जाये ? इस विषय में विद्वानों के दो वर्ग हैं। एक वर्ग तो आचार्य केशव को रीतिकाल का संस्थापक मानता है और दूसरा वर्ग आचार्य केशव के बाद होने वाले आचार्य चिन्तामणि त्रिपाठी को ही रीतिकाल का संस्थापक तथा प्रवर्त्तक मानता है। इस मतभेद को उत्पन्न करने वालों में सर्वप्रथम तो आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ही हैं, क्योंकि उनके मतानुसार तो केशवदास की गणना भक्तिकालीन कवियों में की जानी चाहिए क्योंकि कालक्रम के अनुसार केशवदास संवत् 1612 से 1674 तक जीवित रहे। इसके अतिरिक्त आचार्य शुक्ल यह भी तर्क देते हैं कि आचार्य केशव ने अपने लक्षण ग्रंथों में संस्कृत के अलंकारवादियों भामह, दण्डी, उद्भट, रूप्पक आदि की पद्धति को अपनाया। शुक्ल ने यह भी कहा हैं कि केशव ने जिन अलंकारवादी आचार्यों के संस्कृत समीक्षा–शास्त्र से अलंकार संबंधी सामग्री ग्रहण की उसमें अलंकार तथा अलंकार्य का भेद स्पष्ट नहीं था। उन्होंने तो रस को अलंकार ही मान लिया था। केशव के विपरीत चिन्तामणि त्रिपाठी ने तथा उनके पीछे चलने वाले रीति–कवियों ने अलंकारों का वर्णन 'चन्द्रालोक' और 'कुवलयानन्द' के आधार पर किया।

उपर्युक्त कथनों से तथा ऐसे ही कुछ अन्य वक्तव्यों से यह मतभेद बढ़ता ही गया, परन्तु निष्पक्ष होकर विवेचना करने पर जो निर्णय लिया जाये वह उचित ही कहा जायेगा। यह ठीक है कि आचार्य केशव को कालक्रम के अनुसार भक्तिकाल में लिया जा सकता है परन्तु केवल कालक्रम को ही एकमात्र आधार नहीं माना जा सकता। जहाँ तक केशव की रीति–पद्धति का प्रश्न है वह चाहे दण्डी तथा उद्भट से प्रभावित हो अथवा पोषित हो अथवा अन्य किसी से, है तो रीति पद्धति ही। आचार्य चिन्तामणि द्वारा अपनायी गई काव्य रचना तथा साहित्य साधना की पद्धति भी रीति पद्धति ही है। जिसे उन्होंने रसवादियों, रीतिवादियों, ध्वनिवादियों आदि के अतिरिक्त चन्द्रालोक तथा कुवलयानन्द आदि अलंकारवादियों से प्रेरणा ग्रहण करके अपनाया है।

निष्कर्ष रूप में यही कहा जा सकता है कि हिंदी रीतिकाल के संस्थापाक आचार्य केशवदास ही हैं। जिन्होंने संस्कृत काव्यशास्त्र को लोकभाषा यानि ब्रजमिश्रित अवधी में प्रस्तुत करके आगे आने वाले कवि–आचार्यों के लिए मार्ग प्रशस्त कर दिया। अतः काल का नाम 'रीतिकाल' सबसे अधिक उपयुक्त है।

21. रीतिकालीन परिवेश : ऐतिहासिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, साहित्यिक

21.1. ऐतिहासिक परिवेश

हिंदी साहित्य के इतिहास में संवत् 1700 से 1900 तक का समय था जब भारत में मुगलों का राज्य था। मुगलों के वैभव–विलास और विजय–वृत्तान्त के अनेक उदाहरण इस बात के प्रमाण है कि उस समय बादशाहों का उत्कर्ष चरम अवस्था पर पहुँचा हुआ था। शासक समर्थ थे और जैसे ही युद्ध से अवकाश मिलता था, विलासिता में डूबे रहते थे। इसका परिणाम यह भी हो रहा था कि जिस शासन को अकबर ने अपनी नीति से दृढ़ बनाया और जहाँगीर ने भी अच्छी तरह संभाला वह शाहजहाँ के समय से मुगल–काल उत्कर्ष

के बिन्दु से नीचे गिरने लगा था। इस संबंध में डा. नगेन्द्र का मत है कि–"जिस प्रकार साहित्य के इतिहास में भक्ति काव्य के चरम वैभव के बाद संवत् 1700 के आस–पास से ही कविता क्षयग्रस्त होने लगी थी, ठीक उसी प्रकार राजनैतिक इतिहास में मुगल–साम्राज्य भी अपने सम्पूर्ण यौवन को प्राप्त करने के उपरान्त ह्रासोन्मुख हो चला था।"

मध्ययुग में समाज सामन्तवादी पद्धति का था। उच्च वर्ग के राजा और सामन्तों का जीवन, वैभव से पूर्ण था। दिल्ली के अनुकरण पर छोटे–छोटे राजाओं में भी वैभव–विलास की प्रवृत्ति थी। उपवन और रमणीय विहार–स्थल उस समय के समाज के लिए वंदनीय थे। पुष्प, इत्र, गंध, फव्वारे और अन्य विलास सामग्री राजा और सामन्तों को तृप्ति देती थीं। इस तरह के समाज का कवियों की रचनाओं पर भी असर पड़ा। इस संबंध में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने कहा है–"शृंगार–वर्णन को बहुतेरे कवियों ने अश्लीलता की सीमा तक पहुँचा दिया। इसमें जनता की रुचि नहीं, आश्रयदाताओं की रुचि थी, जिनके लिए वीरता और कर्मण्यता का जीवन बहुत कम रह गया था।" रीतिकाल में निम्न वर्ग का जीवन सदा की भाँति उपेक्षित था। उनकी आर्थिक स्थिति भी ठीक नहीं थी। कवि और कलाकारों का वर्ग राजा लोगों के यहाँ रहता था जो वैसे ही उच्च आशाएँ–आकांक्षाएँ रखता था।

तत्कालीन समय में मुगलों की उत्तराधिकार की नियम हीनता ने अशांति और संघर्ष का वातावरण बना दिया। देश के अन्य भागों में भी इसी तरह के विद्रोह और संघर्ष के तेवर बढ़ रहे थे। अकबर के राजपूत सहयोगी नीति को औरंगजेब ने ध्वस्त करके जयपुर पर अधिकार किया तो मरवाह और मेवात सभी मुगलों के विरुद्ध हुए संघर्ष करते रहे।

शाहजहाँ के समय में स्थापत्य–कला की विशेष उन्नति हुई, दिल्ली का लाल किला और जामा मस्जिद, मोती मस्जिद, दीवाने आम, ताजमहल आदि उसकी वास्तु कलाप्रियता के प्रमाण हैं। वह साहित्य प्रेमी भी था, तथा फारसी, संस्कृत और हिंदी के कवियों को संरक्षण प्रदान करता था। पंडितराज जगन्नाथ, आचार्य सरस्वती आदि कवि उसके दरबार से सम्बद्ध थे। प्रमुख रीतिकालीन कवि चिन्तामणि उसके कृपापात्र थे। इसके समय में ज्योतिष, अंकगणित, बीजगणित आदि में पर्याप्त प्रगति हुई। औरंगजेब ने लगभग अर्द्ध शताब्दी तक शासन किया। उसका साम्राज्य धार्मिक कट्टरता, अत्याचार एवं अन्याय का शासन रहा। उसकी संकीर्णता के फलस्वरूप जाट, सिक्ख, राजपूत, मराठा आदि सभी उसके विरोधी हो गये। हिन्दू मन्दिरों और पाठशालाओं को तोड़ने की आज्ञा दे दी गयी। काव्य कला से वह घृणा करता था। उसने कलाविदों को दरबार से निकाल दिया। अतः उनको ओरछा, कोटा, बूँदी, जोधपुर आदि राज्यों में शरण लेनी पड़ी। इस प्रकार औरंगजेब का अधिकांश समय विरोधियों का दमन करने में बीता। औरंगजेब के बाद थोड़े–थोड़े समय के लिए अनेक मुगल शासक हुए, लेकिन उनका समय अकर्मण्यता, अयोग्यता, विलासिता आदि का इतिहास है।

21.2 सामाजिक परिवेश

रीतिकालीन काव्य की सर्जना भी सामाजिक परिवेश सम्राट के आतंक और जनसाधारण के दैन्य की परिस्थिति है। राजा बादशाह का प्रभुत्व लिए शासक वर्ग था जो शासन को चलाने वाले थे, दूसरे गरीब किसान, व्यापारी, दुकानदार थे। इतिहासकारों ने इन्हें क्रमशः योद्धा वर्ग और उत्पादक वर्ग कहा है। उनकी स्थिति को स्पष्ट करते हुए डा० ईश्वरी प्रसाद ने कहा है–"भोक्ता वर्ग सम्राट के परिवार और दरबारों से लेकर उनके नौकर चाकर और दासों तक फैला हुआ था। यह वर्ग राज्य की शक्ति था अतएव उत्पादक वर्ग पर इसका पूर्ण प्रभुत्व था। सामाजिक स्थिति भी उनकी श्रेष्ठ थी। इन दोनों के बीच बहुत बड़ा अन्तर था–शासक और शाषित–शोषक और शोषित का।"

इस समय का एक समाज मुगलों का परिवार और उनके दरबारी सामन्तों का था। बहुमूल्य आभूषण, हीरे, जवाहरात, रत्न, माणिक, स्वर्ण, रजत आदि के बेहद प्रयोग से ऐश्वर्य का पता चलता था। स्त्रियों के आभूषण और इत्र, फुलेल, शृंगार प्रसाधनों का जिस दरबार में प्रसार था उसने उस समय के कवियों को काव्य में तरह–तरह की साज सज्जा को चित्रित करने की एक दृष्टि अच्छी प्रकार दे रखी थी। शृंगार और वैभव विलास सुरा सुराही के ऐसे चित्रण रीतिकाव्य में इसी से बड़े स्वाभाविक रूप में मिलते हैं। इस तरह का एक बड़ा प्रसिद्ध कवित्त कविवर पद्माकर द्वारा रचित इस प्रकार रहा है–

"शिशिर के पाला को न व्यापत कसाला तिन्है, जिनके अधीन एते उदित मसाला हैं।

तान तुक ताला है विनोद के रसाला हैं, सुबाला है दुशाला है बिशाला चित्रशाला हैं।।"

वैभव विलास के इस समाज में क्रीड़ा और मनोविनोद के तत्कालीन प्रचलित साधनों की कमी नहीं थी। शतरंज चौसर का खेल, तोता मैना कबूतर को पालना, शिकार और जानवरों की लड़ाई के शौकीन ये लोग श्रमिक दलित वर्ग के दुःख अभाव से अपरिचित होकर जीवन जी रहे थे।

स्त्रियों की समाजिक स्थिति दयनीय थी। वे पुरुष की सम्पत्ति अथवा भोग्या मात्र थीं। किसी कन्या के अपहरण अभिजात वर्ग के

लोगों के लिए साधारण बात थी। कदाचित् इसीलिए अल्पायु में लड़कियों का विवाह अधिक प्रचलित हो गया था। बेगमों और रक्षिताओं की अगिनत संख्या के होते हुए भी लोग वेश्याओं के यहाँ पड़े रहते थे–उनके इशारों पर लोगों के भाग्य का निर्णय तक हो जाया करता था। वस्तुतः भारतीय इतिहास में यह घोर पतन का युग था। रीतिकालीन कवियों द्वारा नारी के चित्रण से उसी सामाजिक परिस्थिति पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। वस्तुतः इस काल का कवि अपने आश्रयदाताओं के भोगपरक जीवन करे देखकर ओर उस प्रकार के जीवन को यश और सम्मान का कारण समझ कर उसे कल्पना और वाग्वैदग्ध्य के बल पर अपनी चरम सीमा तक घसीट ले जाने के लिए मजबूर था।

इसके अतिरिक्त समाज का एक और भी वर्ग था वह था विद्वान और कवि कलाकारों का। ये प्रायः छोटे वर्ग से आये हुये होते थे। परन्तु बादशाह और राजा–सामन्तों के आश्रय में रहते थे। इनकी कला का पुरस्कार बड़े लोग ही दे सकते थे। इसलिए ये उनके आश्रय में रहते थे और उसी तरह का तेवर रखते थे। कई कवि तो जैसे केशव, बिहारी, भूषण तो राजाओं की तरह ही रहते थे। मुगल साम्राज्य के पतन की परिस्थिति का इन कवि–कलाकारों पर भी प्रभाव पड़ा। दिल्ली के बादशाह औरंगजेब के बाद दिल्ली में स्थायी शासन न होने से ये कलावन्त छोटे–छोटे राजा, नवाब, सामन्तों और रईसों के आश्रय में रहने लगे। रीतिकाल के कवियों के समाज का यह जीवित सत्य है।

21.3 सांस्कृतिक परिवेश

तत्कालीन राजनीतिक सामाजिक अवस्था के समान इस युग में देश की धार्मिक–सांस्कृतिक स्थिति भी अत्यन्त शोचनीय थी। अकबर, जहाँगीर और शाहजहाँ की उदारतावादी नीति तथा संतों और सूफियों के उपदेशों के कारण हिन्दू और इस्लाम संस्कृतियों के निकट आने का जो उपक्रम हुआ था, वह औरंगजेब की कट्टरता के कारण एक प्रकार से समाप्त हो चला था। भक्तिकाल में काव्य की जो चार धारायें प्रारम्भ हुई थीं वे किसी न किसी रूप में इस युग में भी वर्तमान थीं किन्तु उनकी आध्यात्मिक गरिमा संत और भक्त कवियों की अपने उपास्य के प्रति अनन्य निष्ठा, स्वान्तः सुखाय काव्य–रचना का संकल्प, राजकीय वैभव की उपेक्षा और लोकमंगल की भावना धीरे–धीरे समाप्त हो रही थी। संत कवियों की बाह्याचार विरोधमूलक वृत्ति और सूफियों के प्रेम की पीर का कुछ प्रभाव समाज पर अवश्य पड़ा था। इस आलोच्यकालीन युग में भी पुरानी परम्परा के सूफी तथा संत विद्यमान थे, पर किसी में भी कबीर, नानक अथवा जायसी जैसा व्यक्तित्व और प्रतिभा नहीं थी, जो जन–जीवन को प्रभावित कर सकती। ये लोग पूर्ववर्तियों की वाणी के मात्र प्रचारक थे। इस युग में रामकाव्य–धारा की पूर्व परम्परा एक प्रकार से अवरुद्ध सी हो गयी थी और उसमें जो रसिक सम्प्रदाय पनप रहा था, उसमें घोर शृंगारिकता आ गयी थी। सूरदास एवं अष्टछाप के अन्य कवियों ने राधाकृष्ण के प्रेम का खुलकर वर्णन किया था। यद्यपि उसके मूल में आध्यात्मिक चेतना प्रखर रूप से विद्यमान थी, किन्तु रीतिकाल तक आते–आते भक्ति और अध्यात्म का आवरण क्षीण होता गया और लौकिक शृंगार प्रबल होता गया। रीतिकाल के लगभग सभी कवियों ने प्रेम–वर्णन में सम्मान के साथ राधाकृष्ण का नाम लिया किन्तु शृंगार का अतिरंजनात्मक वर्णन किया।

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि इस युग में देश की सांस्कृतिक अवस्था भी अत्यन्त शोचनीय थी। अकबर, जहाँगीर और शाहजहाँ की उदारतावादी नीति तथा संतों और सूफियों के परिणामस्वरूप हिन्दू और इस्लाम एक–दूसरे के विरुद्ध होने लगे थे। वैष्णव सम्प्रदायों के मठाधीश राजाओं और सामन्तों को गुरुदीक्षा देने में गौरव का अनुभव करने लगे थे मन्दिरों में अब ऐश्वर्य और विलास की लीला होने लगी थी। स्थिति यहाँ तक पहुँच गई थी कि हिन्दू अपने आराध्य राम–कृष्ण का अतिशय शृंगार ही नहीं करने लगे थे, उनकी लीलाओं में अपने विलासी जीवन की संगति खोजने लगे थे। धर्म का नैतिकता के साथ संबंध विछिन्न हो गया। जनता के अन्धविश्वासों का लाभ पुजारी और मुल्ला उठाते थे और धर्म स्थान भ्रष्टाचार तथा पापाचार के केन्द्र बन गए थे।

21.4 साहित्यिक परिवेश

साहित्य और कला की दृष्टि से यह युग पर्याप्त समृद्ध कहा जा सकता है। इस काल के कवि और कलाकार यद्यपि साधारण वर्ग के व्यक्ति थे, तथापि उन्हें अपने आश्रयदाता मुगल–सम्राटों या देशी नवाबों से इतना सम्मान मिलता था कि समाज के प्रतिष्ठित लोगों में उनकी गिनती की जाती थी। मुगल दरबार की भाषा फारसी थी। उस समय फारसी शैली मजदूं आदि की रोमानी कहानियाँ भी निबद्ध हो रही थीं। जिनका प्रभाव रीतिकालीन हिंदी साहित्य पर स्पष्ट देखा जा सकता है। शाहजहाँ आत्म–प्रशंसा सुनने का अत्यन्त प्रेमी था। ब्रजभाषा जन–जीवन के निकट होते हुए भी फारसी के प्रभाव से न बच सकी। विलासी आश्रयदाताओं की वासना को गुदगुदाने के लिए लिखी हुई शृंगारिक रचनाओं पर भी इस शैली का ऐसा ही प्रभाव स्पष्टत: देखा जा सकता है। परन्तु संयोग से ये कवि चमत्कार के उपकरणों के लिए फारसी की ओर उन्मुख न होकर संस्कृत की ओर उन्मुख हुए। इतना ही नहीं, इन लोगों

ने इन उपकरणों का निरूपण भी इतने मनोयोगपूर्वक किया कि आज पद्धति अथवा रीति के कारण ही इस युग को रीतिकाल की संज्ञा देना अधिक उपयुक्त समझा जाता है। इधर जन–समुदाय के ऐसे कवि भी विद्यमान थे, जो स्वतंत्र रूप से काव्य की रचना कर रहे थे।

प्रदर्शन–प्रधान रीतिकालीन चित्रकला नायक–नायिकाओं की बंधी–बंधाई प्रतिकृतियाँ तैयार होती रहीं। उस समय की चित्रकला की नायक–नायिकाओं के रूढिबद्ध चित्र, पौराणिक कथाओं पर आधारित चित्र तथा राग–रागनियों के प्रतीक चित्रों का बाहुल्य है। कृष्ण और राधा के तो उस युग में अश्लील चित्र बने थे, साथ ही साथ शिव–पार्वती को भी उसी कोटि में लाकर खड़ा कर दिया।

काव्य और चित्रकला के अतिरिक्त इस युग में स्थापत्य–कला और संगीत कला का भी विशिष्ट स्थान रहा। मुगल सम्राट शाहजहाँ को यद्यपि संगीत का अच्छा ज्ञान था। तथापि उसकी रुचि स्थापत्य कला में अधिक रहीं। शाहजहाँ ने जितनी इमारतें बनवायीं, उन सबमें सूक्ष्म सौन्दर्य पर अधिक ध्यान दिया गया है। आगरा का 'ताज' और दिल्ली का 'दिवाने खास' इसके सशक्त उदाहरण हैं। इस काल में कवियों और कलाकारों को राजाश्रयों में यथोचित सम्मान प्राप्त होने के कारयण साहित्य और कला की स्थिति कुल मिलाकर अच्छी रही। किन्तु अलंकारप्रिय विलासी आश्रयदाताओं की अभिरुचि से अत्यधिक प्रभावित रहने के कारण इनमें से किसी का भी क्षेत्र गुण की दृष्टि से विशद् न हो सका।

हिंदी रीतिकाल को मानव–मूल्यों के मापदण्ड पर पतनोन्मुख ही कहा जायेगा क्योंकि प्राकृतिक प्रतिभा को कुंठित करके आरोपित मूल्यों को कोई भी प्रबुद्ध आलोचक उचित नहीं कह सकता। इसीलिए शीतकालीन हिंदी साहित्य में जो श्रृंगार एवं अलंकरण की प्रवृत्ति देखी जाती है वह प्रदर्शन की भावना ही है। रीतिकालीन साहित्य की उपलब्धि मौलिक रचनाओं में नहीं देखी जा सकती, क्योंकि मौलिक रचनाएँ तो बहुत ही कम लिखी गई।

22. रीतीकालीन दरबारी संस्कृति और लक्षण ग्रन्थ

रीतिकालीन दरबारी संस्कृति सांस्कृतिक अवन्ति से परिपूर्ण समय था। इसमें संस्कृति का विचारपक्ष बड़ा दुर्लभ था। जहाँगीर और शाहजहाँ दोनों ही बादशाहों के दरबारों में अद्भुत वैभव तो था, लेकिन अतृप्त विलास और वासना का सागर भी उमड़ रहा था। औरंगजेब तो इन दोनों से विलग था। उसका संस्कृति और विलास–वैभव के प्रक्षय से कुछ भी लेना–देना नहीं था। दरबारी संस्कृति चमत्कार, आडम्बर, प्रतिस्पर्द्धा, श्रृंगारिकता आदि से युक्त थी जिसमें जीवन्तता के स्थान पर मात्र परम्परा का अन्धानुपालन था। रीतिकालीन काव्य और दरबारी संस्कृति दोनों एक–दूसरे के पूरक हैं।

रीतिकालीन के कवियों ने अपने आश्रयदाताओं को सामान्य नर के रूप में चित्रित न करके दिव्य और अलौकिक गुणों से मंडित करके चित्रित किया है। कवियों ने राजाओं को अवतारी पुरुष के रूप में महिमा–मंडित किया है। भूषण ने अपने आश्रयदाता शिवजी को कहीं विष्णु को और कहीं राम का अवतार माना है। रीतिकालीन कवियों द्वारा स्वामिभक्ति का प्रदर्शन भी दरबारी संस्कृति का अंग रहा है। स्वामिभक्ति के लिए जयसिंह, रत्नसिंह आदि राजाओं द्वारा उल्लेख मिलता है। दरबारी सस्कृति की अभिरुचि का केन्द्र–श्रृंगार और काव्यशास्त्र था। काव्यशास्त्र में रस, अलंकार, नायिकाभेद आदि ही प्रधान प्रतिपाद्य विषय थे। सामंती वैभव और सामंती समाज का चित्रण भी रीतिकालीन दरबारी संस्कृति की एक प्रवृत्ति थी। रीतिकालीन सामंती समाज वैभव और ऐश्वर्य की पराकाष्ठा का समाज था। रीतिकालीन अनेक कवियों ने इस वैभव का बड़ा ही चमत्कारी और अलंकारी वर्णन प्रस्तुत किया है।

साहित्य सीमित संस्कृति और सांस्कृतिक जीवन तक ही सीमित रह गया। साहित्य पूरे समाज का चित्र नहीं बन सका था। संस्कृत के बाद प्राकृत और अपभ्रंश की रचनाओं में भी लक्षण ग्रन्थ परम्परा दिखाई पड़ती है। हिंदी साहित्य की रीतिपरम्परा की प्रधान प्रेरणा, संस्कृत काव्यशास्त्र ही रहा है। निस्संदेह, लक्षण काव्य परम्परा के लिए हमें संस्कृत के साथ अपभ्रंश और प्राकृत की समृद्ध परम्परा के अवदान को भी सहज रूप में स्वीकार करना चाहिये। यही परम्परा आगे चलकर रीतिकाव्य में प्रतिफलित हुई है। रीतिकालीन लक्षण परम्परा के असंख्य कवि हुए हैं। आचार्य केशवदास चिन्तामणि त्रिपाठी, तोष, मतिराम, भूषण, सुखदेव, रसलीन पद्माकर आदि जिन्होंने लक्षण ग्रन्थों की रचना की। रीतिकालीन लक्षण ग्रन्थ काव्यशास्त्र के सर्वांगनिरूपक ग्रन्थ हैं।

रीतिकाल की एक प्रमुख विशेषता यह भी रही है कि इसमें अनेक लक्षण ग्रन्थों का निर्माण हुआ जिनमें अलंकरण में प्रवृत्ति प्रमुख है। अलंकार शास्त्र में उत्तम कविता के उदाहरणों में सैकड़ों सरस श्लोक उद्धृत किए गये हैं। इस शास्त्र की आरम्भ में दो स्पष्ट धाराएँ विद्यमान थीं। एक नाट्यशास्त्र में प्रकट हुई थी जिसका प्रधान प्रतिपाद्य 'रस' था दूसरी, चिंता अलंकार शास्त्र के रूप में प्रकट हुई जिसका प्रद्य विवेच्य विषय अलंकार थे। इन दो सम्प्रदायों को एकत्र करने का काम ध्वनि, सम्प्रदाय के पंडितों ने किया।

रीतिकालीन हिंदी कवियों तथा आचार्यों की मुख्य प्रवृत्ति लक्षण ग्रन्थों को रचने अथवा संस्कृत के काव्य शास्त्रीय सिद्धान्तों को लक्षण तथा उदाहरणों से स्पष्ट करने की रही। रीति निरूपण से अभिप्राय लक्षण ग्रन्थ लिखकर आचार्यत्व की पदवी प्राप्त करना ही समझना चाहिए। रीतिकालीन साहित्यकारों ने काव्य के क्षेत्र में अलंकारिकता, प्रदर्शन तथा चमत्कारपूर्ण उक्तियों को अपने काव्य का प्रतिपाद्य बनाया। उन्होंने तो अलंकारों को कविता रूपी कामिनी के लिए अनिवार्य घोषित किया। इसीलिए केशव दास ने तो यहाँ तक लिख दिया है कि–

"जदपि सुजाति सुलच्छिनी, सुबरन सरस सुवृत्त। भूषन बिनू न बिराजई, कविता बनिता भित्त।"

अर्थात् कविता तथ बनिता चाहे कितनी ही उच्च जाति की क्यों न हो, अच्छे लक्षणों वाली सुवर्ण, रसीली तथा पुष्ट क्यों न हो ? परन्तु जब तक वे भूषण (अलंकार) धारण नहीं करती, तब तक शोभा नहीं पा सकती। इसी कारण रीतिकाल के अधिकांश साहित्यकारों ने अलंकारों के सहारे ही अपनी रचनाएँ रची। अलंकार शास्त्र ही उस समय का साहित्य शास्त्र माना जाता था। अतः काव्य में अलंकारण की प्रवृत्ति भी खूब फली–फूली।

रीतिकालीन रचनाकारों ने प्रबन्ध काव्य की अपेक्षा मुक्तक काव्य शैली को प्रमुखता प्रदान की। तत्कालीन आश्रयदाताओं को तुरंत प्रसन्न करने के लिए मुक्तक काव्य शैली का खूब प्रसार हुआ क्योंकि मुक्तक काव्य चुने हुए फूलों का गुलदस्ता है जिसमें सभा या दरबार को आसानी से मोहित किया जा सकता है।

इस काल के कवियों ने रीति या शास्त्र की भूमिका पर अपनी कविता की रचना की है। केशवदास ने सर्वप्रथम शास्त्रीय पद्धति पर रस और अलंकारों का निरूपण 'रसिक प्रिया' और 'कविप्रिया' में किया, किन्तु चिन्तामणि त्रिपाठी से लक्षण ग्रन्थों की अखण्ड परम्परा चलती रही। इन ग्रन्थों में रीतिबद्ध कवियों ने कोई मौलिक उद्‌भावना नहीं की है, वरन् संस्कृत के काव्यशास्त्र के विवेचन को भाषा में पद्यबद्ध कर दिया है, केवल लक्ष्य ग्रन्थ लिखने वाले कवियों ने रीति का कसाव कुछ ढीला कर दिया है। किन्तु फिर भी रीति की परिपाटी का ज्ञान हुए बिना इनकी कविता को अच्छी तरह नहीं समझा जा सकता है।

रीतिकालीन काव्य और दरबारी संस्कृति

रीतिकालीन काव्य और दरबारी संस्कृति दोनों को एक–दूसरे का पूरक माना जाये तो अत्युक्ति नहीं होगी। वास्तव में, दरबारी संस्कृति ही रीतिकालीन काव्य का आधार है। रीतिकालीन काव्य में चित्रित दरबारी संस्कृति का अध्ययन इस प्रकार किया जा सकता है।

1. **आश्रयदाताओं की अतिरंजित प्रशस्ति** : रीतिकालीन दरबारी संस्कृति की एक प्रमुख विशेषता राजप्रशस्ति रही थी। इस कालखण्ड में राजप्रशस्ति के तीन आयाम है–युद्धवीर, दानवीर और धर्मवीर। भूषण ने महाराज शिवाजी के माध्यम से युद्धवीरता का सर्वोच्च प्रतिमान प्रस्तुत किया है। यहाँ पर यह भी उल्लेख करना समीचीन प्रतीत होता है कि मुस्लिम शासकों के विरोध में संघर्ष करने वाले शासकों का ही युद्ध कौशल रीतिकालीन कवियों द्वारा वर्णित हुआ है। वैसे जो छत्रपाल की वीरता के वर्णन के लिए भूषण विख्यात हैं, लेकिन मतिराम ने भी इस प्रसंग और पात्र को अपनी कविता का प्रतिपाद्य बनाया है। वृतान्त है कि छत्रपाल औरंगजेब से युद्ध करते हुए वीरगति को प्राप्त हुए थे। मतिराम इस दशा की व्यंजना इस प्रकार व्यक्त करते हैं :–

"औरंग-दारा जे जुरे दोऊ युद्ध, भर भर क्रुद्ध विनोद-विलासी,
भारू बजै, मतिराम, बखानै, भई अति अस्त्रनि की बरषा सी।
नाथ-तने तिहिठौर मर्‌यौ, तजय नाजिकै छत्रि को रन करसी।
सीस भयो हर-हार सुमेरू, छता भयो, आप सुमेरू को बासी।।"

रीतिकालीन रचनाकारों ने राजा के धर्मवीर रूप की चर्चा भी की है। भूषण ने शिवाजी के प्रशस्ति वर्णन के माध्यम से उनके धर्मवीर स्वरूप की विवेचना की है, यथा–

"वेद राखे विदिन पुरान परसिद्ध राखे, राम-नाम राख्यो अति रसना सुधर मैं।
हिन्दुन की चोटी रोटी राखी है सिपाहिम की,काँचे में जनेऊ राख्यौ माला राखी गर मैं,
राजन ही हद्द राखी तेग-बल सिवराज, देव राखे देवल स्वधर्म राख्यौ घर मैं।।"

2. **दिव्यता और अलौकिकतायुक्त आश्रयदाता** : रीतिकालीन कवियों ने अपने आश्रयदाताओं को सामान्य नर के रूप में चित्रित न करके दिव्य और आलौकिक गुणों से सम्पन्न करके चित्रित किया है। कवियों ने उन्हें अवतारी पुरुष के रूप में भी महिमा–मंडित किया है। महाकवि भूषण ने अपने आश्रयदाता शिवाजी को कहीं विष्णु और कहीं राम का अवतार माना है। उन्होंने शिवाजी को राम का अवतार मानते हुए कहा है–

"दशरथ राजा राम भौ वसुदेव के गोपाल। सोई प्रकट्यौ साहि के श्रीसिवराय भुआल।"

न केवल भूषण ने बल्कि अन्य रीतिकालीन कवियों ने भी अपने–अपने आश्रयदाताओं में दिव्यता की प्रवृत्तियों को प्रमुखता से स्थान दिया है। कविवर पद्माकर को अपने आश्रयदाता जगतसिंह के रूप में राम और कृष्ण के अवतारों की प्रतीति होती है, यथा–

"प्रबल, प्रताप कुल दीपक छता के पुण्य
पातक पिता के राम राजा ज्यों भगतराज।
कान्ह अवतार बैरी-बारिधि-मथनकाज,
सील के जहाज बली विम तखत राज।।"

3. **राजरुचि का विवरण** : कवियों, कलाकारों, दस्तकारों आदि को आश्रय देना दरबारी संस्कृति की राजरूचि थी। यह उस समय की सामान्य राजरूचि रही थी। आजमशाह ने देव को आश्रय दिया, सुजानसिंह ने सूदन को पारछीत ने ठाकुर को राजभोगी लाल ने देव को दलेल सिंह ने थान कवि को तथा ललन ने बनी प्रवीन को आश्रय दिया था।
शृंगार–निरूपण और शास्त्र–निरूपण उस युग की काव्य–प्रवृत्ति थी। इस प्रवृत्ति की पृष्ठभूमि में राजाओं की शृंगारिक रूचि विद्यमान थी और उनकी शास्त्रीयता के प्रति आग्रह थी। इस आग्रह के परिणामतः अनेक शास्त्रीय ग्रन्थ लिखे गये। इन ग्रन्थों में कुछ सर्वांगनिरूपक ग्रन्थ थे और कुछ विशिष्टांग निरूपक। आलंकारिक ग्रंन्थों में भाषा भूषण (महाराज जसवन्त सिंह) नरेन्द्र भूषण, (भान कवि), ललित (मतिराम) आदि का विशेष उल्लेख मिलता है। दरबारी संस्कृति की राजरूचि का केन्द्र–शृंगार और काव्यशास्त्र था। काव्यशास्त्र में रस, अलंकार, नायिकाभेद आदि ही प्रधान प्रतिपाद्य विषय थे। शृंगारिकता की रूचि ने कला के सभी रूपों को अपने कब्जे में कर रखा था।

4. **स्वामिभक्ति का प्रदर्शन** : स्वामिभक्ति का प्रदर्शन भी दरबारी संस्कृति का अंग रहा है। स्वामिभक्ति के लिए जयसिंह, रतनसिंह, छत्रपाल, भावसिंह आदि राजाओं का उल्लेख मिलता है। महाराज शाहजहाँ (भूषण के नायक छत्रपाल नहीं) दिल्ली के बादशाह शाहजहाँ के अधीन थे। शाहजहाँ के प्रति अपनी भक्ति प्रदर्शित करते हुए उन्होंने औरंगजेब से युद्ध किया। भावसिंह ने शिवाजी से युद्ध किया, वह भी औरंगजेब से मैत्री निर्वाह करने के लिए। इस प्रशस्ति का प्रदर्शन मतिराम ने इस प्रकार किया है–

"सूबनि को मेटि डिल्ली देस दलिवे कौं चमू,
सुभट समूहिन सिवा की उमहति है।
कहैं मतिराम ताहि रोकिवे कौं संगर में
काहू केन हिम्मति हिये में उलहति है।
सत्रुसाल नंद के प्रताप की लपट सब
गरवी गनीम वरगीन कौं दहति है।
पति पातसाह की इजति उमराव की।
राखी रैया राव भावसिंह की रहति है।"

5. **सामंती समाज का चित्रण** : सामंती समाज का चित्रण भी रीतिकालीन दरबारी संस्कृति की एक प्रवृत्ति थी। रीतिकालीन सामंती समाज वैभव और ऐश्वर्य की पराकाष्ठा का समाज था। रीतिकालीन अनेक कवियों ने इस वैभव का बड़ा ही चमत्कारी और अलंकारी वर्णन किया है। इस दृष्टि से कवि मतिराम, गजन, भिखारीदास आदि अनेक कवियों का काव्य दर्शनीय है। गंजन की कुछ प्रमुख पंक्तियों का अवलोकन–

"मीना के महल जखाफ दर परदा है,
हलवी फनूसन में रोशन चिराग की।
गुलगुली गिलम गरक आब पग होत,
जहाँ बिछी मनसद लालन के दाम की।।
केती महताबमुखी खचित जवाहिरन,
गंजन सुकवि कहैं बौरी अनुराग की।
एतमादुदौला कमरूद्दीपन खाँ की मजलिस,
सिसिर में ग्रीष्म बनाई बड़ भाग की।।"

दरबारी संस्कृति में सामंती समाज का विशेष महत्त्व होता है। इस समाज में सरदार, मनसबदार, अमीर–उमराव के साथ शासन, न्याय और सुरक्षा से सम्बद्ध कर्मचारी आते थे। दरबारों से कुछ जातियाँ भी अनायास सम्बद्ध थीं। इसमें चारण, भाट, मागद, सूत, बंदीजन आदि प्रमुख हैं। सामंती समाज में सामान्या (गणिका) का विशेष आदर था। वह सौन्दर्य और आकर्षण का केन्द्र हुआ करती थी।

कवि चन्द्रशेखर ने इन वेश्याओं–गणिकाओं का चित्रण इस प्रकार किया है--

"बसन विभूषन बिराजत बिमल वर मदन मरोरनि तरकि तन तोरतीं।।
प्यारे पातसाह के परम अनुराग रंगी, चाप भरी चापल चपल दृग जोरतीं।
काम अबला सी, कलाधर की कला सी, चारू चंपक लता सी चपला सी चित चोरतीं।।"

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि उत्तर मध्यकाल में आकर प्रेम की उदान्त भावनाएँ लौकिक वासनाओं के रूप में परिवर्तित हो गयीं। पूरा सामाजिक परिवेश और साहित्य शृंगार के सागर में डूबने लगा था। अलौकिक शास्त्रीय ज्ञान इस युग का शास्त्रीय ज्ञान बन गया। ऐसी स्थिति में, साहित्य सीमित संस्कृति और सांस्कृतिक जीवन तक ही सीमित रह गया था। साहित्य समाज का दर्पण होता है, लेकिन ऐसी स्थिति में वह पूरे समाज का चित्र नहीं खींच सका और यहीं सब रीतिकालीन दरबारों की संस्कृति रही है।

23. रीति काल के प्रवर्तक आचार्य

हिन्दी साहित्य के इतिहास के मध्य काल का उत्तर भाग रीतिकाल के नाम से जाना जाता है। इस काल का प्रारम्भ अधिकांश विद्वानों द्वारा सं. 1706 माना गया है। कुछ विद्वानों का कहना है कि रीतिग्रन्थों के निर्माण का श्रीगणेश आचार्य चिंतामणि ने किया है। इस प्रकार इन्हें ही इस परंपरा का प्रवर्तक मानना चाहिए। विद्वानो का एक वंग रीतिकाल को संवत 1650 से प्रारंभ मानता है। ऐसे विद्वानो की मान्यता है कि रीति ग्रन्थों का निर्माण विशेष पद्धति से होता है। इससे पूर्व लिखे गए ग्रन्थो में ये लक्षण नहीं मिलते हैं। इस वर्ग के विद्वानों का कहना है कि शास्त्रीय ढंग से लिखे गए ग्रंथों में कविप्रिया और रति का प्रिया का विशेष स्थान है। ये ग्रंथ शास्त्रीय आधार पर निर्मित है। इस प्रकार आचार्य केशव को ही रीति काल का प्रवर्तक मानना चाहिए। जिस प्रकार प्रत्येक धारा की रचनाओं के विषय में कुछ न अनुकूल और प्रतिकूल चर्चाएँ होती रहती हैं। इसी प्रकार रीतिकाल के रीति–ग्रन्थो और कर्मकाल पर चर्चा चलती रहती है।

रीतिकालीन कवियों और उनकी रचनाओं पर विचार करने की आवश्यकता है।

हिन्दी के रीति ग्रन्थ की प्रारम्भिक रचना कृपाराम कृत "हित तरंगिणी" को मान सकते है। उनकी कृति में पूर्व के कुछ रीति–ग्रन्थकारों की ओर भी संकेत किया गया है। इस विषय में यह उल्लेखनीय है कि इन रीतिग्रन्थकारों की कोई भी कृति उपलब्ध नहीं है। जब तक किसी साहित्यकार की ऐसी कृति मिल नहीं जाती तब तक उस पर विचार कर पाना असम्भव है।

कृपाराम की "हित तरंगिणी" पर भरतमुनि के नाट्य शास्त्र का स्पष्ट प्रभाव दिखाई देता है। इसमें दिया गया नायिका भेद बहुत कुछ नाट्यशास्त्र से मेल खाता है। यह प्रथम और प्रारंभिक रचना है, किन्तु सिद्धांत की दृष्टि से इस रचना में न कोई मौलिकता है न ही विशेष महत्व है।

कृपाराम के पश्चात रीति के शास्त्रीय ग्रंथ रचना में गौण कवि का नाम लिखा जा सकता है। 'अलंकार चन्द्रिका' इनका ग्रन्थ है। इसमें अलंकार का विवेचन है। यह ग्रन्थ भी माम चर्चा में है, किन्तु कृति उपलब्ध नहीं है। मोहन लाल मिश्र ने भी 'श्रृंगार सागर' की रचना की है। इस विषय में अधिकांश विद्वानो का मत है कि यह कृति भक्ति काल के रीति ग्रंथो में से एक है। इसे रीति काल के ग्रंथो में रखना उचित नहीं होगा। शास्त्रीय विवेचन में यह ग्रंथ विशेष महत्व का है। इसमें रस और नायिका भेद का सविस्तार निरूपण किया गया है। अष्टछाप के कवियों में से एक कवि नन्ददास ने 'रसमंजरी' की रचना की है जिसमें नायिका भेद का शास्त्रीय संदर्भ दिखाई देता है। अकबर के शासन के अनेक कवियों ने भी रीति ग्रंथो की रचना परम्परा में अपना योगदान दिया है। इनमें रहीम, बलभद्र और कवि गंग का नाम विशेष उल्लेखनीय है। केशव से पूर्व रचे गए रीति ग्रंथो में करने से कवि के तीन ग्रंथो की विशेष चर्चा आती है। ये ग्रंथ हैं – 'करुणा–भरण', 'श्रुतिभूषण और 'भूपभूषण'। इन ग्रथों का अपना महत्व हैं। ये तीनों ही ग्रंथ अलंकार चर्चा पर आधारित हैं। इतना होने पर रीति शैली की किसी विशेष बात दिखाई नहीं होती है।

इस प्रकार के विस्तृत विवेचन में केशव के पूर्व कई कवियों की कृतियाँ सामने आती है, किन्तु शास्त्रीय दृष्टि से रीति तत्वों का आभाव ही दिखाई देता है। इन ग्रंथों में रीति तत्वों की महत्ता न होने से इस समय के किसी कवि को रीति ग्रंथ रचना का प्रवर्तक नहीं मान सकते हैं।

रीति कालीन आचार्य केशव के ग्रथों में प्रतिपादित रीति तत्त्वों को देखते हुए इनको रीति–चिंतन पद्धति पर विचार करना चाहिए। इनके पूर्व कृपाराम कृति 'हित तरंगिणी' एक मात्र ऐसा ग्रंथ है जिसमें रीति तत्त्वों का समावेश मिलता है, किन्तु अनुकूल शास्त्रीय व्यवस्था का अभाव है। किसी सीमा तक इसका नायिका भेद उपयोगी मान सकते हैं।

आचार्य केशव संस्कृत के प्रकांड विद्वान थे। उन्होंने संस्कृत ग्रंथों का अध्ययन किया और अपनी रचनाओं में रीति परंपरा का गुरुतर संवहन किया है। उनकी कृतियों में रस, अलंकार, काव्य–दोष, कवि कर्म, काव्य–स्वरुप और काव्य–वृत्तियों आदि का सविस्तार विवेचन किया गया है। केशव को अलंकार प्रतिपादन और सैद्धान्तिक विवेचन में अग्रणी कवि माना गया है। केशव अलंकारवादी कवि थे। इसी प्रवृति के कारण केशव को भामह और दण्डी के साथ रखा जाता है। इस प्रकार केशव के काव्य में रीति के तत्त्वों का गंभीरता से प्रतिपादन किया गया है।

आचार्य चिंतामणि रीति काल के अन्य प्रमुख कवि है जिनकी लेखनी चार महत्वपूर्ण ग्रंथों का सृजन हुआ है। इनके ग्रंथ हैं– 'काव्य–विवेक', 'कविकुल कल्पतरु', 'काव्य–प्रकाश' और 'रसमंजरी'। इन ग्रंथों में काव्य की विविध धाराओं का उत्तम विवेचन किया गया है। इनके द्वारा छंद शास्त्र पर 'पिंगल' नामक कृति का भी सृजन किया गया है। इस प्रकार रीति ग्रंथ निर्माण की बलवतीं परंपरा का स्वरूप सामने आता है। इस काल के अधिकांश कवियों ने संस्कृत के कवियों से मिली है। इन ग्रंथों के रचना की प्रेरणा संस्कृत के कवियों से मिली है। इन ग्रंथों के आधार संस्कृत ग्रंथ है। सर्वप्रथम आधार कवियों और उनके ग्रंथो की चर्चा आवश्यक है।

आचार्य भरतमुनि के 'नाट्य शास्त्र' में रस के विशद विवेचन के साथ छंद अलंकार, काव्य–गुण, काव्य–दोष और नाटय स्वरुप का विवेचन किया गया है। नाट्य शास्त्र के विभिन्न अध्यायों में काव्यशास्त्र के विभिन्न संदर्भो का विवेचन है। इसकी छाप रीतिकालीन कवियों पर यत्र–तत्र दिखाई देती है। आचार्य भामह के 'काव्यालकांर' में अलंकार सिद्धांत की बहु विधि विवेचना की गई है। भारतीय आचार्यो द्वारा स्थापित छः सिद्धांतो की चर्चा संस्कृत की ही देन है। जहाँ से रीतिकाल के कवियों को प्रेरणा मिली है।

रीति ग्रंथों की रचना परंपरा में संस्कृत के पश्चात प्राकृत और अप्रभंश की कृतियाँ भी उल्लेखनीय हैं–

(1) प्राकृत के रीति ग्रथ एवं अन्य ग्रंथ

1. भविसयत्तमहा (10वीं शती)
2. णायकुमारचरिउ पुष्पदैतचरिउ (10वीं शती)
3. महापुराणम–महाकविपुष्पदैतविरचित (972 वि.स.)
4. चनुप्पन महापुरिस चरियं (11वीं शती)
5. प्राकृत कथा संग्रह (11वीं शती)
6. आख्यामानक मणिकोश–नेमचन्द्र सूरि (12वीं शती)
7. जिनदत्ताख्यानद्वय (12वीं शती)
8. अपभ्रंश काव्यमयी (13वीं शती)
9. प्रबंध चिंतामणि (14वीं शती)

(2) अपभ्रंश के रीति ग्रंथ एवं अन्य ग्रंथ

1. माइल्लधवल (दोहा ग्रथ) श्री देव सेन मुनि
2. मुंज के दोहे
3. ब्रहम कवि के दोहे
4. भोज के दोहे एवं समस्यापूर्ति
5. हेमचन्द का व्याकरण
6. कुमारपाल प्रतिबोध
7. रासो
8. प्रबन्ध चिन्तामणि
9. ढोला–मारु दोहा
10. पुरानी हिन्दी के दोहे

इस प्रकार रीति ग्रंथों के साथ अन्य ग्रन्थो के रचना की गंभीर परंपरा दिखाई देती है। इसके आधार पर रीतिकालीन ग्रंथ सामने आए है।

रीतिकालीन लक्षण ग्रंथ

रीतिकाल के रीति–ग्रंथों की रचना के आधार रूप में संस्कृत ग्रंथ है और उनमें तीन प्रकार की मुख्य प्रवृतियां सामने आती हैं।

1. **अलंकारवादी आचार्य**- जिसने अलंकार विवेचना को अपना लक्ष्य बनाया है, यथा–केशव, जसवंत सिंह, भूषण, ग्वाल आदि।
2. **रस और नायिका चिंतन वादि आचार्य**- चिन्तामणि, मतिराम भिखारी आदि।
3. **रसवादी आचार्य**- कुलपति भिखारी सोमनाथ आदि।

रीति काल के आचार्य की चर्चा के पूर्व इस काल के विभिन्न रीति कवियों की चर्चा भी अपेक्षित है। इनमें कुछ इस प्रकार हैं–

1. **केशव**- रीतिकाल के कवियों में रीति के तत्त्वों को सर्वाधिक रूप में अपनाने वाले कवि केशव है। इनके दो लक्षण ग्रंथ रीति ग्रंथ को अनुपम धरोहर है। वे ग्रंथ हैं 'रसिक प्रिया' और 'कविप्रिया'। केशव ने रसिक में रसराज शृंगार को गंभीरता से अपनाया है।

   नवहू रस के भाव बहु, तिनके भिन्न विचार।

   सबको केशवराम हुरि नायक है शृंगार।।

   'कविप्रिया' अन्य प्रवृत्तियों का प्रस्तुत करने वाली रचना है। इस कृति में विविधा का भी आभास होता है–

   समझै बाला बालकवि वनतं पंथ अगाध।

   कवि प्रिया केशव करी, छमिहै बुध अपराध।।

   कविप्रिया में अलंकार और काव्य दोषों को विस्तार से अपनाकर काव्यसम्मत प्रस्तुति की गई है।

2. **चिन्तामणि**- रीतिकाल के प्रमुख रीति कवि है। इनकी लेखनी से 'काव्य–विवेक', 'कविकुल कल्पतरु', 'काव्य–प्रकाश', रसमंजरी और पिंगल रचनाओं का सृजन हुआ है। इनमें सभी उपलब्ध नहीं है। सर्वाधिक चर्चित और महत्वपूर्ण ग्रंथ है– 'कविकुलकल्पतरु'। इसमें काव्य–गुण, काव्यदोष, अंलकार आदि को अपनाया गया है।

3. **जसवंत सिहं**- इन्होंने 'भाषाभूषण' नाम रीति ग्रंथ की रचना की है। इस ग्रंथ पर संस्कृत के ग्रंथ चन्द्रालोक और कुवलयानन्द का प्रभाव दिखाई देता है। इसमें अलंकार रस और नायिका भेदों को अपनाया गया है।

4. **मतिराम**- रीतिकालीन रीति कवियों में मतिराम का नाम गौरव से लिया जाता है। इन्होंने कई ग्रंथों का प्रणयन किया है। इनके प्रमुख ग्रंथों में 'रसराज' काव्यशास्त्र के रस की चर्चा के लिए प्रसिद्ध है, तो 'ललित ललाम' मे अंलकार की विवेचना है। इनके ग्रंथ हैं–

   1. रसराज
   2. ललित ललाम
   3. साहित्यसार
   4. लक्षण शृंगार

5. **भूषण**- भूषण ओज के कवि है साथ ही इनके काव्य में अंलकारो की अनूठी विवेचना की गई है। शिवराज भूषण इनके द्वारा रचित श्रेष्ठ शास्त्रीय ग्रंथ है।

6. **कुलपति मिश्र**- संस्कृत के विद्वान होने के कारण इनके काव्य पर संस्कृत आचार्यों का प्रभाव होना स्वाभाविक है। कृत काव्य प्रकाश और विश्वास कृत साहित्य दर्पण का स्पष्ट प्रभाव देख सकते हैं। इनकी दो कृतियाँ–इस रहस्य और गुण इस रहस्य सामने आती है।

7. **सुखदेव मिश्र**- इनके छः ग्रंथ– कृतविचार, रसार्णव, छंदविचार, शृंगार लता, पिंगल, फाजिल अलि प्रकाश आदि है।

8. **देव**- इन्होंने कई रीति ग्रंथों की रचना की है। जिनमें प्रमुख हैं– भावविलास, रसविलास, कुशल विलास, भवानी विलास, काव्य–रसायन आदि। इनमें रस, अंलकार और नायिका–भेद आदि पर गंभीर विवेचना है।

9. **श्रीपति**- रीतिग्रंथ लिखने वालों में चर्चित कवि हैं। इन्होंने अनेक रीति ग्रंथों की रचना की है। जिनमें प्रमुख हैं– कविकुल कल्प द्रुम, रससागर, विक्रम विलास, अलंकार गंगा, अनुप्रास विनोद, सरोजकलिका, काव्य–सरोज आदि।

10. **रसलीन**- इनका पूरा नाम "सैयदगुलाबनबी रसलीन" है। इन्होंने अंग–दर्पण और रसप्रबोध की रचना की हैं। अंग दर्पण के एक सौ अस्सी दोहों में नखशिख वर्णन है। 'रस–प्रबोध में सभी नौ रसों की विशद चर्चा है।

11. **भिखारी दास**- इनकी लेखनी से 'शृंगार निर्णय' और काव्य–निर्णय लक्षण ग्रंथों की रचना हुई है। इनमे रस और नायक–नायिका भेदों को अपनाया गया है।

इस प्रकार रीति काल में संस्कृत ग्रंथों को अपना कर रीति ग्रंथों के रचना की अनूठी परंपरा रही है। इस विस्तृत परंपरा को देख कर मन में यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि क्या रीति ग्रंथों के प्रवर्तक कवि केशव है या अन्य कोई कवि।

हिन्दी साहित्य के रीतिग्रंथो के प्रवर्तक आचार्य के विषय में विद्वानो में पर्याप्त मतभेद है। डा. श्यामसुदंर दास जैसे विद्वान केशव को

रीतिकाव्य का प्रवर्तक मानते है। उन्होने अपने हिन्दी साहित्य में केशव को रीतिकाल के प्रारम्भ में स्थान देते हुए लिखा है-- "यद्यपि समय विभाग के अनुसार केशव भक्तिकाल में पड़ते हैं और यद्यपि गोस्वामी तुलसीदास के समकालीन होने तथा 'राम चन्द्रिका' आदि ग्रंथ लिखने के कारण रीतिवादी नहीं कहे जा सकते, परन्तु उन पर पिछले काल के संस्कृत साहित्य का इतना अधिक प्रभाव होकर वे चमत्कारवादी कवि हो गए और हिन्दी में रीति–ग्रंथों की परम्परा के आदि आचार्य कहलाए।"

डा दास के विपरीत आचार्य शुक्ल के केशव को रीतिग्रंथ के प्रथम आचार्य मानते हुए भी उनहे रीतिग्रंथो की परम्परा का वास्तविक प्रर्वतक स्वीकार किया है। शुक्ल जी के मन में रीतिग्रंथो की परम्परा का वास्तविक प्रर्वतक स्वीकार किया है। शुक्ल जी के मन में रीतिग्रंथों की अखंड परम्परा केशव के समय से नहीं चिंतामणि से है। केशव के पश्चात लगभग पचास वर्षो तक हिन्दी साहित्य में रीतिग्रंथों की रचना नहीं हुई। यदि केशव से आगे भी हिन्दी साहित्य में रीतिग्रंथो की रचना माना जा सकता था। शुक्ल जी के अनुसार केशव को रीति–ग्रंथकार कवियों ने केशव को आदर्श न मानकर उनके द्वारा निर्दिष्ट मार्ग से निम्न मार्ग को अपनाया गया है।

केशवदास सर्वप्रथम रीतिकाव्य के सर्वांनिरूपक प्रौढ़ कवि के रूप में हमारे सामने आते है। शुक्ल जी के अनुसार उन्हें रीतिकाव्य का प्रवर्तक न मानने में भी आपत्ति है। केशव के बाद लगभग पचास वर्ष तक रीतिग्रंथो की रचना न होने के कारण भी केशव को रीतिग्रंथ–प्रवर्तक के स्थान से च्युत करना उचित नहीं है। जब कभी कोई प्रभावशाली लेखक किसी नवीन प्रवृति का प्रवर्तन करता है। तब यह आवश्यक नहीं होता कि उसके बाद एक साथ ही उस प्रकृति की परंपरा प्रतिष्ठित हो जाए। कभी–कभी लोगों को उस प्रवृति को समझने या अपनाने में पर्याप्त समय लग जाता है। ऐसी दशा में केशव के पश्चात पचास वर्षो तक रीतिग्रथ कवियों ने केशव के दिखाये हुए मार्ग का अनुसरण नहीं किया। यह भी ऐसी तर्कपूर्ण और सबल युक्त नहीं जो कि केशव को रीतिकाव्य के प्रर्वतको को रूप उनका नाम गिना जा सके। केशव ने काव्य के विविधांगो के निरूपण का मार्ग दिखाया था और इस रूप में आकर्षक मार्ग का अनुसरण किया है। यह बात दूसरी है कि परवर्ती कवियों ने संस्कृत के उन आचार्यो को आदर्श नहीं माना जिनको केशव ने माना था। इसके अतिरिक्त केशव के आचार्यत्व का जितना प्रभाव परवर्ती रीतिग्रंथकार कवियों पर पड़ा है, उतना चिंतामणि त्रिपाठी पर नहीं। चिंतामणि का उनके परवर्ती आचार्य कवियों ने रीतिकाल के प्रवर्तक के रूप में उल्लेख नहीं किया जबकि केशव को देव और दास जैसे प्रतिभाशाली आचार्यों ने भी अपनी श्रद्धांजलि भेट की है। इसमें कोई संदेह नहीं कि केशव ने 'कविप्रिया' और 'रसिक प्रिया' में संस्कृत के लक्षण–ग्रंथो के आधार पर काव्यशास्त्र कि विविधांगों का जो निरूपण किया है, उसमें मौलिकता का आभाव है। काव्य–शास्त्र विषयक मौलिक सिद्धान्तो के प्रतिपादन की क्षमता केशव में नहीं थी। परम्परागत सिद्धान्तों की व्याख्या में भी उनको सफलता नहीं मिली। इतना होते हुए भी केशव का महत्व इस बात में है कि उन्होने संस्कृत के लक्षण ग्रन्थों को आधार पर काव्यशास्त्र के विविध विषयों पर लक्षण ग्रन्थों के आधार पर काव्यशास्त्र के विविध विषयों पर लक्षण उदाहरण पूर्ण ग्रंथ लिखने की परंपरा स्थापित की। काव्य–रसिकों, अध्येताओं, प्रणेताओं (रचना करने वाले) के लिए काव्य–शिक्षा संबधी विपुल सामग्री केशव के लक्षण ग्रंथों में वर्तमान है। संस्कृत की रीति काव्य परम्परा को हिन्दी में अवतरित करने का गौरव केशव को ही प्राप्त है। केशव की 'कवि–प्रिया' और 'रसिक प्रिया' ने परवर्ती अनेक आचार्य कवियों को प्रभावित किया। परवर्ती अनेक आचार्य ने उन्हे पढ़कर रीतिग्रंथ लिखने की प्रेरणा प्राप्त की है। चिंतामणि त्रिपाठी ने अपनी 'शृंगार मंजरी' में अनेक संस्कृत ग्रंथो के साथ केशव की 'रसिक प्रिया' को भी अपनी स्थान का आधार स्वीकार किया है। परवर्ती आचार्य कवियों की परम्परा में केशव की 'कवि प्रिया' और 'रसिक प्रिया' का पठन–पाठन आचार्यत्व कॉं एक अंग समझा जाता है।

रीतिकाव्य परम्परा में केशव का महत्वपूर्ण स्थान होने पर भी हम उन्हे रीतिकाल का प्रवर्तक आचार्य स्वीकार करना उचित नहीं समझते। केशव को रीतिकाव्य का प्रवर्तक न मानने में निम्नलिखित मुख्य कारण हैं–

1. केशव के पश्चात रीतिग्रन्थों की परम्परा अखण्ड रूप से प्रचलित नहीं हो सकी। हिन्दी में रीतिकाव्य की अविरल परम्परा केशव के लगभग पचास वर्ष बाद प्रचलित हुई।

2. केशव विशुद्ध रीतिग्रंथकारी कवि नहीं थे। उन्होंनें 'राम–चंद्रिका' और 'विज्ञान–गीता' जैसी रचनाओं में अपने समय अर्थात भक्तिकाल परम्परा का अनुसरण किया। केशव ने रीतिग्रंथों प्रणयन के नवीन मार्ग को खोलते हुए भी अपने समय की तथा उससे पूर्ववर्ती परम्परा का त्याग नहीं किया। उनकी रचनाओं में भक्तिकाल की भक्ति–भावना और परवर्ती रीतिकाल की शृंगारी मनोवृति का सामंजस्य दृष्टिगत होता है।

3. केशव के समय में रीतिकाव्य का स्वयं सर्वप्रधान नहीं था। केशव का युग तुलसी और सूर के प्रभाव, जोकि सर्वव्यापी था, से आक्रान्त था। उस काल के प्रमुख प्रवृति भक्ति हो रही और उस पर रीति काव्य का कोई उल्लेख प्रभाव नहीं पड़ा। इस काल का रीतिकाव्य गुण और परिमाण में भक्ति का विषय श्रेष्ठतर और प्रचुरतर नहीं है।

4. केशव की रीतिग्रंथ लिखने की प्रवृति को जनरुचि का बल प्राप्त नहीं हो सका। उन्होंने रीतिकाव्य की जो परम्परा चलाई थी, उसे तत्कालीन अन्य कवियों का समर्थन प्राप्त नहीं हुआ।

5. केशव अलंकारवादी कवि थे। उनके अलंकार सिद्धान्तों को परवर्ती रीतिग्रंथकारों–कवियों ने स्वीकार नहीं किया। जिस प्रकार संस्कृत के परवर्ती आचार्यों ने अलंकार–सिद्धान्त को अस्वीकार करके रस या ध्वनि को काव्य में प्रधानता दी है, उसी प्रकार परवर्ती रीतिग्रंथकारों ने केशव द्वारा स्वीकृत अलंकार–सिद्धान्त को छोड़कर रस–सिद्धान्त को अपने लक्षण ग्रंथों में प्रमुख स्थान दिया है।

इस प्रकार हम केशव को हिन्दी में रीतिग्रंथकार आचार्य ही स्वीकार करते है, रीतिग्रंथो तथा रीतिकाव्य का प्रवर्तक नहीं। रीतिकाल का प्रवर्तक तो चिंतामणि को मानना उचित है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि चिन्तामणि में केशव सा प्रभावशली पाण्डित्य एवं अचार्यत्व का आभाव है। पर चिंतामणि त्रिपाठी के बाद रीतिग्रंथों की अविच्छन्न परंपरा के प्रचलित हो जाने से रीतिकाव्य के प्रवर्तक हाने का श्रेय उन्हीं को मिलना चाहिए। चिंतामणि को रीतिकाव्य का प्रवर्तक होना संयोगजन्य है। उनके समय से रीतिग्रथों की धारा अखण्ड रूप से लगभग दो सौ वर्षो तक बहती रही। चिंतामणि तक भक्ति काव्य का स्वर मंद पड़ चुका था और रीतिकाव्य को प्रमुख रूप से अपनाने की प्रवृति बलवती हो चुकी थी। चिन्तामणि को जनरुचि का समर्थन भी प्राप्त हो चुका था। वे एक विशुद्ध रीतिकाव्य–प्रणेता, कवि और आचार्य के रूप हमारे सामने आते हैं। उन्होनें काव्य–शास्त्र के प्रायः सर्वांगों का निरूपण किया है। चिंतामणि के परवर्ती कवियों ने उन्हीं की पद्धती और प्रणाली का अनुसरण किया है। इसलिए चिंतामणि को ही हिन्दी में रीति परम्परा का प्रवर्तक आचार्य मानना युक्ति संगत प्रतीत होता है। और रीतिकाल का प्रारंभ भी उन्हीं के समय से अर्थात सम्वत 1700 से मानना समीचीन है। इस प्रकार आचार्य चिंतामणि से रीति ग्रंथ के निर्माण की आर्कषक परंपरा का श्रीगणेश हुआ है।

24. रीतिकालीन काव्य धाराएँ : (रीतिबद्ध, रीतिसिद्ध, रीतिमुक्त)

रीतिबद्ध :

'रीतिबद्ध' काव्य धारा वह काव्य है जिसमें रीति अर्थात् परम्परागत काव्यशास्त्र को हिंदी में प्रत्यक्षतः रूपांतरित न करके रीति अथवा परम्परागत काव्यशास्त्र का पूर्ण अनुसरण व निर्वाह किया गया है। रीतिबद्ध काव्य लक्षणों और उदाहरणों से युक्त होता है।

रीतिबद्ध उन कवियों तथा आचार्यों को माना गया है जिन्होंने संस्कृत–काव्यशास्त्र में प्रतिपादित काव्यांगों के आधार पर हिंदी भाषा (लोकभाषा अयोध्या ब्रज) में लक्षण ग्रन्थों की रचना की है। ऐसे कवि आचार्यों ने काव्यांगों के लक्षण भी प्रस्तुत किए हैं तथा उनके सुन्दर उदाहरण भी प्रस्तुत किए हैं। ऐसे रीतिबद्ध काव्य की रचना करने वाले कवियों ने अपने आपको कवि तथा शिक्षक माना है। इन्हें शास्त्र कवि अथवा आचार्य कहना अधिक उपयुक्त है। ऐसे रीतिबद्ध आचार्यों ने संस्कृत के अलंकार सम्प्रदाय को विशेष रूप से तथा रीति, ध्वनि तथा वक्रोक्ति का गौण रूप में आधार बनाया है। ऐसे आचार्य–कवियों ने उस समय के सामन्तों, राजाओं, नवाबों, अमीरों, रईसों, कवियों तथा रसिक सामाजिकों के लिए संस्कृत भाषा में पूर्व रचित काव्यांगों को लोकभाषा में प्रयुक्त करने का प्रयास ही किया था परन्तु ऐसे आचार्यों का मुख्य उद्देश्य तो अपने आश्रयदाता को प्रसन्न करना ही था परन्तु ऐसे आचार्यों का साहित्यिक उद्देश्य तो संस्कृत भाषा में रचित साहित्यशास्त्र का हिंदी लोकभाषा में अनुवाद करना था। इसलिए ऐसे रीतिबद्ध आचार्य कवियों ने किसी नए काव्य सिद्धान्त की स्थापना नही की। इसी कारण इन रीतिबद्ध आचार्यों के लक्षण ग्रन्थों में मौलिकता अथवा गंहनता नहीं आ पाई। वे तो एक पूर्व प्रतिष्ठापित बंधी–बँधाई परिवाटी का अनुसरण करते रहे। इन्हें संस्कृत साहित्यशास्त्र से तत्कालीन युग की प्रवृत्ति के अनुसार सरल, रोचक तथा श्रृंगारपरक सामग्री को ही ग्रहण किया। ऐसे रीतिबद्ध आचार्य अलंकारों तथा नायक–नायिका भेद आदि के निरूपण में ही उलझे रहे, उन्होंने भारतीय शास्त्र के गंभीर प्रश्नों को नहीं पूछा। रीतिबद्ध आचार्य–कवियों ने दोहरी भूमिका निभाई। वे लक्षण ग्रन्थ भी रचते रहे तथा अलंकार प्रधान कविता भी करते रहे। इन्होंने अधिकांश साहित्य पद्य में ही रचा। इस वर्ग में भी दो प्रकार के साहित्यकार सामने आते हैं। एक तो ऐसे आचार्य कवि हैं जिन्होंने लक्षण ग्रन्थ भी लिखे और साथ–साथ लक्ष्य ग्रन्थ भी रचे। इस कोटि में केशवदास, चिन्तामणि, मतिराम, देव तथा पद्माकर आदि नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। दूसरे वर्ग रीतिबद्ध आचार्यों में उन काव्यशास्त्रियों का है जिन्होंने केवल लक्षण ग्रन्थ ही लिखे परन्तु कवितामय लक्ष्य ग्रंथ नहीं लिखे। ऐसे आचार्यों मे श्रीपति का नाम विशेषतः उल्लेखनीय है।

इस प्रकार संक्षेप - कहा जा सकता है कि रीतिबद्ध काव्य वह है जिसमें रीति का साक्षात् निरूपण न होकर उसका निर्वाह व अनुसरण मात्र होता है। सही अर्थ में रीतिबद्ध काव्य के सर्जक कवि होते हैं, आचार्य नहीं।

रीतिसिद्ध

रीतिसिद्ध काव्य से अभिप्राय उस दरबारी काव्य से है जिसके अन्तर्गत कवियों ने परम्परागत काव्यशास्त्र का निर्वाह करने के साथ ही उसमें सिद्धता भी प्राप्त की थी। अवलोकनीय बात यह रही कि इन कवियों का आचार्यत्व इनके कवि–कर्म में बाधक नहीं बना। यही कारण है कि अधिकतर कवियों में रीतिग्रंथ रचने की प्रवृत्ति विद्यमान रही थी। भूषण जैसे वीर कवि की रीति का मोह नहीं त्याग सके और शिवराज भूषण नामक ग्रन्थ रच डाला। ऐसी स्थिति में संस्कृत काव्यशास्त्र को हिंदी में प्रस्तुत करके नये कवियों का मार्गदर्शन करने की बात विद्वान कवियों के समक्ष आयी–

"सुरबानी थातैं करी, नर बानी में ल्याय।जाते सगु रसरीति को, सबतै समुझौ जाय।।"

हिंदी में काव्यशास्त्र लिखकर दरबारी सम्मान प्राप्त करने की आकांक्षा तीव्र हो गयी, अतः प्रत्येक विद्वान् चाहे उसके पास कवि–हृदय था या नहीं, पद्यमय काव्य–लक्षण–ग्रंथ की रचना में जुट गया। इस प्रकार का संकेत भिखारी दास की पंक्तियों में मिलता है–

"आगे के कवि रीझिहैं तो कविताई, न तो राधिका-कन्हाई सुमिरन को बहानौं है।"

रीतिबद्ध कवियों को काव्य कवि की संज्ञा दी जा सकती है। ऐसे साहित्यकारों अथवा कवियों ने अलंकारों थि नायक–नायिका भद आदि के लक्षण प्रस्तुत नहीं किये, पर अपने सरस एवं शृंगारपरक मुक्तक काव्य में ऐसे उदाहरणों की रचना की जिनसे एक ओर तो उनके चमत्कार की धाक जमे तथा दूसरे उनकी कविता को शृंगार रस की निष्पत्ति के लिए पोषण भी मिले। ऐसे कवियों में आचार्यत्व की पदवी प्राप्त करने की लालसा चाहे रही हो, पर वे लक्षण ग्रंथ नहीं लिख पाये। अतः ऐसे कवियों को केवल काव्य–कवि या रस–सिद्ध कवि कहा जा सकता है। ऐसे रससिद्ध कवियों में 'बिहारी' विशेष महत्त्वपूर्ण हैं, क्योंकि बिहारी ने अपने दोहों के माध्यम से शृंगार रस का ऐसा सुन्दर प्रतिपादन किया है कि नायक–नायिकाओं के लक्षण प्रस्तुत न करके भी दोहे के माध्यम से स्पष्ट संकेत मिल जाते हैं कि अमुक दोहे में वर्णित य चित्रित कौन–सी नायिका है।

रीतिसिद्ध कवियों ने काव्य के दोनों पक्षों अर्थात् कला पक्ष एवं भाव पक्ष पर एक समान बल दिया। भावाभिव्यक्ति हेतु इन्होंने आलंकारिक शैली को अपनाया, पर इनका मुख्य लक्ष्य तो रसानुभूति कराना था। रीतिसिद्ध कवियों को संस्कृत साहित्य का तथा संस्कृत साहित्यशास्त्र का सम्यक् ज्ञान था परन्तु उन्होंने संस्कृत जैसे लक्षण ग्रन्थ रचने का मोह नहीं रखा। उन्होंने अलंकारादि काव्यांगों के लक्षण देकर उदाहरण नहीं लिखे। उन्होंने तो उस प्रकार के साहित्य की रचना की जिसके द्वारा प्रकारान्तर से तो कोई काव्यशास्त्रीय सिद्धान्त पुष्ट होता हो पर उसमें किसी सिद्धान्त विशेष का आग्रह नहीं हो। यद्यपि डा० नगेन्द्र आदि की कोटि में रखा गया है, परन्तु बिहारी आचार्य कवि नहीं हैं।

इस प्रकार सारांश में कहा जा सकता है कि रीतिकाल में उस काव्यधारा को रीतिसिद्ध काव्यधारा का नाम दिया गया है जिसमें रीतिकाव्य की बँधी–बँधाई परिपाटी में विश्वास रखते हुए भी उन कवियों ने लक्षण ग्रंथ नहीं लिखे, बल्कि कविता का मुख्य उद्देश्य रस–प्राप्ति समझते हुए केवल ऐसे उदाहरण प्रस्तुत किये जिनसे काव्यांगों को समझा जा सकता है। 'रीतिसिद्ध' काव्य से अभिप्राय उस दरबारी काव्य से है जिसके अन्तर्गत कवियों ने परम्परागत काव्य शास्त्र का निर्वाह करने के साथ ही उसमें सिद्धता भी प्राप्त की थी।

रीतिमुक्त

रीतिकाल में जो तीसरी काव्यधारा बही उस पर विद्वानों का मतभेद नहीं है। वह तो 'रीतिमुक्त काव्यधारा' है। रीतिकाल मे जिन कवियों ने अपनी रचनाओं द्वारा स्वच्छन्तापूर्वक 'प्रेम की कसक' या 'प्रेम की पीर' को जनता तक पहुँचाने का प्रयास किया ऐसे कवियों को रीतिमुक्त काव्यधारा में माना गया है। इन्होंने लक्ष्य तथा लक्षण ग्रंथ नहीं लिखे, केवल मुक्तक काव्य की शैली में शृंगार, नीति, वीर तथा तथा भक्ति की मुक्तक रचनाएँ रचीं। ऐसे कवियों में घनानन्द, बोधा, आलम, भूषण, ठाकुर, लाल, सूदन, बृन्द तथा गिरधर आदि के नाम लिये जा सकते हैं।

रीतिवादी काव्य को स्वछन्द काव्य–धारा भी कहते हैं। अभिव्यक्ति के क्षेत्र में स्वच्छन्छतावादी काव्य व्यंजनाप्रधान होता है। उसमें सांकेतिकता अधिक होती है। इसलिए थोड़ी बहुत मात्रा में रहस्यवाद की प्रवृत्ति भी उसमें आ जाती है। इस काव्य में रूप–सज्जा की प्रधानता नहीं होती, व्यक्तिगत अनुभूतियों की यथार्थ अभिव्यक्ति पर दृष्टि रहती है। विक्टर ह्यूगो ने स्वच्छन्तावादी काव्य को रूढ़ियों से मुक्त बताया है, डंटन उसने चमत्कार और अनुभूति की प्रधानता मानते हैं तथा डा० हेज ने प्रेरणा (जीवन स) को इसके प्राण कहा है। डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने इस संदर्भ में कल्पना और भावावेग पर बल दिया है–'रोमांटिक साहित्य की उत्सभूमि वह मानसिक गठन है जिसमें कल्पना के आंतरिक प्रवाह और निविड आवेग में दो निरन्तर घनीभूत मानसिक वृत्तियाँ ही इस व्यक्तित

प्रधान साहित्य रूप की प्रधान जनती है।" आचार्य रामचन्द्र शुक्ल प्रकृति के मुक्त रूप और जीवन में सहज प्रवाह को स्वच्छन्दतावादी साहित्य का प्रमुख विषय समझते हैं। उनके अनुसार शिष्ट साहित्य के साथ–साथ लोक साहित्य की धारा बहती रहती है, जिसमें जीवन की सहज और निश्छल अभिव्यक्ति होती है। जब शिष्ट साहित्य पंडितों और आचार्यों की रूढ़ियों में आबद्ध हो जाता है, तो भाव की सजीवता और स्फूर्ति जीवनगत दूसरी प्राकृतिक भाव धारा से ही प्राप्त हो सकती है। इस प्रकार से परिवर्तन को सच्ची नैसर्गिक स्वच्छन्दता कहना चाहिए।

25. रीतिकालीन काव्य की विशेषताएँ

रीतिकालीन हिंदी साहित्य की रचना, जिन सामन्तीय परिस्थितियों में हुई, उस साहित्य को साधारण लोगों के जीवन से तो सम्बद्ध नहीं किया जा सकता, क्योंकि वह साहित्य तो मूलतः दरबारी या शाही साहित्य था। आश्रित कवियों तथा आचार्यों ने जिस साहित्य की सृष्टि की, उसमें तत्कालीन राजाओं या सामन्तों की शृंगार वासना को तृप्त करने के लिए सुरा, सुन्दरी, सुराही आदि के वर्णन के अतिरिक्त कविता रूपी कामिनी के अलंकरण एवं नख–शिख वर्णन पर ही जोर दिया गया। इस प्रकार रीतिकालीन साहित्यकारों की समस्त शक्ति एवं श्रम नारी–शरीर के रूप में ही लगी। ऐसे रीतिकालीन साहित्य में कृत्रिमता, अलंकरण एवं शृंगारिकता की प्रधानता है। सारे रीतिकालीन हिंदी साहित्य में बहुत थोड़ा साहित्य ऐसा है जिसे उपयोगी तथा शक्ति का साहित्य कहा जा सकता है। वीररस–युक्त तथा नीति परक भी कुछ साहित्य रचा गया। समस्त रीतिकालीन काव्यधाराओं की विशेषताएँ इस प्रकार रही है।

1. **शृंगारपरक भावों की प्रधानता** : समस्त रीति साहित्य में रतिभाव, कामभाव तथा वासना एवं भोगवादी दृष्टिकोण ही प्रधान है। जिस प्रेम की पीर तथा अलौकिक प्रेम की भावना भक्तिकाल में देखी गई उसके विपरीत रीतिकाल में लौकिक प्रेम एवं शृंगार भाव की ही प्रचुरता रीति साहित्य में व्याप्त है। भक्ति के माधुर्य भाव ने तो जैसे नग्न शृंगारिकता की प्रवृत्ति को खुली छूट ही दे दी थी। जीवन की सामान्य घटनाओं को भी नायक–नायिका के माध्यम से बड़े ही रसीले और शृंगारपरक ढंग से प्रस्तुत किया जाता था। एक दोहा इस तथ्य के परिणाम के लिए पर्याप्त होगा जिसमें वर्षा ऋतु में फिसल जाने वाली घटना को भी शृंगार एवं कामुक–भाव में प्रस्तुत किया गया है। एक सखी दूसरी सखियों से कह रही है।

   "हम सखी दाऊ ऐसे फिसले। वो भये ऊपर, मैं भई नीचे।।"

   अर्थात् नायक के साथ फिसलते हुए भी काम–वासना की अभिव्यक्ति की गई है। रीतिकाल में मुक्तक लिखने वाले कवियों ने उसी शृंगार भावना की अभिव्यक्ति अपनी रचनाओं में की जिसे उर्दू–फारसी के शायर, शीशे, मद (शराब) तथा पैमाने (चषक या प्याला) में ढालते रहे। एक रीतिकालीन कवि ने लिखा है–

   "सेज है सुराही है, सुरा और प्याला है, सुबाला है, दुशाला है, विशाला चित्रशाला है।"

   ऐसे भाव वाली रचनाओं को ही देखकर उस समय की शृंगार–प्रधान विलासी भावना का पता चलता है। शृंगार रस के संयोग पक्ष का चित्रण अधिक हुआ है। वैसे वियोग का भी कुछ चित्रण हुआ है। इस सन्दर्भ में डा० नगेन्द्र लिखते हैं, "सोचा चाहे जैसा भी रहा हो इसमें ढली शृंगारिकता ही।"

2. **अलंकरण की प्रवृत्ति** : रीतिकालीन साहित्यकारों ने काव्य के क्षेत्र में आलंकारिता, प्रदर्शन तथा चमत्कारपूर्ण उक्तियों को अपने काव्य का प्रतिपाद्य बनाया। उन्होंने अलंकारों को कविता रूपी कामिनी के लिए अनिवार्य घोषित किया। इसीलिए केशव ने तो यहाँ तक लिख दिया है–

   "जदपि सुजाति सुलच्छिनी, सुबरन सरस सुवृत्त। भूषन बिनु न विराजई कविता बनिता मित्त।।"

   अर्थात् कविता तथा वनिता चाहे कितनी ही उच्च जाति की क्यों न हो, अच्छे लक्षणों वाली सुवर्ण, रसीली तथा पुष्ट क्यों न हों परन्तु जब तक वे भूषण (अलंकार) धारण नहीं करती तब तक शोभा नहीं पा सकती।
   इसी कारण रीतिकाल के अधिकांश साहित्यकारों ने अलंकारों के सहारे ही अपनी रचनाएँ रचीं। अलंकार शास्त्र ही उस समय का साहित्यशास्त्र माना जाता था।

3. **भक्ति एवं लोक-जीवन का चित्रण** : रीतिकालीन रचनाकारों का मुख्य प्रतिपाद्य तो शृंगार रस ही रहा परन्तु उनकी रचनाओं में माधुर्य, भक्ति तथा लोक जीवन की नीति संबंधी भी कुछ रचनाएँ मिलती हैं। लेकिन उनकी संख्या है बहुत कम। राधा और कृष्ण का माध्यम बनाकर कुछ शृंगारपरक भक्ति काव्य भी रचा गया। उन्हें तो राधाकृष्ण को प्रसन्न करने के लिए शृंगारपरक मधुराभाव की भक्ति ही अधिक उपयुक्त प्रतीत हुई। लोकाचार संबंधी जो मुक्तक अर्थात् नीतिपरक दोहे या कवित्त लिखे गए हैं उनमें भी शृंगारी भाव छिपा है।

4. **मुक्तक काव्य शैली का प्रयोग** काव्यरूपों तथा काव्यशैलियों की दृष्टि से सोचा जाए तो रीतिकालीन रचनाकारों ने प्रबंध काव्य की अपेक्षा मुक्तक काव्यशैली को प्रमुखता प्रदान की। तत्कालीन आश्रयदाताओं को तुरत प्रसन्न करने के लिए मुक्तक काव्यशैली की प्रवृत्ति का खूब प्रसार हुआ क्योंकि मुक्तक काव्य चुने हुए फूलों का गुलदस्ता होता है जिससे दरबार को असानी से मोहित एवं प्रसन्न किया जा सकता है।

5. **वीररस की ओजस्वी प्रवृत्ति** : रीतिकाल में ही भूषण कवि हुए हैं जिन्होंने अपनी रचनाओं में वीर रस का ऐसा सुन्दर एवं सरस चित्रण किया है कि उनका नाम अद्वितिय है। रीतिकाल में रचे गये साहित्य में वीर रस का अजस्र प्रवाह प्रतीत होने लगता है। इनसे संबंधित रचनाएँ मध्यप्रदेश, पंजाब, राजस्थान, हरियाणा आदि प्रदेशों के संग्रहालयों में सुरक्षित है।

6. **नारी विषयक दृष्टिकोण** : रीतिकालीन साहित्य में नारी के प्रति यह दृष्टिकोण रहा है कि उसे केवल भोग्या एवं भोग–विलास का साधन ही माना जाए। राज्याश्रित कवि भी अपनी कविता का केन्द्र नारी का नाख–शिख वर्णन मानते रहे। वे नारी के अंगों विशेषतः कच और कुचों में ही उलझे रहे। सौंदर्य का नग्न चित्रण ही उन्हें प्रिय रहा। नारी के बाह्य रूप–रंग को ही महत्त्व दिया जाता रहा। नारी जीवन के प्रति रीति कवियों का ऐसा संकुचित एवं एकांगी दृष्टिकोण निश्चित रूप से मुगल शासक की विलासी प्रवृत्ति का परिणाम कहना चाहिए।

7. **रीतिकाव्य में प्रकृति चित्रण** : रीतिकालीन काव्य में रचनाकारों ने अपनी रचनाओं में प्रकृति का चित्रण विशेष रूप से आलम्बन रूप में की किया है। संयोग–शृंगार में सुखद तथा वियोग शृंगार में दुःखद प्रकृति का चित्रण हुआ है। षड्ऋतु वर्णन तथा बारहमासा चित्रण भी किया गया है। वियोग की अवस्था में प्रकृति के सुखद उपादान भी दुःखद हो जाते हैं। ऐसे चित्रण बड़े ऊहात्मक भी हो गये हैं, क्योंकि चन्द्रमा की चांदनी वियोगिनी नायिका के लिए कसाई का काम करती हुई दिखाई गई है।

8. **कामशास्त्रीय चित्रण मनोवैज्ञानिक आधार पर** : रीतिकालीन साहित्य में स्त्री–पुरुष के यौन–सम्बन्धों को वात्स्यायन के कामसूत्र तथा कोका के कोकशास्त्रीय आधार पर चित्रित करते हुए जिस मनोवैज्ञानिक आधार की बात कही जाती है। उसे ही आधुनिक युग में फ्रायडवादी दृष्टिकोण कह दिया है। परन्तु रीतिकालीन रचनाकार तो संस्कृत की कामशास्त्रीय परम्परा से प्रेरित थे। रीतिकालीन साहित्य में कामुकता तथा ऐन्द्रियता की बहुत अधिकता है। नायक–नायिका भेद भी कामुक दृष्टिकोण से ही किए गए हैं। पद्मिनी, हंसिनी, हस्तिनी तथा चित्रवणी आदि नायिकाएँ उनकी मानसिक तथा कामुक प्रवृत्ति के आधार पर ही चित्रित की गई है।

9. **स्वतंत्र चिन्तन का अभाव** : रीतिकालीन रचनाकारों ने अपनी आजीविका के लिए जो साहित्य रचा उसमें मौलिकता तथा स्वतंत्र चिन्तन की अत्यन्त कमी दिखती है। उन्हें तो अपने आश्रयदाताओं की रुचि के अनुसार नायक–नायिका भेद अथवा काम–क्रीड़ाओं का ही अधिक चित्रण करना था। संस्कृत साहित्य से विषय–वस्तु लेकर उसे लोकभाषा में रूपान्तरित करके ही उन्हें सन्तुष्ट होना पड़ता था।

10. **यथार्थ जीवन के प्रति विचार** : रीतिकालीन हिंदी साहित्य में सबसे महत्वपूर्ण प्रवृत्ति यही है कि उसमें यथार्थ जीवन के प्रति गहरी अभिरुचि दिखाई गई है। रीतिकालीन कवियों एवं आचार्यों का जीवनदर्शन ही ऐसा था जिसमें जीवन तथा यौवन का पूर्ण उपयोग करना था। डा० भागीरथ मिश्र ने रीतिकालीन रचनाकारों को यौवन तथा बसन्त के कवि कहा है। उस मस्ती से भरा मदमाता जीवन दर्शन कह सकते हैं। जहां जीवन का ऐसा विश्राम–स्थल समझा गया कि सब प्रकार की दौड़–धूप से शान्त होकर नारी के आंचल की मधुर छाया में, मदिरा के चषकों में उंडेल दिया हो। दुःखों एवं पराभावों को भूल कर जीवन को जीने की ही नहीं अपितु भोगने और पेश करने की प्रवृत्ति से जो आशावादी दृष्टिकोण विकसित हुआ उससे तत्कालीन समाज को यदि कुछ न मिला हो पर आश्रयदाताओं तथा आश्रित कवियों में तो कम से कम जीवित रहने की प्रबल इच्छा पनपी।

11. **रीतिकालीन संदर्भ काव्यभाषा** : प्रत्येक युग के साहित्यकार अपने परिवेश तथा मानसिक दबाव के कारण अपने साहित्य में कुछ विशिष्ट शब्दों मुहावरों, विशेषणों तथा लोकोक्तियों को अपनी अभिव्यंजना पद्धति में सम्मिलित करते हैं। रीतिकालीन कवियों ने भी ऐसा ही किया, 'राध' और 'कृष्ण' शब्दों का प्रयोग साधारण नायक–नायिका के रूप में होने लगा। रीतिकालीन हिंदी काव्य में फारसी के प्रभाव के कारण ऐसी अभिव्यंजना शैली का विकास हुआ तो कृत्रिम तथा ऊहात्मक थी।

12. **रागात्मक प्रवृत्ति** : भक्तिकाल में प्रकृति और निवृत्ति दोनों ही जीवन मार्गों पर चलने वाले साहित्य की रचना हुई परन्तु रीतिकाल में तो रागात्मक वृत्ति अथवा प्रवृत्ति मार्ग को ही अपनाया गया है। स्वीकीया तथा परकीया दोनों प्रकार की नायिकाओं के माध्यम से जिस लौकिक प्रेम अथवा रागात्मक वृत्ति की कविता रची गई है, उनमें वैराग्य भाव या निवृत्ति मार्ग तो नगण्य ही है।

13. **ब्रजभाषा की प्रधानता** : रीतिकालीन हिंदी साहित्य की अधिकांश काव्य भाषा तो ब्रज ही है पर कुछ नीतिसाहित्य पंजाबी, कन्नौज, हरियाणवी तथा अवधी भाषा में भी रचा गया है। भाषा की दृष्टि से रीतिकालीन हिंदी साहित्य में माधुर्य गुण की कोमलता अत्यन्त आकर्षक है। लोक ब्रज को साहित्य के उच्च स्तर तक ही नहीं बल्कि उच्च शिखर पर पहुँचाने का कार्य हिन्दी के रीतिकालीन रचनाकारों ने किया।

14. **स्पर्धा की प्रवृत्ति** : रीतिकालीन साहित्यकारों में प्रतिस्पर्धा एवं प्रतियोगिता की भावना भी मिलती है। इसी कारण प्रत्येक रचनाकार अपनी रचना की उत्कृष्टता की स्थापना के लिए अधिक से अधिक चमत्कारपूर्ण शृंगार साहित्य की रचना करता रहा। रीति कवियों में आचार्यत्व को प्राप्त करने की भी स्पर्धा रही। ऐसी स्पर्धा में गंभीरता संबंधी विचारों का अभाव था।

15. **साहित्य की अनेकानेक प्रवृत्ति** : रीतिकाल को भारतीय संस्कृति और साहित्य का पुनरुत्थान काल कहा गया है। इस युग में ज्ञान का क्षेत्र अनेक दिशाओं में विस्तृत हुआ। रीतिकालीन आचार्य एवं कवि को अनेक विषयों का विद्वान होना आवश्यक था। उसे ज्योतिष, हस्त, सामुद्रिक, कामशास्त्र, अंक विधा, संगीतशास्त्र, चित्रकला आदि का पूर्ण ज्ञाता होना चाहिए था। इस दृष्टि से तो रीतिकालीन हिंदी साहित्य मे अनेक कलाओं को पुनः स्थापित किया गया है।

26. रीतिकालीन गद्य साहित्य

आधुनिक काल में जो गद्य पूर्ण वैभव के साथ प्रारंभ हुआ उससे पहले रीतिकाल में गद्य को दृढ़ भित्ति पर खड़े होने का समय मिल गया था। इस समय में अनेक मौलिक रचनाएँ गद्य में हुई। बहुत सी रचनाएँ अनुवाद करने के रूप में प्रकाश में आई। संस्कृत के पुराने ग्रंथों का हिंदी में अनुवाद करके सबको सुलभ कराने के प्रयास ने अनूदित गद्य का बड़ा विस्तृत रूप प्रस्तुत किया। रामायण महाभारत, पुराण, हितोपदेश आदि के अनुवाद गद्य में हुए। उनमें रामप्रसाद निरंजनी का 'भाषा योग वशिष्ठ' बड़ी प्रसिद्ध रचना है। एक और प्रवृत्ति जो टीका–व्याख्या की चली उसने भी गद्य को बहुत आगे बढ़ाया। रीतिकाल के आचार्य–कवियों ने अनेक संस्कृत काव्यशास्त्र के ग्रंथों की टीकाएँ की। चिन्तामणि, भिखारीदास, सोमनाथ इस दृष्टि से जाने–माने आचार्य हैं। उन्होंने कवि कुल कल्पतरू, काव्यनिर्णय, रस पीयूषनिधि नामक ग्रंथों में काव्यशास्त्र की टीका परक गद्य प्रस्तुत किया। इसके साथ ही हिन्दी कविता के अनेक ग्रंथ, जैसे–विनयपत्रिका, रामचन्द्रिका, कविप्रिया, रसिकप्रिया (बिहारी) सतसई आदि पर टीका–परक गद्य निर्मित हुआ और भी बहुत से ऐसे ग्रंथ लिखे गये जो कविता में थे पर उनको गद्य में सरलीकृत करके या उनकी टीका करके प्रस्तुत किया गया। हिंदी गद्य का यह पूरी तरह से विकासमान परिवेश बन गया। उसके अनेक रूप देखने में आते हैं।

भक्तिकाल और रीतिकाल में ब्रजभाषा का वर्चस्व रहा है। अपनी सरलता, कोमलता एवं काव्योचित विशेषताओं के कारण कवियों ने कविता के लिए ब्रज भाषा को बहुत अधिक अपनाया था। रीतिकाल से पूर्व भी और रीतिकाल में आकर तो ब्रजभाषा में गद्य–लेखन की प्रवृत्ति वेग से देखने में आती है। काव्य के ग्रन्थों का रीतिकाल में चलन बढ़ा तो उसकी टीकाएँ भी सामने आईं और वे प्रायः ब्रजभाषा में ही लिखी गई। विद्वानों ने ब्रज भाषा गद्य के अनेक रूप गिनाये हैं, जैसे वार्ता, जीवनी, पत्र, संवाद, वचनिका, टीका, ललित गद्य आदि। ब्रजभाषा गद्य में वर्णित विषय धर्म, दर्शन, इतिहास, ज्योतिष, चित्रकारी, काव्यशास्त्र आदि हैं। ब्रज भाषा गद्य गें वार्ता–साहित्य बहुत महत्वपूर्ण है। उसमें अधिकतर वे रचनाएँ हैं जो धार्मिक हैं या किसी धर्म–सम्प्रदाय के तत्वों को निरूपित करती हैं। 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता', 'दो सौ बावन वैष्णव की वार्ता' इसी प्रकार की हैं। इनमें क्रमशः बल्लाभचार्य के शिष्यों और उनके पुत्र विट्ठलनाथ के शिष्यों के जीवन चरित्र हैं। बहुत सी वार्ताओं और वचनामृतों को संकलित और संपादित करने का श्रेय स्वामी हरिदास को है। उन्होंने स्वयं भी बहुत सी वार्ताएं लिखी हैं। उनके वचनामृत ऐसे हैं जिनमें उस समय के इतिहास की भी झांकी मिल जाती है। कुछ वचनामृतों के नाम ये हैं–चौरासी बैठक चरित्र, वन यात्रा गिरिधर दास की बैठकन के चरित्र, नित्य सेवा प्रकार आदि।

अन्य विषयों की गद्य रचनाएँ भी ध्यान देने योग्य हैं – वैधक ग्रन्थ जैसे अश्वचिकित्सा, ग्रंथ जैसे वेदान्त निर्णय, गरुड़ पुराण व पद्मपुराण अनुवाद, चाणक्य नीति अनुवाद, हितोपदेश अनुवाद, मानस की टीका, बिहारी की सतसई का टीका, रसिक प्रिया टीका, हित चौरासी का गद्य पद्यमय टीका आदि अनेक ग्रंथ ब्रजभाषा के हैं।

खड़ी बोली में गद्य साहित्य

रीतिकाल में खड़ी बोली का स्वतंत्र रूप में गद्य–प्रयोग नहीं मिलता। जिस प्रकार आदिकालीन गद्य में कहीं–कहीं और भक्तिकालीन गद्य में कुछ अधिक प्रयोग खड़ी बोली के मिलते हैं उसी प्रकार रीतिकाल में भी मिलते हैं। इस काल में कुछ अधिक विस्तार हुआ है। खड़ी बोली का गद्य दूसरी भाषाओं के गद्य के साथ मिला हुआ दिखलाई देता है। अधिकतर ब्रजभाषा गद्य में खड़ी बोली का गद्य मिला हुआ है। पूर्वी हिन्दी, राजस्थानी और पंजाबी में भी खड़ी बोली गद्य का मिश्रित रूप देखने में आता है। यह गद्य अधिकतर साहित्येत्तर विषयों से संबंध रखने वाला अधिक है। उसमें अध्यात्म दर्शन वैघक ज्योति इतिहास, भूगोल आदि विषय मिलते हैं। ब्रज, पंजाबी, उर्दू आदि के साथ मिश्रित रूप में लिखी गई खड़ी बोली गद्य की कुछ रचनाएँ महत्वपूर्ण हैं–फर्सनाम, सुरासुर निर्णय, मोक्षमार्गप्रकाश, चिद्विलास रीतिकाल में खड़ी बोली गद्य का एक रूप टीका और अनुवादों में प्रयुक्त खड़ी बोली है। इनमें से कुछ रचनाएँ पंजाबी, फारसी मिश्रित ध्यान देने योग्य हैं–भाषा योग वशिष्ठ, भाषा पद् पुराण, आदिपुराण वचनिका, सूर्य सिद्धान्त आदि।

ब्रज भाषा मिश्रित खड़ी बोली वाली टीकाओं में प्रमुख रूप से निम्नलित्रित टीकाएँ ध्यान देने योग्य हैं :–

प्रवचनसार टीका	–	पंडित हेमराज
भाषामृत गीता टीका	–	भगवानदास
जपु टीका	–	आनन्द धन
बिहारी सतसई	–	इसवी खां
रानी केतकी की कहानी	–	इंशा अल्लाह खां

उपर्युक्त गद्य रचनाएँ खड़ी बोली के मिश्रण का उदाहरण है। धीरे–धीरे खड़ी बोली अन्य भाषाओं के साथ मिलकर अपना स्थान बना रही थी। इनमें से कुछ रचनाएँ उर्दू फारसी के अधिक मिश्रण की हैं, कुछ ब्रज की हैं। कहीं तत्सम शब्दावली की प्रधानता है कहीं विदेशी शब्दों की।

दक्खिनी गद्य-साहित्य

रीतिकाल में दक्खिनी गद्य भक्तिकाल की तरह उर्दू फारसी मिश्रित रूप में मिलता है। सूफी संतों, साधुओं और धर्म सम्प्रदाय के अनुयायी व्यक्तियों के अनुवाद किये गये ग्रंथ इसमें अधिक हैं। साहित्येत्तर रचनाएं वैघक, इतिहास आदि की तथा पत्र हुकमनामे भी इसी गद्य में लिखे गये मिलते हैं। इस समय की कुछ दक्खिनी गद्य रचनाएँ निम्नलिखित हैं :– रिसाले बजूदिया (शाहबुरहाहीन कादरी), मंजमखफी (मुहम्मद शरीफ) रिसाले तसव्वुफ (अब्दुल हमीद)। इस गद्य में बहुत सी रचनाएँ ऐसी भी मिलती हैं जिनके लेखकों के नाम ज्ञात नहीं हैं। इतिहास संबंधी ग्रंथ भी हैं और वैघक भी हैं। ये सब रचनाएं उर्दू शैली की हैं और हिंदी की एक शैली के रूप में उर्दू की यह शैली हिंदी के अधिक निकट है।

राजस्थानी गद्य साहित्य

राजस्थानी गद्य साहित्य का विकास रीतिकाल में पर्याप्त मात्रा में हुआ। इस गद्य में वचनिका, दवावैत, पत्र, वंशावली, पदावली अनेक तरह का गद्य मिलता है। कहीं तुकमय गद्य मिलता है उसमें धर्म, दर्शन, अध्यात्म, इतिहास, ज्योतिष, वैघक, तंत्रमंत्र आदि विषयों को निरूपित किया गया है इस गद्य में बात जैसी विधा प्रसिद्ध है। बात में गद्य पद्य मिश्रित रचना होती है। ये 'वात' कई प्रकार की होती हैं। ये इतिहास सम्मत भी होती है और काल्पनिक भी। कुछ प्रसिद्ध 'वात' इस प्रकार हैं–'राव राम सिंह से वात, सिद्धराज जयसिंह री वात, रावरिणमल री वात, सयणी चारिणी री वात, गोरा बादल री वात। वचनिका के रूप में जो राजस्थानी गद्य मिलता है उसमें भी अनेक रचनाएँ हैं।

राजस्थानी ललित गद्य की रचनाएं भी रीतिकाल में मिलती हैं, जैसे–दलपति विलास, बीतानेर री ख्यात, बांकीदास री ख्यात, सीसोदिया री वंसावली। पट्टे परवाने जन्म पत्रियाँ भी इसमें हैं।

भोजपुरी और अवधी में गद्य साहित्य

रीतिकालीन गद्य साहित्य के कुछ नमूने भोजपुरी भाषा में की मिलते हैं। फणीन्द्र मिश्र का 'पंचायत का न्यायपत्र' अवधीमिश्रित भोजपुरी का उदाहरण माना गया है। और भी कागज पत्र इस तरह की मिश्रित गद्य के विद्वानों ने खोज निकाले हैं। अवधी भाषा का गद्य प्रायः ब्रजभाषा के गद्य के मिश्रण के साथ मिलता है। उनमें से कुछ प्रमुख गद्य रचनाएँ इस प्रकार हैं –

मानसटीका	–	रामचरणदास
रसविनोद	–	भानु मिश्र
व्यवहारवाद	–	प्रियादास
कबीर बीजक	–	महाराज विश्वनाथसिंह

हिंदी साहित्य गद्य की उपभाषाओं में निहित का कारण यह है कि जिस समय ब्रज भाषा में काव्य रचना का बोलबाला था। अवधी भोजपुरी की कविता अपने क्षेत्र में चल रही थी। धीरे–धीरे कविता की भाषा से जैसे ब्रज भाषा में गद्य को देखा गया, उसी तरह भोजपुरी और अवधी में भी पद्य से गद्य में भाव व्यक्त करने का चलन बना। आधुनिक काल में जो विकास हुआ, विभिन्न भाषाओं के गद्य–प्रयोग उस विकास के पूर्व सूचक हैं।

रीतिकाल में अनेक गद्य–विधाओं में साहित्य सर्जना हुई है अर्थात् कहानी, वार्ता, चरित्र, प्रवचन, नाटक, टीका, भाव आदि अनेक रूपों में रीतिकालीन गद्य–साहित्य प्राप्त होता है। गद्य के इन विविध रूपों में धर्म, दर्शन, इतिहास, भूगोल, काव्यशास्त्र, व्याकरण आदि विषयों का वर्णन मिलता है।

रीतिकालीन गद्य साहित्य अपने पूर्ववर्ती गद्य साहित्य से पर्याप्त समृद्ध है। कवित्व के प्रति आसक्ति, दरबारी संस्कृति का दबाव, रसिकता आदि के कारण रीतिकालीन गद्य का समग्र विकास नहीं हो पाया, लेकिन रीतिकालीन गद्य ने आधुनिक गद्य की अनेक विधाओं में लेखन की ओर अग्रसर जरूर कर दिया।

27. रीतिकालीन प्रतिनिधि रचनाकार

27.1 बिहारी

जन्म : इनका जन्म ग्वालियर के पास बसुवा गोविंद पुर गाँव में संवत् 1660 के लगभग माना जाता है। एक दोहे के मुताबिक इनकी बाल्यावस्था बुंदेलखण्ड में बीती और तरुणावस्था में ये अपनी ससुराल मथुरा में आकर रहने लगे थे।

साहित्यिक देन :– शृंगार रस के ग्रंथों में जितनी ख्याति और मान–सम्मान 'बिहारी सतसई' का हुआ उतना किसी और रचना का नहीं। इसका एक–एक दोहा हिंदी–साहित्य में एक–एक रत्न माना जाता है। इसकी पचासी रचनाएं टीकाएं रची गई। बिहारी ने 'सतसई' के अतिरिक्त और कोई ग्रंथ नहीं लिखा। यही ग्रंथ उनकी इतनी बड़ी कीर्ति का आधार रहा है। यह बात साहित्य–क्षेत्र के इस तथ्य की स्पष्ट घोषणा कर रही है कि किसी कवि का यश उसकी रचनाओं के परिणाम के हिसाब से नहीं होता, गुण के हिसाब से होता है। मुक्तक कविता में जो गुण होना चाहिए वह बिहारी के दोहों में अपने चरम उत्कर्ष पर पहुंचा है, उसमें किसी प्रकार का कोई सन्देह नहीं किया जा सकता है। मुक्तक में प्रबन्ध के समान रस की धारा नहीं रहती जिसमें कथा–प्रसंग की परिस्थिति में अपने को भूला हुआ पाठक मग्न हो जाता है। भाव व्यंजना या रस व्यंजना के अतिरिक्त बिहारी ने वस्तु व्यंजना का सहारा भी बहुत लिया है। विशेषतः शोभा या कांति, सुकुमारता विहरताप, विरह की क्षीणता आदि के वर्णन में कहीं कहीं इनकी वस्तु–व्यंजना औचित्य की सीमा का उल्लंघन करके खिलवाड़ के रूप में हो गई है।

शृंगार वर्णन बिहारी ने शृंगार को अपने काव्य में विशेष स्थान प्रस्तुत किया है। शृंगार के संचारी भावों की व्यंजना की ऐसी मर्मस्पर्शी है कि कुछ दोहे सहृदयों के मुंह से बार–बार सुने जाते हैं।

भाषा :- बिहारी की भाषा चलती होने पर भी साहित्यिक है। वाक्य रचना व्यवस्थित है और शब्दों के रूपों का व्यवहार एक निश्चित प्रणाली पर है। यह बात बहुत कम कवियों में पाई जाती है। ब्रजभाषा के कवियों में शब्दों को तोड़–मरोड़कर विकृत करने की आदत बहुतों में पाई जाती है।

27.2 भूषण

जन्म : भूषण का जन्म संवत् 1670 में हुआ था। वीर रस के कवि भूषण चिंतामणि और मतिराम के भाई थे। चित्रकूट के सोलंकी राजा रूद्र ने इन्हें कवि भूषण की उपाधि दी थी तभी से ये भूषण नाम से प्रसिद्ध हो गए। उनका असली नाम क्या था इसका अभी तक कोई प्रमाण प्राप्त नहीं है। ये कई राजाओं के यहां पर अपने काव्य का सृजन करते रहे थे।

साहित्य को भूषण की देन :- भूषण की कविता कवि कीर्ति संबंधी एक अविचल सत्य का दृष्टांत है। जिसकी रचना को जनता का हृदय स्वीकर करेगा उस कवि की कीर्ति तब तक बराबर बनी रहेगी जब तक स्वीकृति बनी रहेगी। भूषण शिवाजी के दरबार में पहुचने के पहले और राजाओं के पास भी रहे थे। उनके प्रताप आदि की प्रशंसा भी उन्हें अवश्य ही करनी पड़ी होगी पर वह झूठी थी, इसी से टिक न सकी। पीछे से भूषण को भी अपनी उन रचनाओं से विरक्ति हुई होगी। इनके 'शिवराज–भूषण', 'शिवाबावनी' और 'छत्रसाल दसक' में ग्रंथ मिलते हैं। इनके अतिरिक्त 3 ग्रंथ और कहे जाते हैं –'भूषण उल्लास', 'दूषण उल्लास' और 'भूषण हजारा ।

भूषण वीर रस के कवि थे। इधर इनके दो–चार कवित्व शृंगार के भी मिलते हैं, पर वे गिनती के योग्य नहीं हैं। रीतिकाल के कवि होने के कारण, भूषण ने अपना प्रधान ग्रंथ 'शिवराज–भूषण' अलंकार के ग्रंथ के रूप में बनाया।

भाषा :- भूषण की भाषा में ओज की मात्रा तो पूरी है पर वह अधिकतर अव्यवस्थित हैं। व्याकरण का उल्लंघन प्राय है और वाक्य–रचना भी कहीं–कहीं गड़बड है। इसके अतिरिक्त शब्दों के रूप भी बहुत बिगड़ गये हैं और कहीं–कहीं बिलकुल गठंत के शब्द ही रखे गये हैं।

27.3 मतिराम

जन्म : ये रीतिकाल के मुख्य कवियों में से हैं। इनका जन्म तिकवाँपुर (जिला कानपुर) में संवत् 1674 के लगभग हुआ था।

साहित्यिक अवदान : ये बूंदी के महाराजा भावसिंह के यहां बहुत समय तक रहे और उन्हीं के आश्रय में अना 'ललितललाम' नामक अलंकार का ग्रंथ संवत् 1716 और 1745 के बीच के समय में रचा। इनका 'छंदसार' नामक पिंगल का ग्रंथ महाराज शंभुनाथ सोलंकी को समर्पित है। इनका परम मनोहर ग्रथ 'रसराज' किसी को समर्पित नहीं है। इनके अतिरिक्त इनके दो ग्रंथ और हैं–'साहित्यसार' और 'लक्षण शृंगार'। बिहारी सतसई के ढंग पर इन्होंने एक 'मतिराम सतसई' भी बनाई जो हिंदी पुस्तकों की खोज में मिली है। इसके दोहे सरसता में बिहारी के दोहों के समान ही हैं।

मतिराम की रचना की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उनकी भाषा अत्यंत स्वाभाविक है, न तो उसमें भावों की कृत्रिमता है, न भाषा की। भाषा शब्दाडम्बर से सर्वथा मुक्त है। इस प्रकार की स्वच्छ, चलती और स्वाभाविक भाषा रीति ग्रंथवाले कम कवियों में मिलती है। मतिराम की सी रसस्निग्ध और प्रसादपूर्ण भाषा रीति का अनुसरण करने वालों में बहुत ही कम मिलती है।

'रसराज' और 'ललितललाम' मतिराम के ये दो ग्रंथ बहुत ही प्रसिद्ध रहे हैं। क्योंकि रस और अलंकार की शिक्षा में इनका उपयोग बराबर होता चला आया है। वास्तव में ये अपने समय के अनुपम ग्रंथ हैं। उदाहरणों की रमणीयता से अनायास रसों और अलंकारों का अभ्यास होता चलता है। 'रसराज' का तो कहना ही क्या है। 'ललितललाम' में भी अलंकारों के उदाहरण बहुत सरस और स्पष्ट हैं। इसी सरसता और स्पष्टता के कारण ये दोनों ग्रंथ इतने लोकप्रिय रहे हैं।

रीतिकाल के प्रतिनिधि कवियों में पद्म को छोड़ और किसी कवि में मतिराम की सी चलती भाषा और सरल व्यंजना नहीं मिलती।

27.4 देव

जन्म : इनका जन्म संवत् 1730 के लगभग हुआ था। ये इटावा के रहने वाले सनाढ्य ब्राह्मण थे। कुछ लोगों ने इन्हें कान्यकुब्ज सिद्ध करने का भी प्रयत्न किया है। इनका पूरा नाम देवदत्त था।

साहित्यिक अवदान : रीतिकाल के प्रतिनिधि कवियों में शायद सबसे अधिक ग्रंथ रचना देव ने की है। इनकी रची पुस्तकों की संख्या 52 है और कई विद्वान 72 तक बतलाते हैं। इनके प्रसिद्ध ग्रंथों में – भाव–विलास, अष्टयाम, भवानी–विलास, सुजान–विनोद, प्रेम तरंग, कुशल–विलास, देवचरित्र, रस–विलास, पावस–विलास, आत्म–दर्शन पचीसी, रसानंद, प्रेमदीपिका, सुमिल–विनोद, राधिका विलास आदि रहे हैं।

देव आचार्य और कवि दोनों रूपों में हमारे सामने आते हैं। यह पहले ही कहा जा चुका है कि आचार्यत्व के पद के अनुरूप कार्य करने में रीतिकाल के कवियों में पूर्ण रूप से कोई भी समर्थ नहीं हुआ।

कवित्व शक्ति और मौलिकता देव में खूब थी पर उनके सम्यक् स्फुरण में उनकी रुचि प्रायः बाधक हुई है। कभी–कभी वे कुछ बड़े और पेचीदे विषय का हौसला बाधते थे पर अनुप्रास के आडंबर की रूचि बीच ही में उसका अंग–भंग करके पद्य को कीचड़ में फंसा छकड़ा बना देती थी। अधिकतर इनकी भाषा में प्रवाह पाया जाता है। कहीं–कहीं शब्द व्यय बहुत अधिक है और अर्थ अल्परीतिकाल के कवियों में ये बड़े ही प्रगल्भ और प्रतिभा–सम्पन्न कवि थे, इसमें संदेह नहीं। इस काल के बड़े कवियों में इनका विशेष गौरव का स्थान है। कहीं–कहीं इनकी कल्पना बहुत सक्षम और दूरारूढ़ है। इनका सा नवोन्मेष बिरले ही कवियों की रचनाओं में मिलता है।

27.5 दास (भिखारी दास)

जन्म : ये प्रतापगढ़ (अवध) के पास टयोंगा गाँव के श्रीवास्तव कायस्थ थे। इन्होंने अपना वंश–परिचय पूरा दिया है। इनके पिता कृपालदास, पितामह वीरभानु प्रपितामह राय रामदास और वृद्ध पितामह राय नरोत्तमदास थे। दास जी के पुत्र अवधेशलाल और पौत्र गौरीशंकर थे जिनके सुपुत्र मर जाने पर वंश परंपरा खंडित हो गई।

काव्य रचनाएं एवं अन्य ग्रंथ : दास के ग्रंथ–रससारांश छंदीर्ण पिंगल, काव्यनिर्णय, श्रृंगारनिर्णय, नामप्रकाश, विष्णु पुराण भाषा, छंद प्रकाश, शतरंज–शतिका, अमप्रकाश आदि रहे हैं।

साहित्यिक देन : काव्यांगों के निर्माण निरुपण में दास को सर्वप्रधान स्थान दिया जाता है, क्योंकि उन्होंने छंद, रस, अलंकार, रीति, गुण–दोष, शब्द शक्ति आदि सब विषयों का औरों से अधिक विस्तृत प्रतिपादन किया है। इनकी विषय–प्रतिपादन शैली उत्तम है और आलोचना शक्ति भी इनमें कुछ पाई जाती है। हिंदी काव्य क्षेत्र में इन्हें परकीया के प्रेम की प्रचुरता दिखाई पड़ी जो रस की दृष्टि से रसाभास के अन्तर्गत आता है। बहुत से स्थलों पर तो राधा–कृष्ण का नाम आने से देवकाव्य का आरोप हो जाता है और दोष का कुछ परिहार हो जाता है। पर सर्वत्र ऐसा नहीं हुआ है।

दास ने साहित्यिक और परिमाजित भाषा का व्यवहार किया है। श्रृंगार ही उस समय का मुख्य विषय रहा है। इनका श्रृंगार–निर्णय अपने ढंग का अनूठा कार्य है। उदाहरण मनोहर और सरस हैं। भाषा में शब्दाडंबर नहीं है। न ये शब्द चमत्कार पर टूटे हैं, न दूर की सूझ के लिए व्याकुल हुए हैं।

इनकी रचना कलापक्ष में संयत और भावपक्ष में रंजनकारिणी है।

27.6 घनानन्द

जन्म : घनानन्द का जन्म 1673 के लगभग बुलन्दशहर जिले के कायस्थ परिवार में हुआ था।

जीवन परिचय : घनानन्द दिल्ली के बादशाह मुहम्मदशाह रंगीला के दरबार में मीर मुन्शी थी। ये उसी बादशाह के दरबार की सुजान नामक एक वेश्या से प्रेम करते थे। एक बार बादशाह के कहने पर भी घनानन्द ने गाकर नहीं सुनाया, परन्तु सुजान के कहने पर इन्होंने आत्म–विभोर हो गाया। इस कारण बादशाह के कोप का शिकार होना पड़ और दिल्ली छोड़नी पड़ी परन्तु सुजान, कहने पर भी उनके साथ नहीं गई। उसकी विरह–भावना को लेकर इन्होंने सरस–मुक्तकों की रचना की। इनका काव्य हृदयानुभूति से निकला हुआ काव्य है।

प्रमुख रचनाएँ : इनकी प्रमुख रचनाओं में 'सुजान सागर', 'विरहलीला', 'कोकसागर', 'घन आनन्द कवित्त', 'सुजानहित प्रबन्ध', 'वियोग बेलि', 'प्रीति–पावस' एवं 'सुजान–विनोद' आदि हैं।

काव्यगत प्रमुख विशेषताएँ

सौंदर्य वर्णन – घनानंद का प्रेम रूप–जन्य है। कवि ने मुहम्मद शाह रंगीले के दरबार में रहकर सुजान–वेश्या से वस्तुतः प्रेम किया था और यह प्रेम इसलिए हुआ क्योंकि सुजान रूप का आगार थी। सुजान के अंग–प्रत्यंग में सौंदर्य की ऐसी तरंगें उठती थीं मानो क्षणभर में ही चू पड़ेगी। सुजान का ऐसा रूप नित नवीन लगने वाला है।

संयोग में वियोग का आनन्द : घनानन्द के प्रेम की एक अभूतपूर्व विशेषता उनके संयोग में वियोग का वर्णन है। यदि प्रेमी भूले से स्वप्न में भी क्षणभर के लिए उन्हें दिखाई दे जाता है तो उन्हें यह चिन्ता हो जाती है कि कुछ समय पश्चात वह फिर चला जाएगा। ऐसी स्थिति केवल घनानन्द के काव्य में ही मिलती है।

सात्विक प्रेम निरूपण

घनानन्द का प्रेम रूप जन्य है, नितांत लौकिक है। इसलिए उनकी प्रेमानुभूति मिल–सुख से सुवसित है। उसमें रति सुख है। उनके प्रेमकाव्य में आलिंगन, मिलन, परिरम्भण आदि हैं।

कला-पक्ष

कला–पक्ष की दृष्टि से घनानन्द की काव्य–भाषा ब्रज भाषा है। लेकिन अभिव्यंजना की दृष्टि से वह व्यावहारिक, सजीव व्याकरण सम्मत एवं पूर्णतया साहित्यिक है।

लघूत्तरी प्रश्न

1. **साहित्येतिहास-दर्शन का क्या अभिप्राय है?**

उत्तर सामान्यतः साहित्य समाज सापेक्ष होता है। प्रत्येक साहित्यकार अपने युगीन वातावरण एवं परिस्थितियों से अवश्य प्रभावित होता है और कभी–कभी वह अपनी रचना से युग को भी प्रभावित करता है। इस प्रकार साहित्य एवं युगीन स्थिति का परस्पर घनिष्ठ संबंध होता है। साहित्यिक रचना के साथ–साथ उस युगीन परिस्थितियों का अंकन करना ही साहित्येतिहास का दर्शन कहलाता है।

2. **साहित्येतिहास लेखन की कितनी विधियाँ हैं?**

उत्तर साहित्येतिहास लेखन की मुख्यतः निम्नलिखित विधियाँ होती हैं–

1. **अकारादिक्रम विधि** -- इसमें साहित्यकारों का परिचय वर्णमाला के क्रमानुसार दिया जाता है।
2. **कालक्रम विधि** – इसमें साहित्यकारों के जन्म आदि के अनुसार उनकी रचनाओं का मूल्यांकन किया जाता है।
3. **परिस्थिति-प्रवृत्तिमूलक विधि**– इसमें युग विशेष की परिस्थितियों के अनुरूप रचनाओं का वर्णन किया जाता है।
4. **वैज्ञानिक अनुसंधान विधि** -- इसमें साहित्य के एक पक्ष को लेकर उससे संबंधित सभी तथ्यों का संकलन किया जाता है।
5. **समाजशास्त्र सम्मत विधि** – इस विधि में लेखक समाजशास्त्र के सिद्धान्तों को ध्यान में रख कर साहित्येतिहास की रचना करता है।

3. **साहित्येतिहास लेखन की अकारादिद्रम विधि से क्या अभिप्राय है?**

उत्तर यह साहित्येतिहास लेखन एक विधि है। इसमें वर्ण क्रम के अनुसार साहित्यकारों का परिचय दिया जाता है। यह अत्यधिक प्राचीन विधि है। इसका आधुनिक समय में प्रचलन नहीं के बराबर है। गासी त तासी द्वारा रचित 'इस्तवार द ल लित्रेत्यूर ऐंदुई ए ऐंदूस्तानी' इसी विधि द्वारा लिखा गया साहित्येतिहास है।

4. **कालक्रम विधि से क्या अभिप्राय है?**

उत्तर साहित्येतिहास लेखन की यह एक अपेक्षाकृत अच्छी विधि है। इसमें साहित्यकारों के जन्म काल के अनुसार उनकी रचनाओं को क्रमबद्ध करके अध्ययन किया जाता है। इस विधि की मुख्य त्रुटि यह है कि जिस कवि का जन्म बाद में हुआ है, परन्तु उसने रचना कम आयु में ही लिख दी है उसका नाम उस कवि के ऊपर आ जाता है जिसका पहले जन्म हुआ हो, परन्तु उसका साहित्यि जीवन बाद में आरम्भ हुआ हो। जार्ज ग्रियर्सन द्वारा रचित द माडर्न वार्नक्यूलर लिटरेचर ऑफ हिंदुतान इसी विधि द्वारा लिखा गया साहित्येतिहास है।

5. **परिस्थिति - प्रवृत्तिमूलक विधि पर प्रकाश डालिए।**

उत्तर यह साहित्येतिहास लेखन की एक श्रेष्ठ विधि है। इसमें किसी युग विशेष की विभन्न परिस्थितियों जैसे – धार्मिक, राजनीतिक आदि के आलोक में साहित्यकारों की रचनाओं का मूल्यांकन किया जाता है। इस विधि की मुख्य कमी यह है कि एक ही युग में विभिन्न जीवन–दृष्टि रखने वाले दो कवियों के साथ यह विधि समुचित न्याय नहीं कर पाती। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल द्वारा रचित 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' इसी विधि द्वारा लिखा गया साहित्येतिहास है।

6. **हिंदी साहित्येतिहास लेखन में खड़ी बोली और इतर भाषाओं के समावेश पर प्रकाश डालिए।**

उत्तर हिन्दी साहित्येतिहास लेखन की इस बड़ी समस्या की ओर शिवदान सिंह चौहान ने आकर्षित किया है। हिन्दी साहित्य के आरम्भिक और मध्य काल तक राजस्थानी, ब्रजभाषा, अवधी आदि भाषाओं में रचित साहित्य का बाहुल्य है और आधुनिक काल में खड़ी बोली का वर्चस्व स्थापित हो गया है। परन्तु आज भी अवधी, राजस्थानी आदि भाषाओं

का प्रचलन है और इनमें साहित्यिक रचनाएँ भी लिखी जा रही हैं। परन्तु आधुनिक साहित्य में उनका समावेश नहीं किया जाता। यही हिन्दी साहित्येतिहास लेखन में खड़ी बोली और इतर भाषाओं के समावेश की समस्या है।

7. **आदिकाल के नामकरण की विवेचना कीजिए?**

उत्तर हिन्दी साहित्येतिहास लेखन में आदिकाल का नामकरण एक विवादास्पद विषय रहा है। इसके नामकरण और काल–निर्धारण के संदर्भ में विद्वानों के विचार आपस में नहीं मिलते। आचार्य शुक्ल ने आदिकाल को 'वीरगाथाकाल', मिश्र बन्धुओं ने प्रारम्भिक काल, डॉ. रामकुमार वर्मा ने 'संधि एवं चारण काल', राहुल सांकृत्यायन ने 'सिद्ध सामंतकाल' कहा है। इसी प्रकार इसकी काल–सीमा पर भी विद्वानों में असहमति है। अतः हिन्दी साहित्येतिहास लेखन में आविर्भाव काल अथवा आदिकाल का नामकरण एक समस्या बना हुआ है।

8. **आदिकाल के गद्य साहित्य का संक्षप्त विवरण दीजिए।**

उत्तर हिन्दी साहित्य के आरम्भिक काल के कवियों ने अपनी पूर्ववर्ती कवियों का अनुसरण करते हुए अधिकांश साहित्यिक रचनाएँ पद्य शैली में ही लिखीं। फिर भी गद्य शैली का कुछ साहित्यकारों ने प्रयोग किया। आदिकाल गद्य साहित्य को दो श्रेणियों में बांटा जा सकता है–चम्पू काव्य जैसे 'राउलवेल', 'उक्ति–व्यक्ति–प्रकरण', तथा शुद्ध गद्य साहित्य जैसे – वर्ण रत्नाकर।

9. **हिन्दी साहित्य के आदिकाल के नामकरण एवं काल सीमा पर प्रकाश डालिए।**

उत्तर जार्ज ग्रियर्सन ने आदिकाल को 'चारण काल' कहा है तथा इसकी सीमा 700 ई० से 1300 ई. माना है। मिश्रबन्धुओं ने आदिकाल को 'प्रारम्भिक काल' कहकर इसकी समय सीमा 700 वि. से 1444 वि. तक मानी है। आचार्य शुक्ल ने इसे 'वीरगाथाकाल' कहकर इसकी अवधि सं. 1050 से 1375 तक मानी है। डॉ. रामकुमार वर्मा ने इसे दो भागों – संधि काल (सं. 750 से सं. 1000) तथा चारण काल (सं. 1000 – 1375) में बांटा है। हिंदी साहित्य के आविर्भाव काल को 'आदिकाल' नाम हजारीप्रसाद द्विवेदी ने दिया है तथा इसकी समय सीमा 1000 ई. से 1400 ई. तक मानी है।

10. **आदिकालीन सांस्कृतिक व साहित्यिक परिस्थितियों पर प्रकाश डालिए।**

उत्तर आदिकालीन युग में दो संस्कृतियों के संक्रमण एवं ह ास–विकास का युग है। यद्यपि आरम्भ में हिन्दू संस्कृति अपने उच्चतम शिखर पर दिखाई देती है परन्तु धीरे–धीरे मुसलमानों के आक्रमणों से यह टूटती–बिखरती सी दिखाई पड़ती है। मुस्लिम शासकों के मूर्ति–विरोधी होने के कारण मूर्तिकला को गहरा आघात पहुँचा है। संगीतकला, चित्रकला, वास्तुकला आदि पर मुस्लिम संस्कृति का प्रभाव पड़ता दिखाई देता है। साहित्य के क्षेत्र में (क) संस्कृत, (ख) प्राकृत व अपभ्रंश तथा (ग) हिंदी, इन तीन धाराओं का अधिक प्रचलन था। संस्कृत मुख्यतः राजकवियों की भाषा बन चुकी थी, प्राकृत व अपभ्रंश धर्म के प्रचार व प्रसार का माध्यम बन चुकी थी और हिन्दी 'लोक–जीवन' का प्रतिनिधित्व करती थी।

11. **आदिकालीन साहित्य-सामग्री का संक्षिप्त परिचय दीजिए।**

उत्तर आदिकालीन साहित्य सामग्री को मुख्यतः तीन भागों – धार्मिक साहित्य, लौकिक साहित्य एवं इतर साहित्य में बांट सकते हैं। धार्मिक साहित्य में जैन साहित्य, सिद्ध साहित्य एवं नाथ साहित्य को सम्मिलित किया जाता है। जैन साहित्य मुख्यतः अपभ्रंश में लिखा हुआ है, सिद्ध साहित्य की भाषा को 'सांध्य भाषा' कहा गया है तथा नाथ साहित्य जनभाषा में लिखा हुआ है। लौकिक साहित्य में वीरगाथापरक काव्य अर्थात् रासो काव्य आता है जिसकी भाषा डिंगल व पिंगल है। इतर साहित्य में प्रेमकाव्य, स्वछन्द काव्य आते हैं।

12. सिद्ध साहित्य का संक्षिप्त में विवेचन कीजिए।

उत्तर सिद्धों की संख्या 84 मानी गई है परन्तु अभी तक लगभग 14 सिद्धों की ही रचनाएं प्रकाश में आइ ह। राहुल सांकृत्यायन ने 'हिन्दी काव्यधारा' में इन सिद्धों की वाणियों का संग्रह प्रस्तुत किया है जिसके आधार पर कहा जा सकता है कि उनकी रचनाएं चर्यागीतों और दोहों के रूप में है। सिद्ध साहित्य समाज सापेक्ष ही है, परन्तु उसमे सामाजिक विद्रोह की भावना बहुत अधिक दिखाई देती है। उसमें पाखंडों, आडम्बरों आदि का विरोध किया गया है। उनकी भाषा को 'सांध्य भाषा' कहकर पुकारा जाता है।

13. जैन साहित्य का संक्षिप्त विवरण दीजिए।

उत्तर जैन साहित्य की अधिकांश रचनाएं अपभ्रंश में है। प्रसिद्ध जैन कवियों में देवसेन, स्वयंभू, पुष्पदंत, धनपाल आदि का नाम लिया जा सकता है। जैन साहित्य मे चरित व फाग दो शैलियों का सर्वाधिक प्रयोग हुआ है जैसे भतरेश्वर बाहुबली रास, चंदनबाला रास, स्थूल भद्र रास आदि जैन साहित्य की रचनाएं प्रबंध एवं मुक्तक दोनों ही रूपो में विद्यमान हैं। जैन कवियों ने अपनी रचनाओं के चांचर, चतुष्पदी, कवित्त, दोहा आदि छंदों का सर्वाधिक प्रयोग किया है।

14. नाथ साहित्य पर टिप्पणी लिखिए।

उत्तर नाथों में मुख्यतः नौ नाथ गिने जाते हैं जिनमें गोरखनाथ सर्वोपरि हैं। नाथ साहित्य की सबसे बड़े विशषता यह है कि यह साधनापरक है। इसमें कुंडलिनी के षट्चक्रों को भेदकर सहस्रार में पहुंचने पर समाधि अवस्था का ही चित्रण अधिक हुआ है। सिद्धों की भांति नाथों में भी अपने काव्य में रूपक तत्वों का प्रयोग किया है। उनका साहित्य मुख्यतः साखी, शब्द, दोहा, सोरठा आदि जैसे छन्दों से युक्त है। अभी नाथों का सम्पूर्ण साहित्य प्रकाश में नहीं आया है।

15. विद्यापति का साहित्यिक परिचय लिखिए।

उत्तर विद्यापति का जन्म सन् 1360 ई. में स्वीकार किया जाता है। वे एक बहुआयामी साहित्यकार थे। उन्होंने तीन भाषाओं संस्कृत, अवहट्ठ, मैथिली में काव्य रचना की। इनकी ख्याति का मुख्य आधार मैथिली भाषा में रचित 'पदावली' है। इसमें लगभग एक हजार पद हैं जो आज भी गीत के रूप में गाए जाते हैं। विद्यापति मूलतः श्रृगारी कवि हैं। उन्होंने 'पदावली' में श्रीकृष्ण राधा को नायक--नायिका के रूप में चित्रित करके श्रृंगार रस से भरे पदो की रचना की है। इसके अतिरिक्त उन्होंने गोरक्ष विजय नामक नाटक भी लिखा है जिसकी भाषा संस्कृत एव मैथिली है।

16. अमीर खुसरो के साहित्यिक परिचय दीजिए।

उत्तर अमीर खुसरो का जन्म सन् 1253 ई. में आधुनिक एटा जिला के पटियाली गांव में हुआ था। उन्होंने अपने जीवन में लगभग 99 ग्रंथों की रचना की जिनमें से अधिकांश फारसी भाषा में थे। यद्यपि हिन्दी भाषा में अभी तक उनकी कोई भी प्रामाणिक रचना प्राप्त नहीं हुई है परन्तु यह निर्विवाद सत्य है कि वे खड़ी बोली के प्रथम कवि थे। उनकी हिन्दी कविताओं को बारह भागों -- पहेलियाँ, मुकरियाँ, निस्बतें, दोसुखन, ढकोसला, गीत, कव्वाली, फारसी--हिन्दी मिश्रित छन्द व गजल, फुटकल छन्द और 'खालिकबारी' में बांट सकते हैं। 'खालिकबारी' उनकी बहुचर्चित रचना है।

17. भक्तिकाल की सामाजिक परिस्थितियों का संक्षेप में वर्णन कीजिए।

उत्तर भक्तिकालीन युग में भारतीय समाज में हिन्दुओं व मुसलमानों का आधिपत्य था। आरम्भ में एकता दिखाई देती है, परन्तु धीरे--धीरे धार्मिक कट्टरता के कारण दोनों समुदाय एक दूसरे से दूर होते चले गए। चूंकि हिन्दू विजित थे इसलिए उन्हें समाज में अब उतना आदर व सम्मान प्राप्त न था। मुस्लिम शासकों की रूप लिप्सा के कारण हिन्दी स्त्री भी परदे के भीतर कर दी गई। कट्टर हिंदू मुसलमानों से दूरी बनाए हुए थे। धीरे--धीरे इस स्थिति में बदलाव आने लगा और अकबर के शासन काल में दोनों समुदायों के बीच यह कटुता काफी कम हो गई थी।

18. भक्तिकाल की साहित्यिक परिस्थिति का विवरण दीजिए।

उत्तर भक्तिकाल के आरम्भ में संस्कृत ही साहित्य की भाषा थी जबकि राजकाज की भाषा फारसी बनती जा रही थी। यह एक निर्विवाद सत्य है कि उस समय हिंदी का प्रचलन जोरों पर था, परन्तु संस्कृत और फारसी के सामने वह महत्वहीन ही थी। जो कवि राजदरबार का आश्रय लिए हुए थे वे राजाओं की प्रशंसा में काव्य रचना करने में लीन थे। दूसरी ओर, धर्म की व्याख्या करने वाले काव्यों मे उच्च कोटि का ज्ञान प्राप्त होता है। धर्म से सम्बन्धित साहित्य लोक एवं परलोक दोनों के विषय में मार्गदर्शन करता है।

19. भक्तिकाल के गद्य साहित्य पर प्रकाश डालिए।

उत्तर वस्तुतः रीतिकाल तक हिन्दी में जो भी गद्य साहित्य लिखा गया, उसमें शुद्ध गद्य की साहित्यिक प्रवृत्ति कम ही मिलती है। भक्तिकाल में लिखित गद्य साहित्य को मुख्यतः ब्रजभाषा, खड़ी बोली, राजस्थानी भाषा व दक्खिनी हिन्दी में बांटा जा सकता है। ब्रजभाषा के गद्य साहित्य में ध्रुवदास का 'सिद्धान्त विचार', नाभादास का 'अष्टायाम' आदि प्रमुख हैं। खड़ी बोली में गंग कवि की 'चन्द छन्द बरनन की महिमा', जटमल का चम्पूकाव्य 'गोरा बादल की कथा', के अतिरिक्त भोगुल पुराण व 'गेणेस गोसठ' का नाम लिया जा सकता है। राजस्थानी भाषा में 'पृथ्वीचन्द्रचरित' तथा दक्षिणी हिन्दी में 'हिदायतनामा', 'शिकारनामा' आदि प्रमुख हैं।

20. भक्तिकालीन खड़ी बोली गद्य साहित्य का परिचय लिखिए।

उत्तर भक्तिकालीन खड़ी बोली व गद्य साहित्य को दो वर्गों में बांटा जा सकता है – साहित्यिक प्रकार में वात शीर्षक से कथा–कहानी के रूप में और अन्योक्ति कथा के रूप में गद्य साहित्य प्राप्त होता है जबकि असाहित्यिक प्रकार में – टीका, टिप्पणी आदि के रूप में गद्य साहित्य प्राप्त होता है। इस काल में हिन्दी की सभी उपभाषाओं राजस्थानी, मैथिली, खड़ी बोली आदि सभी में तुकमय गद्य की प्रवृत्ति देखी जा सकती है। इस काल के गद्य साहित्य में जटमल की रचना 'गोरा बादल की कथा' (चम्पूकाव्य) महत्वपूर्ण स्थान रखती है। इसके अतिरिक्त 'कुतुबशतक', 'भोगलुपुराण' आदि भी गद्य साहित्य की अनुपम रचनाएँ हैं।

21. भक्तिकालीन राजस्थानी गद्य साहित्य का संक्षेप में विवेचन कीजिए।

उत्तर राजस्थान की सभी बोलियों मे केवल मारवाड़ी बोली ही सर्वाधिक गद्य सम्पन्न है। भक्तिकाल में समस्त राजस्थानी भाषा में प्राप्त गद्य साहित्य की रचनाओं में 'तत्व विचार प्रकरण', 'पृथ्वीचन्द्र चरित्र', 'धनपाल कथा', 'अंजना सुंदरी' कथा आदि प्रमुख हैं। इन रचनाओं में तुकबंदी और पद्यमय शैली का भी आश्रय लिया गया है। इनके अतिरिक्त राजस्थानी भाषा के गद्य साहित्य में 'उपदेश माला', 'योगशास्त्र' आदि जैसी कुछ कथात्मक व्याख्याएँ भी प्राप्त होती हैं। राजस्थानी गद्य साहित्य में प्राप्त सभी रचनाओं में 'पृथ्वीचन्द्र चरित्र' सबसे अधिक महत्वपूर्ण है।

22. भक्तिकालीन ब्रजभाषा गद्य-साहित्य पर प्रकाश डालिए।

उत्तर यद्यपि भक्तिकाल में गोरखनाथ के नाम से अनेक गद्य रचनाएं प्राप्त होती हैं, परन्तु उनकी प्रामाणिकता संदिग्ध है। सही अर्थों में भक्तिकाल की गद्य साहित्य की रचनाओं में ध्रुवदास की 'सिद्धान्त विचार', नाभादास की 'अष्टायाम', बनारसी दास जैन की 'परमार्थवचनिका' आदि का नाम उल्लेखनीय है। इनके अतिरिक्त 'चौरासी वैष्णव वार्ता' भी भक्तिकाल के अंतिम पड़ाव की रचना मानी जाती है। इनके अतिरिक्त केशवदास की 'रसिक प्रिया' व 'कविप्रिया' में भी टिप्पणी के रूप में गद्य शैली का प्रयोग किया गया है।

23. संत काव्यधारा के वैशिष्ट्य पर प्रकाश डालिए।

उत्तर संत काव्यधारा मुख्यतः निर्गुणोपासक है। संत कवियों ने अपने काव्य की रचना काव्यशास्त्र की दृष्टि नहीं की थी। अतः वे काव्य की आत्मा, रस निष्पत्ति आदि के विषय में उदासीन ही रहे। उनके काव्य में रस की सबसे

महत्वपूर्ण विशेषता 'साधारणीकरण' विद्यमान है। कबीर, दादुदयाल आदि कवियों ने दाम्पत्य प्रतीकों के माध्यम से श्रृंगार रस का संचार किया है। संत काव्य की भाषा जनसाधारण की भाषा है। वह सरल, सहज व अकृत्रिम है। उसमें अनेक बोलियों के शब्द विद्यमान हैं। उनके काव्य में रूपक, उपमा, दृष्टांत, अन्योक्ति, अत्युक्ति, उत्प्रेक्षा आदि अलंकारों का प्रचुर प्रयोग हुआ है। संक्षेप में, कहा जा सकता है कि संत काव्य की प्रमुख विशेषताएं उसके अनुभूति पक्ष में दिखाई देती हैं।

24. सूफी काव्यधारा के वैशिष्ट्य का संक्षेप में विवेचन कीजिए।

उत्तर सूफी काव्यधारा को प्रेमाख्यान काव्यधारा भी कह कर पुकारा जाता है। इस काव्यधारा की कथावस्तु में स्वाभाविकता की अपेक्षा वैचित्र्य को ही प्रमुखता दी गई है। अधिकांश काव्य प्रबंधात्मक है जिनके पात्र मानव व मानवेतर दोनों की श्रेणियों के होते हैं। अनेक स्थलों पर वस्तु वर्णन विशेषकर नायिका के अंगों का वर्णन विस्तारपूर्वक हुआ है। काव्य में श्रृंगार रस के संयोग व वियोग दोनों ही पक्षों का अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन हुआ है। सूफी काव्यधारा की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि शैली की दृष्टि से सभी काव्य रचनाओं में अन्योक्ति व समासोक्ति का सहारा लिया गया है।

25. राम काव्यधारा के वैशिष्ट्य पर प्रकाश डालिए।

उत्तर भक्तिकालीन राम काव्यधारा की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसके राम नर से नारायण बन चुके हैं, उन्हें देवत्व का पद प्राप्त हो चुका है। अधिकांश राम भक्त कवियों ने दास्य भाव से ही राम की उपासना की है और समन्वय की भावना का वे बार बार प्रदर्शन करते हैं। राम काव्य में भारतीय संस्कृति का पोषण हुआ है और उसमें मर्यादा की महत्ता को सिद्ध किया गया है। इसमें काव्यशास्त्र में वर्णित लगभग सभी रसों का सफलतापूर्वक निर्वाह हुआ है। यद्यपि भाषा की दृष्टि से राम–भक्त कवियों में एकजुटता का अभाव दिखाई देता है क्योंकि स्वयं तुलसीदास ने अपने रामकाव्य को अवधी व ब्रजभाषा में लिखा, उनका अनुसरण करते हुए अन्य राम भक्त कवियों ने भी अपनी अपनी भाषा को ही अभिव्यक्ति का साधन बनाया। अधिकांश राम काव्य में दोहा, चौपाई, कवित्त, सवैया, सोरठा, बरवै आदि छन्दों का प्रयोग किया गया है। राम काव्य में वासनात्मक भावों का नितांत अभाव है।

26. कृष्ण काव्यधारा के वैशिष्ट्य का संक्षेप में वर्णन कीजिए।

उत्तर भक्तिकालीन कृष्ण काव्यधारा के अधिकांश कवियों ने या तो बालकृष्ण की उपासना की है या फिर युवा श्री कृष्ण की जो गोपियों को छोड़कर मथुरा चले गये थे। अधिकांश काव्य श्रीकृष्ण के इन्हीं दो रूपों के इर्द गिर्द घूमता है। उसमें महाभारत के योगेश्वर श्रीकृष्ण के कहीं भी दर्शन नहीं होते। अतः अधिकांश कृष्ण–काव्य में वर्णित लीलाएँ आनंद देने वाली हैं। इस काव्यधारा में कहीं तो सख्य भाव से तो कहीं दास्य भाव तो कहीं वात्सल्य भाव तो कहीं शांत भाव से कृष्ण की उपासना की गई है। इस काव्य में वात्सल्य एवं श्रृंगार रस का आधिपत्य है। अधिकांश काव्य ब्रजभाषा में है जिसमें चौपाई, छप्पय, कवित्त, सवैया आदि छंदों का प्रयोग हुआ है। रूपक, उत्प्रेक्षा, उपमा आदि अलंकारों का बहुतायत में प्रयोग हुआ है। अधिकांश काव्य गेय हैं और उसमें बिम्ब योजना का प्रयोग हुआ है।

27. भक्तिकालीन काव्य की उपलब्धि पर प्रकाश डालिए।

उत्तर भक्तिकालीन काव्य की सबसे बड़ी और पहली उपलब्धि यही है कि इस काल ने हिन्दी साहित्य जगत को उच्च कोटि व बड़े महत्व के कवि प्रदान दिए। उन्होंने अपने काव्य के योगदान से हिन्दी साहित्य को अत्यंत समृद्ध कर दिया। पहली बार, काव्य और भक्ति का इतने व्यापक स्तर पर समन्वय हुआ, सामंजस्य हुआ, इस काल के कुछ कवियों जैसे कबीर आदि ने एक ओर जहां धार्मिक पाखंड, आडम्बर आदि के किले मटियामेट कर दिए वहीं तुलसीदास, सूरदास आदि जैसे कवियों ने उन खण्डहरों के स्थान पर भक्ति के नए–नए भवन बनाए हैं जिनमें प्रवेश पाकर शोषित व पीड़ित जनता को शांति मिली। सूफी काव्यधारा ने इस शोषण व पीड़ा त्रस्त जनता को प्रेम का एक नया पाठ

पढ़ाया। जन्त्र, मंत्र, टोने–टोटके, पाखंडों आदि से लिप्त जनता का ध्यान अद्वैतवाद, राम कृष्ण आदि की ओर गया और उसमें एक नयी शक्ति का संचार हुआ।

28. रीतिकाल के नामकरण पर प्रकाश डालिए।

उत्तर वस्तुतः उत्तर मध्य काल के नामकरण को लेकर विद्वानों में मतभेद रहे हैं। मिश्रबंधुओं ने इसे अलंकृत काल कहा है तो आचार्य शुक्ल ने इसे रीतिकाल नाम दिया है। पं. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने इसे श्रृंगार काल कहा। इसी प्रकार डॉ. रमाशंकर शुक्ल रसाल ने इसे कला कला कहा है और डॉ. भगीरथ मिश्र ने इसे रीति श्रृंगार काल कहा है। इन सभी नामों में केवल रीतिकाल नाम ही अधिक उपर्युक्त एवं न्याय संगत है, क्योंकि इस काल के अधिकांश ग्रंथ रीति सम्बन्धी ही थे और कवियों की प्रवृत्ति भी केवल रीति ग्रंथों को रचने की थी। यद्यपि सूदन, धनानंद जैसे कवियों ने किसी भी रीतिग्रंथ की रचना नहीं की थी, और इस दृष्टि से वे इस प्रवृति में नहीं आते, फिर भी रीति कवियों व रीति ग्रंथों का बाहुल्य देखते हुए इसे रीतिकाल कहना सर्वथा उपर्युक्त है।

29. रीतिकाल की साहित्यिक परिस्थितियों का संक्षेप में वर्णन कीजिए।

उत्तर साहित्य की दृष्टि से रीतिकाल अत्यंत समृद्ध युग रहा है। फारसी भाषा राजकीय भाषा थी। अतः इसकी अलंकार प्रधान शैली का अन्य सभी भाषाओं पर प्रभाव पड़ा। अधिकांश कवि दरबारी कवि थे अतः उनके काव्य में अपने आश्रयदाता के गुणगान की प्रधानता है। कवियों ने अपने काव्य में चमत्कार उत्पन्न करनें के लिए संस्कृत भाषा की ओर ताकना आरम्भ कर दिया। इस काल के कवियों का मुख्य उद्देश्य अपने सामर्थ्य का प्रदर्शन करना और काव्य रसिक समुदाय में काव्य रीति के ज्ञान का प्रसार करना था। जो कवि दरबारी नहीं थे, उनका काव्य दरबारी कवियों की तुलना में अधिक प्रभावशाली दिखाई पड़ता है। अतः कहा जा सकता है कि रीतिकाल हिन्दी साहित्य में एक विशिष्ट स्थान रखता है।

30. रीतिकाल की सांस्कृतिक परिस्थितियों पर प्रकाश डालिए।

उत्तर रीतिकाल में सांस्कृतिक परिस्थितियां अधिक अनुकूल नहीं थी। औरंगजेब की धार्मिक कट्टरता के कारण हिन्दी मुस्लिम समुदाय दूर दूर रहने लगे थे। वैष्णव सम्प्रदाय के पीठाधीश अपने–अपने राजाओं, श्रीमानों की गुरु दीक्षा देते देते स्वयं उनके समान विलासी हो गए थे। वे राम कृष्ण की लीलाओं में भी अपने विलासी जीवन की संगति खोजने लगे थे। धर्म में पाखंड, अंधविश्वास आदि ने पुनः पांव जमा लिए थे। जनता के अंधविश्वास का अनुचित लाभ पुरारियों और मुल्लाओं ने खूब उठाया। रामलीला, रासलीलार, रामचरितमानस का पाठ आदि सभी कुछ मनोरंजन का साधन बन गया था।

31. रीतिकालीन गद्य साहित्य पर प्रकाश डालिए।

उत्तर रीतिकाल में खड़ी बोली गद्य की तुलना में ब्रजभाषा गद्य अधिक समृद्ध है। इस काल में विभिन्न टीकाओं के साथ साथ गद्य शैली में कथा, वार्ता, जीवनी, आत्मचरित आदि की भी रचना हुई जिनमें 'सूरदास की वार्ता', 'निज वार्ता भावना', 'विवाह पद्धति' आदि का नाम लिया जा सकता है। खड़ी बोली का गद्य साहित्य ब्रजभाषा युक्त है और अधिकांश गद्य साहित्य अललित है। कुछ एक कृतियों के अनुवाद खड़ी बोली में हुए जिनमें 'भाषा योग वाशिष्ठ', 'भाषा उपनिषद्' आदि का नाम लिया जा सकता है। राजस्थानी भाषा में प्रेमपरक, वीरतापूर्ण, हास्यमय आदि बातें भी गद्य साहित्य में गिनी जाती है जिनमें 'बीरबल री बात', 'गोराबादल री बात' आदि का नाम लिया जा सकता है। इनके अतिरिक्त अवधी भाषा में 'उड्डील', 'रस विनोद', 'सगुनावती' आदि भी हिन्दी गद्य साहित्य में अपना विशेष स्थान रखती हैं।

32. निर्गुण भक्ति के स्वरूप पर प्रकाश डालिए।

उत्तर निर्गुण भक्ति की अनुभूति पर जोर देती है। यदि व्यक्ति में अनुभूति का ज्ञान नहीं है तो उसकी भक्ति का ज्ञान केवल शब्द ज्ञान माना जाता है। आचार्य शंकराचार्य ने कहा है "अनुभवावसानत्वात् ब्रह्मज्ञानस्य"। निर्गुण भक्ति

वस्तुतः ब्रह्मज्ञान का विषय है भक्ति का नहीं। निर्गुण भक्ति के कवियों ने मनुष्य को अपनी आत्मा के स्वरूप पहचान उसके अनुकूल कार्य करके, परमात्मा में विलीन होने को ही भक्ति माना है।

33. भक्तिकालीन वीर काव्य प्रवृत्ति का संक्षिप्त परिचय दीजिए।

उत्तर यद्यपि भक्तिकालीन काव्य में चार धाराएं – निर्गुण, प्रेमाश्रयी, राम व कृष्ण काव्यधारा ही मुख्य रूप से गिनी जाती है, परन्तु इस काल में अन्य काव्य प्रवृत्तियां भी प्रचलित थी। इस काल की वीर–काव्यधारा में कवि श्रीधर द्वारा रचित रणमल्ल छन्द, दुरसाजी आढ़ा द्वारा रचित 'विरुद्ध छिहत्तरी', दया राम द्वारा रचित [illegible] आदि उल्लेखनीय है। इनमें 'रणमल्ल छन्द' की भाषा ओजपूर्ण है और उसके लगभग 70 छंद प्राप्त हो चुके हैं। 'विरुद्ध छिहत्तरी' में महाराणा प्रताप की शूरवीरता का यशोगान हुआ है। 'राणा रासो' में सिसोदिया वंश की परपरा का वर्णन हुआ है इनके अतिरिक्त 'रतन रासो', 'क्याम खाँ 'रासो' आदि भी वीरकाव्य प्रवृत्ति की रचनाएँ हैं।

34. 'सूफी' शब्द से क्या तात्पर्य है?

उत्तर 'सूफी' शब्द के मूलार्थ के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद हैं। अधिकांश विद्वानों ने इसका अर्थ [illegible] है, क्योंकि वे सूफी शब्द की उत्पत्ति सूफ (ऊन) से मानते हैं। अतः जो साधक ऊन धारण करते थे वे सूफी कहलाए। कुछ विद्वानों ने इस शब्द की उत्पत्ति सुफ्फा (चूबतरा) से माना है और कहा है कि जो साधक मदीना के आगे बने चबूतरे पर बैठते थे, वे सूफी कहलाए। कुछ विद्वान सफ्फ (पंक्ति) शब्द से भी 'सूफी' की उत्पत्ति होना स्वीकार करते हैं। वस्तुतः सूफी मत का सम्बन्ध इस्लाम से है। ये लोग आध्यात्मिक पथ पर गुरु व प्रेम को अधिक महत्व देते थे। भारत में सूफी मत का आविर्भाव सिंध प्रांत में हुआ।

35. निर्गुण काव्यधारा के प्रमुख कवियों और उनकी रचनाओं पर प्रकाश डालिए।

उत्तर निर्गुण काव्यधारा के प्रमुख कवियों में रामानन्द, कबीरदार, रैदास, नानकदेव, जम्भनाथ, हरिदास निरजनी, पीपा, दादूदयाल, मलूकदास आदि का नाम उल्लेखनीय है। इनमें से भी संत कबीर दास प्रतिनिधि हैं। उनकी रचना बीजक प्रमुख है। नानक देव एक भ्रमणशील साधु थे। 'असा दी वार', 'रहिरास और सोहिला' उनकी प्रमुख रचनाएं हैं। हरिदास निरंजनी की प्रमुख रचनाएं अष्टपदी जोग ग्रंथ, पूजा जोग ग्रंथ आदि हैं। 'अंगवधू' दादूदयाल की प्रसिद्ध रचना है। मलूक दास ने 'ध्रुवचरित', 'सुखसागर', ज्ञानबोध आदि रचनाएं लिखीं।

36. मनसबी शैली पर प्रकाश डालिए।

उत्तर इस शैली का प्रयोग जायसी ने अपनी प्रमुख रचना 'पदमावत' में किया था। इस शैली की अपनी कुछ निश्चित परंपराएं एवं नियम होते हैं जिनका पालन रचनाकार को करना पड़ता है। इसमें सबसे पहले खुदा अथवा ईश्वर का याद किया जाता है। फिर मुहम्मद साहब का स्मरण करते हुए अपने आश्रयदाता राजा का यशोगान किया जाता है। तत्पश्चात् कवि इसमें अपने स्वयं एवं अपने परिवार, कुल आदि का वर्णन करता हुआ लौकिक प्रेम के सहारे आलैकिक प्रेम का चित्रण करता है। इसमें साधक को पुरुष व परमात्मा को स्त्री माना जाता है तथ साधक प्रेम के बल पर ही अनेक बाधाओं को पार करता हुआ परमात्मा पर पहुंच जाता है।

37. सूफी काव्य के कथा स्वरूप पर प्रकाश डालिए।

उत्तर हिंदी में प्राप्त सूफी काव्य का कथा स्वरूप रूढ़ हो गया है। अधिकांश प्रेमाख्यान काव्य में नायक और नायिका अपने माता–पिता की इकलौती संतान होते हैं। प्रायः विवाहित नायक–नायिका की सुन्दरता का वर्णन सुनकर विरह में व्याकुल हो उठता है तथा अपने स्वजनों का त्याग कर वह अपने संगी साथी या अकेले ही वेश बदलकर उसको प्राप्त करने के लिए निकल पड़ता है। गुरुजनों के आशीर्वाद से वह समस्त बाधाओं को पार करता हुआ नायिका को प्राप्त करने में सफल रहता है। कुछ प्रेमाख्यानक [illegible] ग्रंथों को सुखांत व कुछ को दुखांत बनाया गया है।

38. प्रेमाख्यानक कवियों की गुरु महिमा पर प्रकाश डालिए।

उत्तर यद्यपि सूफी अथवा प्रेमाख्यान कवियों ने भी संत कवियों की भांति अपने काव्य में गुरू का स्मरण किया है। जहां जहां उन्होंने ईश्वर और खलीफा की स्तुति की है, वहां वहां उन्होंने गुरु की महत्ता को भी स्वीकार किया है, परन्तु यह एक दम स्पष्ट है कि उनकी गुरु भक्ति संत कवियों की गुरु भक्ति के समान उत्कृष्ट नहीं है। उन्होंने गुरु को केवल गुरु ही माना है, भगवान नहीं। सूफी कवियों ने अधिकांश स्थलों पर गुरु के स्थान पर पीर शब्द का प्रयोग किया है। यदि पीर ही उनके काव्य में नायक–नायिका को मार्गदर्शन कराता है तथा उनकी बाधाओं को दूर कराता है।

39. प्रेमाख्यानक काव्य की भाषा शैली पर टिप्पणी कीजिए।

उत्तर प्रेमाख्यानक काव्य की भाषा ठेठ अवधी है। जनता के बीच प्रचलित कथाओं को उन्होंने जनता की ही भाषा में कहा है जिसके कारण उसमें देशज शब्द का खुलकर प्रयोग हुआ है। कुछ एक स्थलों पर अपभ्रंश शब्दों का ही प्रयोग हुआ। सामान्यतः चौपाई और दोहा छन्द में ही रचना लिखी गई है। वैसे तो अनुप्रास, यमक, उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि सभी अलंकारों का प्रयोग हुआ है, परन्तु समासोक्ति अलंकार का प्रभुत्व बना हुआ है।

40. रीतिकाल में लक्षण ग्रंथों के निर्माण की परम्परा पर प्रकाश डालिए।

उत्तर रीतिकाल में अधिकांश कवियों ने लक्षण–ग्रंथों का निर्माण किया है। इनमें भी काव्य विवेचना का आधिपत्य है। लगभग सभी लक्षण ग्रंथकारों ने संस्कृत के लक्षण ग्रंथकार आचार्यों का अनुसरण करते हुए अपनी रचना में काव्य लक्षण का प्रकाश डाला है। परन्तु इसमें गहन चिन्तन व अध्ययन का अभाव स्पष्ट दिखाई देता है, क्योंकि उन्होंने तो केवल संस्कृत के काव्यग्रंथों का अनुवाद मात्र किया है। इसलिए उनके लक्षण ग्रंथों में नवीनता का अभाव है। संस्कृत काव्यशास्त्र में आचार्य व कवि दोनों को अलग–अलग स्थान है, परन्तु रीतिकालीन लक्षण ग्रंथकारों ने पहले काव्य लक्षण लिखकर फिर उसका उदाहरण दे दिया है जिससे आचार्य और कवि का भेद भी समाप्त हो गया है।

41. रीतिकालीन काव्य की श्रृंगारिकता का संक्षिप्त परिचय दीजिए।

उत्तर रीतिकालीन काव्य में श्रृंगार रस की प्रधानता है। इस काल में अधिकांश कवि दरबारी थे तथा उनका काव्य प्रयोजन धन प्राप्ति था और धन उन्हें तभी मिल सकता था जब वे अपने विलासी राजाओं की इच्छानुरूप श्रृंगारपरक रचनाएं लिखते थे। इस प्रकार उनका प्रतिपाद्य अत्यंत सीमित हो गया और वे केवल संयोग और वियोग अवस्थाओं का ही बढ़ा चढ़ा कर वर्णन करने तक सीमित रहे। इस कारण उनका काव्य प्रेम के उच्चतम सोपान तक नहीं पहुंच पाया।

42. रीतिसिद्ध काव्यधारा पर प्रकाश डालिए।

उत्तर इस काव्यधारा के कवियों का मुख्य उद्देश्य काव्य रचना था काव्यशास्त्रीय ज्ञान होते हुए भी वे कवि–लक्षणों की उपेक्षा करते रहे, परन्तु इनके काव्य पर काव्यशास्त्र की छाप स्पष्ट दिखाई देती है। बिहारी, मतिराम, भूपति आदि की सतसइयां इसी वर्ग में आती हैं। यद्यपि इन काव्य रचनाओं का मुख्य विषय श्रृंगार है फिर भी विषय की विविधता देखने में आ जाती है। इन विविध विषयों में भक्ति, नीति, वीर रस आदि को गिना जा सकता है।

43. हिन्दी काव्य में भ्रमरगीत परम्परा का संक्षिप्त परिचय दीजिए।

उत्तर भ्रमरगीत का प्रथम बार उल्लेख 'श्रीमद्भागवात' के दसवें स्कन्ध के सैंतालीसवें अध्याय में श्लोक संख्या बारह से लेकर इक्कीस तक में हुआ है। इसके पश्चात् सूरदास के काव्य में यह उत्कृष्ट रूप में मिलता है। इसके पश्चात् तो अनेक कवियों ने इस परम्परा को अपना और इसी को आधार बनाकर काव्य ग्रन्थों की रचना की। इन कवियों ने नन्ददास का 'भंवरगीत' विशेष रूप से उल्लेखनीय है। अन्य कवियों में मतिराम, पद्माकर, भारतेंदु, सत्यनारायण कविरत्न, हरिऔध, जगन्नाथदास आदि का भी नाम लिया जा सकता है जिन्होंने इस परम्परा के फुटकर पदों की रचना की।

44. रीतिमुक्त काव्यधारा की प्रमुख प्रवृत्ति पर प्रकाश डालिए।

उत्तर रीतिमुक्त कवियों की मुख्य प्रवृत्ति स्वछन्द प्रेम रही है। इसलिए इनके काव्य में भी स्वछन्द और सयत प्रेम का निर्वाह हुआ है। उनमें भाव प्रवण हृदय की सच्ची अनुभूति है। उनमें कहीं भी कृत्रिमता, बनावट या कोई दुराव–छिपान नहीं है। इनके काव्य में वर्णित प्रेम लोक–लाज के भय व परलोक की चिंता से मुक्त है। इनका प्रेम एक सरल मार्ग के समान है। इस काव्यधारा में शारीरिक व मांसल प्रेम की तुलना में आंतरिक प्रेम को अधिक महत्व दिया गया है। अत कहा जा सकता है कि इनका प्रेम शुद्ध हृदय का योग है, बुद्धि के तर्क–वितर्क को स्थान नहीं दिया गया है।

45. रीतिमुक्त काव्यधारा की विरहानुभूति का संक्षेप में परिचय दीजिए।

उत्तर रीतिमुक्त काव्यधारा में व्यथा–प्रधान प्रेम का निर्वाह अधिक हुआ है। विरहजनित पीड़ा ही इनके काव्य का पोषक तत्व है। विरह पीड़ा के वर्णन में कवियों ने अधिक रूचि दिखाई है, क्योंकि वियोग में कवि की दृष्टि अन्तर्मुखी हो जाती है। वियोग की अमिट प्यास उसके हृदय को सदैव प्रेमिका से मिलने के लिए आतुर रखती है। इन कवियों की प्रेम तृष्णा हर रोज बढ़ती ही जाती है। सम्भवतः उनकी इस विरहानुभूति पर सूफी कवियों के प्रेम की पीर का भी प्रभाव पड़ा है। यही कारण है कि उनका प्रेम रहस्यमय सा प्रतीत होता है।

46. भ्रमरगीत की अन्तर्वस्तु का संक्षिप्त परिचय दीजिए।

उत्तर भ्रमरगीत मानव "दय का आकर्षक चित्रफलक है। भ्रमर के माध्यम से इस काव्य में मानवीय हृदय के विभिन्न भावों को अभिव्यक्त किया गया है। इसके साथ साथ इसमें निर्गुण भक्ति की तुलना में सगुण भक्ति का माहत्म्य दिखाया गया है। गोपियों के वियोग वर्णन के माध्यम से प्रेम की महत्ता को भी दर्शाया गया है। अतः कहा जा सकता है कि भ्रमरगीत वियोगिनी नारी की मूक वेदना को मुखरित करने वाला और अद्वैतवाद के स्थान पर अवतारवार को सर्वश्रेष्ठ बताने वाला काव्य है।

47. उलटबांसियों से आप क्या समझते हैं?

उत्तर हिंदी काव्य में उलटबांसी एक ऐसी उक्ति है जो मोटे तौर पर सामान्य लोक प्रचलित धारणा के विपरीत दिखाई पड़ती है। वह अपने स्पष्ट अर्थ में विरोधपूर्ण एवं असम्भव सी प्रतीत होती है। परन्तु वह निरर्थक और बेतुकी न होकर अपने अन्दर एक गूढ़ अर्थ लिए होती है। जन साधारण तक उस गूढ़ बात को पहुंचाने के लिए कवियों ने इस चटपटी शैली को साधन बनाया है। विशेष रूप से संत कवियों ने अपने काव्य में उलटबांसियों का अधिक प्रयोग किया है।

48. सगुण भक्ति काव्य से क्या अभिप्राय है?

उत्तर 'सगुण' शब्द का अभिप्राय है – 'ईश्वरीय गुणों से युक्त'। वास्तव में ईश्वर को निर्गुण माना गया है, परन्तु यहां निर्गुण मोह–माया के तीन गुणों (सत्व, रज और तम) से सम्बन्धित है। इसी प्रकार ईश्वर में ऐश्वर्य, तेज, बल, ज्ञान आदि गुणों का समावेश माना गया है। इन गुणों का पता तभी चलता है जब स्वयं ब्रह्म किसी रूप को धारण कर इन गुणों से सुसज्जित होकर लीला करते हैं। श्रीकृष्ण, राम आदि ऐसे ही रूप के उदाहरण हैं। अतः ब्रह्म द्वारा गुणों सहित अवतार धारण किए रूप की भक्ति करना ही सगुण भक्ति है।

49. राम काव्य परम्परा की समन्वयात्मकता पर प्रकाश डालिए।

उत्तर राम काव्यधारा की एक प्रमुख विशेषता यह रही है कि उसका दृष्टिकोण अत्यंत व्यापक है। यद्यपि इस काव्यधारा में राम की भक्ति व स्तुति को ही महत्व प्रदान किया गया है फिर भी कृष्ण, शिव, गणेश आदि देवताओं की पूजा–अर्चना आदि को भी स्थान दिया गया है। राम काव्य परंपरा के सबसे बड़े कवि और सबसे बड़े भक्त तुलसीदास ने स्वयं अपने रामचरितमानस में राम के द्वारा शिव की पूजा करवाई है। अतः यह कहा जा सकता है कि राम काव्यधारा के कवियों ने भक्ति को सुसाध्य मानकर ज्ञान, भक्ति, कर्म आदि के बीच समन्वय स्थापित किया है।

50. निम्बार्ग सम्प्रदाय का संक्षिप्त परिचय दीजिए।

उत्तर यह सम्प्रदाय कृष्ण भक्ति से सम्बन्ध रखने वाला ब्रजमण्डल का प्रमुख वैष्णव सम्प्रदाय है। माना जाता है कि इस सम्प्रदाय का उपदेश नारद मुनि ने निम्बार्काचार्य को दिया था। निम्बार्काचार्य ने अपने सिद्धांत की स्थापना के लिए पांच ग्रंथों की रचना की। वस्तुतः यह सम्प्रदाय 'द्वैताद्वैतवाद' पर आधारित है। इसमें ईश्वर को सगुण अवतारी श्रीकृष्ण के रूप में स्वीकार किया जाता है। कृष्ण–भक्ति में राधा–कृष्ण का युगल भाव स्वीकृत है। यह सम्प्रदाय दाम्पत्य भक्ति को ही श्रेष्ठ मानता है।

51. राधा वल्लभ सम्प्रदाय का संक्षिप्त परिचय दीजिए।

उत्तर इस सम्प्रदाय की स्थापना आचार्य हित परिवंश गोस्वामी ने सन् 1534 ई. में की थी। इस सम्प्रदाय की प्रमुख विशेषता यह है कि इसमें न तो मुक्ति की कामना है और यह कर्मकाण्ड भक्ति को भी नहीं मानता। इसमें राधा को कृष्ण से भी ऊँचा स्थान देकर उनकी उपासना की जाती है। इस सम्प्रदाय के मन्दिरों में कृष्ण के साथ राधा की मूर्ति नहीं होती, बल्कि श्रीकृष्ण की वामभाग में एक गद्दी होती है जिस पर श्रीराधा लिखा होता है। इसे 'गद्दरी सेवा' भी कहते हैं।

52. चैतन्य या गौड़ीय सम्प्रदाय का संक्षिप्त परिचय दीजिए।

उत्तर इस सम्प्रदाय की स्थापना चैतन्य महाप्रभु ने की थी। यह सम्प्रदाय 'अचिन्त्य भेदाभेदे' सिद्धान्त पर टिका हुआ है। इस सम्प्रदाय का मत है कि ईश्वर, जीव, प्रकृति, काल और कर्म – ये पांच तत्व ईश्वर के विभुचैतन्य, सर्वज्ञ, स्वतन्त्र मुक्तिदाता और विज्ञान रूप को दर्शाते हैं। ईश्वर विमुख होने पर जीव बंधनों में पड़ जाता है। मुक्ति पाने के लिए जीव को भक्ति करनी चाहिए जो कि पांच प्रकार की होती है – शांत, दास्य, सख्य, वात्सल्य और माधुर्य।

53. कृष्ण काव्यधारा में प्रकृति चित्रण पर टिप्पणी कीजिए।

उत्तर कृष्ण भक्तिधारा प्रकृति चित्रण से भरपूर है। चूंकि श्रीकृष्ण की लीलाभूमि ब्रज प्रदेश ही है और वहां प्रकृति सौंदर्य का साम्राज्य है, इसीलिए कृष्ण काव्य में उसका अत्यधिक चित्रण होना स्वाभाविक ही है। वियोग श्रृंगार के वर्णन में प्रकृति का उद्दीपन रूप में चित्रण किया गया है। इसके अतिरिक्त कृष्ण भक्ति कवियों ने उपमान के लिए सबसे अधिक प्रकृति का ही आश्रय लिया है। अतः कहा जा सकता है कि कृष्ण काव्यधारा में प्रकृति के विभिन्न रूपों पर्वत, वन, नदी, कुंज, लता, द्रुम आदि सभी का विधिवत प्रयोग हुआ है।

54. रीतिकालीन काव्य की वीर रस प्रवृत्ति पर प्रकाश डालिए।

उत्तर वैसे तो रीतिकालीन काव्य में लक्षण ग्रंथों और श्रृंगार परक रचनाओं की अधिकता है, परन्तु औरंगजेब की कट्टर असहिष्णुता के कारण इस काल में वीर रस के काव्य की भी रचना की गई। इस प्रवृत्ति के कवियों में भूषण, सूदन, पद्माकर आदि का नाम लिया जा सकता है जिन्होंने अपनी ओजपूर्ण भाषा में औरंगजेब का विरोध करने वाले राजाओं की वीरता का गुणगान किया है। इन वीर रस के कवियों में राष्ट्रीयता का प्रधान स्वर है। नवीन खोजों में वीर रस से ओत–प्रोत और भी रचनाएँ प्रकाश में आयी हैं।

55. रीतिमुक्त कवियों के सौंदर्य चित्रण पर प्रकाश डालिए।

उत्तर यद्यपि रीतिमुक्त कवियों ने अपने पूर्ववर्ती कवियों की रीतिसिद्ध कवियों की भांति अपने काव्य में श्रृंगार और सौंदर्य का चित्रण किया है, परन्तु उसकी विलक्षण्ता यह है कि इन स्वच्छन्द कवियों की दृष्टि बाह्य सौंदर्य की अपेक्षा आंतरिक सौंदर्य पर टिकी है जबकि अन्य कवियों की दृष्टि केवल बाह्य सौंदर्य पर टिकी रही है। अतः उसमें मांसल चित्रण की अधिकता है। घनानंद ने अपनी प्रेमिका सुजान, बोधा ने अपनी प्रेमिका सुभान और आलम ने अपनी प्रेमिका शेख के स्वाभाविक सौंदर्य का चित्रण किया है; उसमें कृत्रिमता नहीं है, वासनापरक दृश्य नहीं हैं। यही रीतिमुक्त कवियों के सौंदर्य चित्रण की विलक्षणता है।

56. रीतिबद्ध काव्य में नारी-चित्रण पर टिप्पणी कीजिए।

उत्तर रीतिबद्ध कवियों के सामने नारी का एक ही रूप था – विलासिनी प्रेमिका का। चूंकि वे दरबारी कवि थे और भोग–विलास में डूबे अपने आश्रयदाता को प्रसन्न करना ही उनके काव्य का अंतिम लक्ष्य था, इसलिए उन्होंने नारी को भोग विलास का एकमात्र उपकरण माना है। नारी के अन्य रूपों जैसे गृहिणी का रूप, माता का रूप, बहिन का रूप, पुत्री का रूप आदि पर उनकी दृष्टि नहीं पड़ी। कुछ एक रीतिबद्ध कवियों ने आराध्या देवी के भी शारीरिक अंगों का वर्णन करने में ही अपना अभिष्ट समझा है। "तजि तीरथ हरि राधिका तन दुति करु अनुराग। अतः कहा जा सकता है कि रीतिबद्ध कवियों की दृष्टि में नारी का महत्व केवल पुरुष की विषय–वासना का साधन बनने तक सीमित है।

57. रीतिकालीन नीतिकाव्य की विशेषताओं पर प्रकाश डालिए।

उत्तर रीतिकालीन नीतिकार कवियों में घाघ, भड्डरी आदि का नाम लिया जा सकता है। सामान्यतः खेती–बाड़ी, शकुन, धर्म–आचार, राजनीति, सामान्य ज्ञान आदि के विषयों पर नीतिपरक काव्य की रचना हुई है। इस काव्यधारा में पद्यात्मक शैली को अपनाया गया है और सूक्तियों का प्रयोग हुआ है। अधिकांश कवियों की भाषा सरल एवं सहज है और वह साहित्यिक रूप लिए हुए हैं। उन्होंने दोहे, कुंडलियाँ आदि छन्दों का सर्वाधिक प्रयोग किया है। अधिकांश काव्य ब्रजभाषा में रचित हैं।

58. रीतिकालीन खड़ी बोली गद्य साहित्य का संक्षिप्त परिचय दीजिए।

उत्तर रीतिकालीन खड़ी बोली का गद्य–साहित्य भी शुद्ध रूप में नहीं है। इसके गद्य साहित्य में दूसरी भाषाओं का मिश्रण देखने में आता है। खड़ी बोली के गद्य साहित्य पर ब्रजभाषा का सर्वाधिक प्रभाव दिखाई देता है। अधिकांश साहित्य अध्यात्मक, दर्शन, वैद्यक, ज्योतिष, इतिहास, भूगोल, गणित आदि विषयों पर आधारित है। ब्रजभाषा से प्रभावित खड़ी बोली के गद्य साहित्य में 'बिहारी सतसई (टीका)', 'जपु टीका' आदि प्रमुख है। ब्रज, पंजाबी, उर्दू आदि मिश्रित खड़ी बोली गद्य साहित्य में फर्सनाम, 'सुरासुर निर्णय' आदि प्रमुख हैं। अधिकांश गद्य साहित्य की भाषा में तत्सम शब्दों की प्रधानता है।

59. रीतिकालीन राजस्थानी गद्य साहित्य पर टिप्पणी कीजिए।

उत्तर रीतिकाल में राजस्थानी गद्य साहित्य का प्रचूर मात्रा में निर्माण हुआ है। अधिकांश गद्य साहित्य वंशावली, पत्र, वात के रूप में है। कुछ एक तुकबंदी में रचित गद्य ग्रंथ भी प्राप्त होते हैं। मुख रूप से वात विधा का राजस्थानी गद्य साहित्य प्रसिद्ध है। 'वात' गद्य साहित्य की प्रमुख रचनाओं में 'सिद्धराज जयरिंह री वात', 'गोरा बादल री वात', 'रावरामसिंह री वात' आदि प्रमुख हैं। इनके अतिरिक्त इस काल में ललित गद्य साहित्य की रचनाएं भी प्राप्त होती हैं और कुछ गद्य साहित्य टीकाओं व अनुवादों के रूप में प्राप्त होता है।

60. रीतिकालीन भोजपुरी एवं अवधी के गद्य साहित्य पर टिप्पणी कीजिए।

उत्तर यद्यपि रीतिकाल में रचित भोजपुरी गद्य साहित्य अधिक मात्रा में प्राप्त नहीं हुआ है। और जो गद्य रचनाएं प्राप्त हुई है। उनमें अवधी मिश्रित भोजपुरी है। ऐसे ग्रंथों में फणीन्द्र मिश्र के 'पंचायत न्यायपत्र' का नाम लिया जा सकता है। इसके अतिरिक्त अवधी भाषा में जो गद्य साहित्य प्राप्त होता है उसमें भी शुद्ध अवधी भाषा का प्रयोग नहीं हुआ है, बल्कि ब्रजभाषा मिश्रित अवधी ही इन गद्य रचनाओं की भाषा है। अवधी की प्रमुख गद्य रचनाओ में रसविनोद, कबीर बीजक आदि का नाम लिया जा सकता है।

61. रीतिकालीन ब्रज-भाषा गद्य साहित्य पर प्रकाश डालिए।

उत्तर रीतिकाल में ब्रजभाषा ही कवियों की प्रमुख भाषा थी और जब गद्य साहित्य का विकास होने लगा तब भी

अनेक लेखकों ने ब्रजभाषा को ही अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया। ब्रजभाषा में रचित अधिकांश गद्य साहित्य वार्ता, टीका, अनुवाद, संवाद, जीवनी, ललित गद्य आदि के रूप में प्राप्त होता है। विशेष रूप से वार्ता गद्य साहित्य अधिक महत्पूर्ण है। इनमें 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता', 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' आदि का नाम उल्लेखनीय है। ललित गद्य में 'भक्ति विवेचन', 'हस्तामलक' आदि प्रमुख रचनाएं हैं। शेष गद्य साहित्य अध्यात्म, गणित, ज्योतिष आदि विषयों पर आधारित है।

62. रीतिकालीन गद्य साहित्य के वैशिष्ट्य पर प्रकाश डालिए।

उत्तर रीतिकालीन गद्य साहित्य को मोटे रूप से तीन भागों में बांटा जा सकता है – मौलिक गद्य रचनाएं, अनूदित गद्य रचनाएं, टीकापरक गद्य रचनाएं। इस काल के समस्त गद्य साहित्य पर ब्रज भाषा का मिश्रण देखने में आता है। सम्पूर्ण गद्य साहित्य में ब्रजभाषा में रचित गद्य साहित्य का आधिक्य है। अधिकांश गद्य रचनाएं धर्म, दर्शन, वैद्यक, ज्योतिष, इतिहास, भूगोल, गणित आदि विषयों पर लिखी गई हैं। ब्रजभाषा में रचित 'वार्ता' गद्य साहित्य तथा राजस्थानी भाषा में रचित 'वात' गद्य साहित्य सम्पूर्ण रीतिकालीन गद्य साहित्य में महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं।